शतपथब्राह्मणस्थ

अग्निचयन-समीक्षा

(शत० काण्ड ६–१०)

लेखक—

प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार

ओ३म्

शतपथ-ब्राह्मणस्थ अग्निचयन-समीक्षा

[शत० ब्रा० काण्ड ६ से १०, तथा यजुर्वेद अ० ११ से १७]

लेखक—

प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार, विद्यामार्तण्ड

प्रकाशक—

रा० ब० चौ० नारायणसिंह प्रतापसिंह, धर्मार्थ ट्रस्ट,

५७ एल, माडल टाउन, करनाल (हरयाणा)

मुद्रक—

शान्तिस्वरूप कपूर

रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस, बहालगढ़ (सोनीपत)
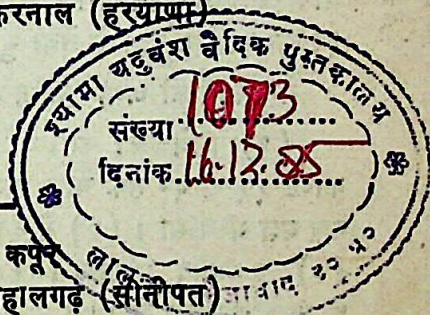
प्रथम संस्करण १००० वि० सं० २०४२ मूल्य—४०-००

पुस्तक प्राप्ति-स्थान—रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा) पिन नं० १३१०२१।

ग्रन्थकार का संक्षिप्त परिचय

तथा

अन्य कृतियां

अथर्ववेद काण्ड ११ से २० तक के ४ खण्डों के भाष्यकार प्रोफेसर विश्वनाथ जी गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध स्नातक हैं। आप विश्वविद्यालय की "विद्यालङ्कार" उपाधि से तथा "विद्यामार्तण्ड', मानोपाधि से सुभूषित हैं। सन् १९१४ के दीक्षान्त समारोह में प्रथम विभाग में सर्वप्रथम रहे। वैदिकसाहित्य, संस्कृत-साहित्य, दर्शन शास्त्र, और रसायन शास्त्र (कैमिस्ट्री) में प्रथम रहने के कारण आप को ४ सुवर्ण-पदक और एक रजक पदक प्राप्त हुए। आप सन् १९१४ में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर पद पर नियुक्त किये गए। गुरुकुल कागड़ी विश्वद्यालय में समय-समय पर आप रसायन, दर्शन शास्त्र, तथा वेद विषय पढ़ाते रहे। और सन् १९४२ मार्च में वहां से सेवा मुक्त हुए।

ग्रन्थकार की अन्य कृतियां;—

(१) सामवेद का आध्यात्मिक भाष्य। (२) अथर्ववेद भाष्य, काण्ड ११ से २० तक चार खण्ड। (३) सन्ध्यारहस्य। (४) वैदिक पशु यज्ञ मीमांसा। (५) वैदिक-जीवन[1]। (६) वैदिक गृहस्थाश्रम। (७) अथर्ववेद परिचय। (८) बाल सत्यार्थप्रकाश। (९) बाल ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका। (१०) यजुर्वेद-स्वाध्याय तथा पशुयज्ञसमीक्षा।

ये सब ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, किन्तु इन में से कतिपय ग्रन्थ पुनर्मुद्रण के अभाव में अप्राप्य हैं।

प्रकाशक

---

१. यह ग्रन्थ ६० वर्ष पश्चात् अब पुनः प्रकाशित होगा।

समर्पण

रा० ब० श्री चौधरी नारायणसिंह जी

जन्म सन् १८८२ निधन १८ अप्रेल १९४८

जिनकी स्मृति में स्थापित

श्री चौ० नारायणसिंह प्रतापसिंह धर्मार्थ ट्रस्ट (करनाल)

द्वारा

वैदिक साहित्य के लेखन और प्रकाशन कार्य में वैदिक विद्वानों की आर्थिक सहायता एवं विविध वैदिक ग्रन्थों के प्रकाशन आदि कार्य किये जाते हैं

की

पुण्य स्मृति में समर्पित

प्रो० विश्वनाथ विद्यालङ्कार

प्रकाशकीय वक्तव्य

श्री पं० विश्वनाथ जी गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के प्रतिष्ठित स्नातक हैं। आप वर्षों तक गुरुकुल में ही वेद विषय पढ़ाते रहे हैं। इस कारण आप आर्यजगत् में वेदोपाध्याय के उपनाम से प्रसिद्ध हैं। आपका वेद का स्वाध्याय तथा चिन्तन जहां गम्भीर है, वहां आप वेदोद्धारक ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित वेदार्थ-प्रक्रिया के अनुगामी हैं।

आर्यसमाज के अनेक विद्वानों की प्रेरणा पर मैंने आपको अथर्ववेद पर भाष्य लिखने की प्रार्थना की। मेरी प्रार्थना को स्वीकार करके आपने अथर्ववेद के २०वें काण्ड पर पहले अध्यात्मपरक व्याख्या लिख करके दी। उसे 'रा०ब०चौ० नारायणसिंह प्रतापसिंह धर्मार्थ ट्रस्ट, करनाल' (हरयाणा) ने 'आर्यसमाज-शताब्दी समारोह' (सन् १९७५) के अवसर पर प्रकाशित किया था। उसके पश्चात् काण्ड १८-१९ का भाष्य सन् १९७७ में, काण्ड १४-१५-१६-१७ का भाष्य सन् १९८१ में तथा 'दयानन्द-निर्वाण-शताब्दी' (अजमेर) के अवसर पर अथर्ववेद के ११-१२-१३वें काण्डों का भाष्य प्रकाशित किया था।

नवीन ग्रन्थ—वेदों की याज्ञिक प्रक्रिया में अग्निचयन याग का विशिष्ट स्थान है। इसमें विविध आकार की बनाई गई इष्टकावों (ईंटों) से वेदि बनाई जाती है। इसकी प्रक्रिया भी बहुत जटिल है। शतपथब्राह्मण के काण्ड ६-१० तक अग्निचयन का वर्णन है। इस प्रकरण में अनेक विचारणीय विषय हैं जिन पर अनेक प्रकार की शङ्काएं की जाती हैं। श्री माननीय पण्डित जी ने मेरे निवेदन पर शतपथब्राह्मण के इस प्रकरण पर चिरकाल अध्ययन और चिन्तन करने के पश्चात् **शतपथब्राह्मणस्थ अग्चियन-समीक्षा** नामक ग्रन्थ लिखा है। निश्चय ही इस ग्रन्थ से यज्ञ-सम्बन्धी अनेक रहस्यों का उद्घाटन होगा।

इस समय माननीय पण्डित जी की आयु लगभग ९५ वर्ष की है, स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रहता है। फिर भी आप वेद के स्वाध्याय, चिन्तन और लेखन कार्य में निरन्तर लगे रहते हैं। 'रा० ब० चौ०

नारायणसिंह प्रतापसिंह धर्मार्थ न्यास को इस बात का गौरव है कि वह श्री पूज्य पण्डित जी के इस नवीन ग्रन्थ को छाप कर विद्वानों के सम्मुख उपस्थित कर रहा है।

रा० ब० चौ० नारायणसिंह प्रतापसिंह धर्मार्थ ट्रस्ट मूकभाव से वैदिक-विद्वानों तथा अनेक ग्रन्थों के प्रकाशन में यथाशक्ति पत्र-पुष्प के रूप में सहायता करता रहा है। ट्रस्ट की ओर से कई ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, जिन में निम्न प्रमुख हैं—

१. **ऋग्वेदभाष्य**—महर्षि दयानन्द सरस्वती कृत संस्कृत-हिन्दी सहित। सम्पादक—युधिष्ठिर मीमांसक। भाग १,२, ३, छप चुके हैं।

२. **उणादिकोष**—महर्षि दयानन्द सरस्वती कृत व्याख्या सहित। सम्पादक—युधिष्ठिर मीमांसक।

३. **यजुर्वेद का स्वाध्याय और पशुयज्ञ-समीक्षा**—श्री पं० विश्वनाथ जी विद्यालङ्कार कृत।

४-७. अथर्ववेद-भाष्य (११-२०)—श्री पं० विश्वनाथ जी विद्यालंकार कृत अध्यात्म-भाष्य। काण्ड ११ से २० तक चार भागों में छप चुका है।

अब यह आठवां ग्रन्थ **'शतपथब्राह्मणस्थ अग्निचयन-समीक्षा'** वेदभक्त स्वाध्याय-प्रेमी आर्यजनों के हाथों में समर्पित किया जा रहा है।

अथर्ववेद के उत्तरार्ध का भाष्य पूरा हो गया है। अब ९-१० काण्डों का भाष्य छपने के लिये प्रेस में दिया जा रहा है।

इन ग्रन्थों के प्रकाशन में वैदिक ग्रन्थों एवं ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों के शुद्ध सुन्दर विविध टिप्पणियों से युक्त संस्करणों के प्रकाशक 'रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़' (सोनीपत-हरयाणा) का विशेष सहयोग रहा है। इसके लिये हम ट्रस्ट के सदस्यों और इसके कार्यकर्त्ता विद्वानों के कृतज्ञ हैं। इस कार्य में आचार्य युधिष्ठिर मीमांसक जी ने विशेष सहयोग दिया है, तदर्थ उनका आभार प्रकट करता हूं।

चैत्र शु० १, सं० २०४२ — प्रकाशक—
२२ मार्च १९८५ — श्री प्रतापसिंह चौधरी
प्रधान—रा० ब० चौ० नारायणसिंह, प्रतापसिंह,
धर्मार्थ ट्रस्ट (करनाल-हरयाणा)

विषय-सूची

भूमिका—

शतपथ-ब्राह्मणस्थ अग्निचयन-समीक्षा—

विशेष—सूचना

अग्निचयन-समीक्षा, के पृष्ठ ७ की टिप्पणी में संख्या (१) के स्थान में संख्या (२); और (२) के स्थान में (१) जाननी चाहिये।

भूमिका (अग्निचयन-समीक्षा)

कां० ६ । अध्याय १ । ब्राह्मण १

कण्डिका १-१५

सृष्ट्युत्पत्ति

"अग्निचयन-समीक्षा" शतपथब्राह्मण, काण्ड ६ से १० में वर्णित "अग्निचयन प्रकरण" पर आश्रित है। "अग्निचयन प्रकरण" यजुर्वेद के ११ से १७ अध्यायों की याज्ञिक व्याख्या है, और शतपथ के रचयिता ने याज्ञिक व्याख्याओं के साथ-साथ निज अयाज्ञिक अभिप्राय भी स्थान-स्थान पर प्रदर्शित किये हैं।

(१)

प्रजापति का स्वरूप—प्रलयकाल में यह जगत् 'असद्' अर्थात् अनभिव्यक्तावस्था में था। इस अवस्था में सृष्टयुत्पत्ति के प्राण बीजरूप में, विद्यमान थे (कंण्डिका १)। इन प्राणों में मध्य अर्थात् केन्द्रिय प्राण था 'इन्द्र'[1]। इन्द्र ने निज ऐन्द्र-शक्ति द्वारा अनभिव्यक्त प्राणों को समिद्ध किया, प्रदीप्त किया (कण्डि० २)। ये प्राण ७ थे, जोकि पुरुषरूप[2] थे। इन सात प्राणपुरुषों को एक-पुरुषरूप में किया गया। नाभि के ऊर्ध्वभाग में दो[3] प्राण-पुरुष थे, नाभि के अधोभाग में भी दो[4] प्राण-पुरुष थे, पार्श्वों में दो प्राण-पुरुष थे, अर्थात् दो[5] पक्ष-पुरुष, और एक था पाद-पुरुष[6]। इन ७ पुरुषों को मिलाकर एक-पुरुष कर दिया (कण्डि० ३)। इन ७ पुरुषों की श्री को शिरोरूप कर दिया (कण्डि० ४)। यह एक-पुरुष प्रजापति हुआ (कण्डि० ५)।

---

१. इन्द्र=परमैश्वर्यवान् ब्रह्म।

२. पुरुषः=पुरि शेते वसति वा, ब्रह्मरूपी पुरी में ये प्राण शयन या वास कर रहे थे।

३. सम्भवतः प्राण-अपान, या फेफड़े-हृदय।

४. लिङ्ग और गुदा ये दो प्राण।

५. अर्थात् दो बाहुएं।

६. टांगों समेत पाद=पाद-पुरुष, जिस पर कि शरीर की प्रतिष्ठा है, स्थिति है। यथा "पादयोः प्रतिष्ठा" (अथर्व० १९।६०।२)।

[यह प्रजापति है परमेश्वर, जिसका कि वर्णन पुरुषरूप में यजुर्वेद अध्याय ३१ में हुआ है। इस अध्याय में "व्यकल्पयन्" (मन्त्र १०), तथा "अकल्पयन्" (मन्त्र १३) द्वारा कल्पनारूप में परमेश्वर-पुरुष के मुख, बाहू, ऊरू, पादौ, नाभि, शिरः,—आदि का वर्णन हुआ है। योगदर्शन में भी परमेश्वर को "पुरुष विशेष" कहा है (१।२४)। इस प्रजापति ने प्रजाओं को पैदा किया (कण्डि० ५)। प्रलयकाल में जो ब्रह्म अर्थात् बृहत्-शक्तिरूप में परमेश्वर विद्यमान था वही प्रजाओं के उत्पादन में प्रजापति कहलाया। यह प्रजापति उत्पन्न प्रजाओं में व्याप्त होकर शयन या वास कर रहा है, अतः यह पुरुष संज्ञक हुआ]।

(२)

त्रयीविद्या की उत्पत्ति—प्रजापति ने पहिले ब्रह्म अर्थात् त्रयीविद्या को उत्पन्न किया (कण्डि० ८)।

[प्रलय में बृहद्-ब्रह्म में त्रयीविद्या अनभिव्यक्तावस्था में थी, सृष्टयुत्पत्तिकाल में वह अभिव्यक्तावस्था में हुई। अभिव्यक्त हुई त्रयीविद्या में निर्दिष्ट प्रक्रिया और क्रम के अनुसार सृष्टि की रचना प्रजापति ने की, और त्रयीविद्या के निर्देशानुसार सृष्टि के पदार्थों के नाम रखे गए,सबके कर्मों का निश्चय किया गया, तथा नाना संस्थाओं का निर्माण हुआ। मनुस्मृति में कहा है कि,—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे]॥

(३)

आपः का सर्जन—आप का सर्जन त्रयीविद्या की वाणी के अनुसार हुआ (कण्डि० ९)। त्रयीविद्या के अनुसार एक अण्डा पैदा हुआ (कण्डि० १०)। इस अण्डे से सृष्टयुत्पादन प्रारम्भ हुआ। वह अण्डा है विराट् अर्थात् "विशेषरूप में प्रदीप्त" अण्डाकृतिक, प्रकृति की विराडवस्था [विराट्=वि+राज् दीप्तौ] यथा—"ततो विराड जायत विराजो अधि पूरुषः। स जातो ऽअत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः"॥ (यजु० ३१।५)।

[आपः द्वारा व्यापक (आप्लृ व्याप्तौ) प्रकृति की विशेषावस्था अभिप्रेत है]।

(४)

अग्नि, अश्व, रासभ, अज की उत्पत्ति—आपः से अग्नि[1], अश्व, रासभ और अज की उत्पत्ति हुई, और इनके पश्चात् पृथिवी की उत्पत्ति हुई (कण्डि० ११)।

[ये उत्पत्तियां एक अण्डे से हुईं। ये अश्व आदि प्राणी नहीं हैं, अपि तु द्युलोकस्थ तारागणों की विशेष आकृतियां हैं। अश्व आदि अण्डज प्राणी नहीं होते, ये जीवित नर-मादा के संयोग से उत्पन्न होते हैं। साथ ही अश्व, रासभ और अज विजातीय हैं, ये एक ही अण्डे से उत्पन्न नहीं हो सकते। इनके लिये भिन्न-भिन्न अण्डे चाहियें यदि ये प्राणी हों। यह भी जानना चाहिये कि कण्डिका में अश्व आदि की उत्पत्ति के पश्चाद् पृथिवी की उत्पत्ति दर्शाई है। विना पृथिवी के अश्व आदि कहां रहे होंगे यदि ये प्राणी हैं। अतः अश्व आदि द्युलोकस्थ तारासमूह ही हैं। आपः से अग्नि की उत्पत्ति दर्शाई है। यह अग्नि न तो पार्थिवाग्नि है, न सौराग्नि, अपि तु वैद्युताग्निरूप है, जैसी कि अग्नि मेघीय जलों तथा जलप्रपातों से उत्पन्न होती है। इसी प्रकार की यह वैद्युताग्नि है जिसकी उत्पत्ति आपः (प्रकृति की द्रवावस्था) से कही है (कण्डि० ११)। विराट्-अवस्था की भी अग्नि वैद्युताग्नि-रूप जाननी चाहिये जोकि विराट्-तत्त्व में चमकती होगी]।

(५)

फेन आदि की उत्पत्ति—आपः से फेन का सर्जन हुआ, फिर मिट्टी, कीचड़ (शुष्कापम्), ऊसर मिट्टी, रेत, कंकर (शर्करा), पत्थर लोहा, सुवर्ण, ओषधियां, वनस्पतियां पैदा हुईं, और इन द्वारा पृथिवी आच्छादित हो गई (कण्डि० १३)।

---

१. "तस्माद्वा ऽएतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यो पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः' ....., आदि में अग्नि से आपः की उत्पत्ति दर्शाई है, परन्तु कण्डि० ११ में आपः से अग्नि की उत्पत्ति कही है। अतः कण्डिका की अग्नि, द्रवावस्था की प्रकृति से उत्पन्न वैद्युताग्नि प्रतीत होती है, जोकि "विराट्" में चमकती हुई द्रवावस्था है, जिसे कि चमकने के कारण आग्नेय भी कह सकते ।

[फेन=पृथिवी की दृढ़ावस्था, तथा आपः की द्रवावस्था की मध्यवर्ती अवस्था। कण्डिका १३ से ज्ञात होता है कि ओषधियां और वनस्पतियां कालान्तर में पृथिवी पर पैदा हुईं। परन्तु इससे पूर्व के काल में अश्व आदि पैदा हुए (कण्डि० ११)। विना ओषधियों और वनस्पतियों के अश्व आदि क्या खाकर जीवित रहे होंगे, यदि अश्व आदि प्राणी हों। अतः कण्डि० १३ से भी सूचित होता है कि ये अश्व आदि प्राणी नहीं, अपितु जड़ हैं, द्युलोकस्थ तारागणों की विशेष आकृतिरूप हैं]।

(६)

अश्व, रासभ, अज, कूर्म, पुरुष, अवि, गौ के द्युलोकस्थ स्वरूपों को संलग्न चित्रपदों में दर्शाया है।

अश्व

अश्व है द्युलोक का सूर्य। इसे चित्रपटों में नहीं दर्शाया। सूर्य सर्वसाधारण को प्रत्यक्ष है[1]।

रासभौ

रासभ के सम्बन्ध में वेदों में कहा है कि "रासभौ-अश्विनोः" (निघं० १।१५), अर्थात् दो अश्वि ताराओं का सम्बन्ध दो-रासभों (गदहों) के साथ है "Popular Hindu Astronomy" के अनुसार दो-अश्वितारे मिथुन-राशिस्थ दो मुख्य तारे हैं। जिन्हें कि "अश्विनौ" तथा "पुनर्वसू कहते हैं। मिथुन-राशि, चित्रपट संख्या (१) में, डिगरी १०० और ११० के मध्य में दर्शाई गई है। इसी प्रकार रासभ हैं दो मुख्य तारे जोकि कर्कराशि में हैं। कर्कराशि चित्रपट संख्या (१) में डिगरी १२० और १४० के मध्य में है। चित्रपट संख्या (१) में "कर्क-

---

१. "एको अश्वो वहति सप्तनामा" (ऋ० १।१६४।२) की व्याख्या में निरुक्तकार अश्व का अर्थ आदित्य कहते हैं। यथा,—"एको अश्वो वहति सप्तनामादित्यः" (निरु० ४।४।२७)। आदित्य है सूर्य। आदित्य की स्थिति है "आकाशगङ्गा" (milky way) में। इस आकाशगङ्गा से आदित्य का उदय होता और इसमें ही वह अस्त होता है। इसलिये कण्डिका ११ में अश्व की उत्पत्ति आपः से दर्शाई है।

राशि" के मध्य में लगभग गोलाकार और कांटों वाला एक धब्बा सा है जिसे कि कर्कट कहते हैं। इसकी आकृति कैंकड़े कीट के सदृश है। संस्कृत में इसे मधुचक्र[२] भी कहा है, अंग्रेजी में इसे Praesepe कहते हैं। कर्क-राशि में तिष्य अर्थात् पुष्य-नक्षत्र की स्थिति है। कर्क-राशि में दो तारे हैं जिन्हें लैटिन में ASELLI और अंग्रेजी भाषा में "The Twine Asses" अर्थात् दो गदहे (रासभौ) कहते हैं। रासभौ के दो तारे मिथुन-राशि के दो मुख्य ताराओं अर्थात् दो अश्वि-ताराओं (अश्विनोः) के पूर्व की ओर उनके समीप में स्थित हैं। काल्पनिक दृष्टि से इसलिये वेद में वर्णन होता है कि कर्कराशि के दो तारे (रासभौ) मिथुन राशिस्थ दो अश्वियों के रथ में जुते हुए हैं। दो अश्वि-ताराओं को अंग्रेजी में Castor और Pollux कहते हैं।

अज

"अज" मकर राशि है। यह राशि शृङ्गी-अज के सदृश है। अज का अर्थ है बकरा। अंग्रेजी भाषा में इसे capricorn अर्थात् शृङ्गी बकरा कहते हैं। (caper=a goat; cornu=a horn)। चित्रपट संख्या (२) में डिगरी ३०० और ३३० के मध्य में मकर राशि के अज-स्वरूप को दर्शाया है। राशि में तारावहुत्व के कारण इसे अजाः भी कहा है। यथा—"अजाः पूष्णः" (निघं० १।१५)। अजाः का सम्बन्ध "पूषा" के साथ क्यों हुआ इसे मूल व्याख्या में स्पष्ट किया है।

कूर्म

'कूर्म' नाम से द्युलोक में कोई तारामण्डल नहीं। कूर्म के पर्यायवाची "कश्यप" नाम से 'काश्यपीय' (cassiopeia) तारामण्डल, चित्रपट संख्या (१) में, डिगरी ४० और ३४० के मध्य में स्थित है। कश्यप=Tortoise (आपटे) अर्थात् कूर्म, कच्छप, कछुआ। इसी प्रकार आधिदैविक पश्वाकृतिओं और आधिभौतिक पशु-पक्षियों में पारस्परिक सादृश्य दर्शाया है।

---

२. कर्कट लगभग चक्राकार है। वर्षा ऋतु में सूर्य कर्कट या कर्कराशि में होता है, और मधुर जल बरसता है। मधु=उदक नाम (निघ० १।१२)। इसलिये इसे मधुचक्र कहा है।

अग्निचयन की विधि के अनुसार वेदि में प्रथम पांच पशुओं के सिरों को आधाररूप में स्थापित किया जाता है। वे पांच पशु हैं,—गावः, अश्वाः, पुरुषाः, अजावयः। इनमें से अश्व और अज के आधिदैविक स्वरूप दर्शा दिये हैं। कूर्म को भी चिना जाता है, इसके भी आधिदैविक स्वरूप को दर्शा दिया है। रासभ, अग्निचयन के लिये, मिट्टी ढोने के काम में आता है। इसका आधिदैविक स्वरूप भी दर्शा दिया है। अवशिष्ट पुरुष, अवि, गौ के स्वरूप, तथा कां० ६।१।२।१-३६ में वर्णित वयांसि और इनसे अतिरिक्त प्रजापति का वर्णन निम्न-रूप है,—

(पुरुष)

चित्रपट संख्या (२) में डिगरी ४० और ६० के मध्य में "विप्र-मुण्ड" अर्थात् विप्र के सिर को दर्शाया गया है। यह पुरुष का सिर मात्र है। सम्भवतः इस सिर के आधार पर वेदि में, पुरुष के केवल सिर की ही स्थापना का विचार याज्ञिकों को हुआ हो। तथा इसकी अनुकृति में अवशिष्ट पशुओं के सिरों की ही स्थापना उचित समझी हो।

(अवि)

अवि का अर्थ है भेड़। मेष अर्थात् मेढा अवि जाति का नर है। चित्रपट संख्या (१) में मेषराशि दर्शाई है। यह मेषराशि अवि की आकृति में डिगरी ३० और ४० के मध्य में दृष्टिगोचर होती है। यह अवि का आधिदैविक स्वरूप है। "अवयः" में वहुवचन अवि अर्थात् मेषराशि के ताराओं के वहुत्व के कारण है।

(गौः)

'गौः' से अभिप्राय बैल का है। इसे वृषभ कहते हैं। आधिदैविक दृष्टि में यह 'वृषभ' राशि है। चित्रपट संख्या (१) में वृषभ राशि डिगरी ४० से ७० के मध्य में दर्शाई है। तारावहुत्व के कारण 'गावः' पद में वहुवचन है। यथा——"तवेमे पञ्च पशवो विभक्ताः गावः, अश्वाः, पुरुषाः, अजावयः" (अथर्व० ११।२।९)।

(वयांसि)

इसी प्रकार कां० ६।१।२।१-३६ के अनुसार प्रजापति ने प्राणि-सृष्टि के सम्बन्ध में कण्डिका(२) में वयांसि अर्थात् पक्षियों की सृष्टि का सर्जन किया,—ऐसा वर्णन हुआ है। इन पक्षियों के भी उपमारूप में नानाविध पक्षी संलग्न चित्रपट संख्या (१, २) में दर्शाए[1] गए हैं। इस द्विविध-साम्य से शतपथकार ने पशु पक्षियों के सम्बन्ध में भी मन्त्रों की द्विविधार्थता को सूचित किया है। द्युलोक के पशु-पक्षियों और पृथिवी तथा अन्तरिक्ष के पशु-पक्षियों में नामों तथा आकृतियों में समानता है।

(प्रजापति)

कां० ६।१।१।५ में प्रजापति की उत्पत्ति का कथन किया है। उसके प्रतिरूप में संलग्न चित्रपट संख्या(१) में "ब्रह्ममण्डल" में "प्रजापति-तारक" नाम से प्रजापति दर्शाया है। "प्रजापतितारक" चित्रपट संख्या (१) में डिगरी ७० से ९० के मध्य में स्थित है।

(७)

श० ब्रा० (६।१।१-१-१५) में पृथिवी और तत्सम्वन्धी घटनाओं का वर्णन हुआ है। अब श० ब्रा० (६।१।२।१-३६) में अन्तरिक्ष आदि और तत्सम्वन्धी घटनाओं का वर्णन होगा। यथा,—

अन्तरिक्ष आदि की उत्पत्ति—प्रजापति, अग्निरूप से पृथिवी के साथ संयुक्त हुआ (संबभूव), उससे अण्डा पैदा हुआ (१)। अण्डे से वायु, वयांसि (पक्षिगण), मरीचियां और अन्तरिक्ष पैदा हुए (२)।

[मरीचियां,—का अभिप्राय है मरु-मरीचिकाएँ, जोकि अतिग्रीष्म में वायु में जल-तरंगों के रूप में दृष्टिगोचर होती हैं। मरु-भूमि जब अतिग्रीष्म हो जाती है तब वहां की वायु की लहरों में जल-तरङ्गों का भान होता है। इन्हें mirage कहते हैं,तथा मृगतृष्णिका भी। तथा निरुक्त के अनुसार चान्द अन्तरिक्षस्थानी है। अतः सम्भवतः मरी-

---

१. यथा—गरुड़, वक, कपोत, सारस, मयूर। इन दो चित्रपटों से भिन्न अन्य चित्रपटों में अन्य भी पक्षी दर्शाए जाते हैं।

चियों द्वारा चान्द्रमरीचियां अभिप्रेत हों, जिन की सत्ता अन्तरिक्ष तक सीमित रहती है]।

द्यौः आदि की उत्पत्ति—प्रजापति वायुरूप से अन्तरिक्ष के साथ संयुक्त हुआ। उससे अण्डा पैदा हुआ। अण्डे से आदित्य पृश्निः-अश्मा, रश्मियां, और द्यौः पैदा हुए (३)।

[पृश्निः-अश्मा = नानावर्णी मेघ। पृश्निः=प्राश्नुत एनं वर्णः (निरुक्त २।१३)। अश्मा मेघनाम (निघं० १।१०)। "आदित्यात् जायते वृष्टिः"। इस प्रमाण द्वारा आदित्य और वृष्टि के परस्पर सम्बन्ध होने से आदित्य और मेघ का पारस्परिक सम्बन्ध कथित हुआ है। वर्षा-ऋतु में मेघ, नानावर्णी हुए, अन्तरिक्ष में विचरते हैं]।

दिशाओं आदि की उत्पत्ति—प्रजापति आदित्यरूप से द्यौः के साथ संयुक्त हुआ। उससे अण्डा पैदा हुआ। अण्डे से चन्द्रमा, नक्षत्र, अवान्तर दिशाएँ, और मुख्य दिशाएँ उत्पन्न हुईं (४)।

['**चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः**' (अथर्व० ५।२४।१०) द्वारा चन्द्र और नक्षत्रों का परस्पर सम्बन्ध कहा है। नक्षत्र चूँकि द्युलोक में स्थित हैं, अतः चन्द्रमा को भी द्युलोकस्थ निर्दिष्ट किया है]।

८ (आठ) वसुओं की उत्पत्ति—प्रजापति मनरूप से वाक् के साथ संयुक्त हुआ। उससे ८ वसु पैदा हुए। उन्हें उसने पृथिवी में स्थापित किया (६)।

[वसु आठ हैं,—'अग्नि-पृथिवी, वायु-अन्तरिक्ष, आदित्य-द्यौः, चन्द्रमा-नक्षत्राणि' (बृहदा० उप० अ० ३। ब्रा० ६। कण्डि० ३)। इनकी स्थिति पृथिवी में है,—यह विचारणीय है। "पृथिवी के निमित्त हैं,—यह भाव सम्भव है। समग्र जगत् प्राणियों के भोग और अपवर्ग के लिये है, और प्राणियों की सत्ता पृथिवी पर है, अतः ८ वसु पृथिवी के निमित्त हैं,—यह अभिप्राय सम्भवतः है। प्रजापति मन अर्थात् मननपूर्वक वाक् अर्थात् त्रयीविद्या के साथ संयुक्त हुआ, और त्रयी-कथित प्रक्रियानुसार प्रजापति ने वसुओं का सर्जन किया]।

११ रुद्रों की उत्पत्ति—प्रजापति मन रूप से वाक् के साथ संयुक्त हुआ। उससे ११ रुद्र पैदा हुए। उन्हें प्रजापति ने अन्तरिक्ष में स्थापित किया (७)।

[११ रुद्र=प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और जीवात्मा। प्राण आदि के कर्म यथा—"प्राण का कर्म है निःश्वास, उच्छ्वास, खांसना आदि। अपान का कर्म=मल, मूत्र का त्याग आदि। व्यान का कर्म=हान, उपादान, चेष्टा आदि। उदान का कर्म=शरीर को उठाए रखना आदि। समान का कर्म=पोषण आदि। नाग का कर्म=डकार आदि। कूर्म का कर्म=चक्षु निमीलन आदि। कृकल का कर्म=क्षुधा। देवदत्त का कर्म=निद्रा आलस्य आदि। धनञ्जय का कर्म है=शोथ आदि (याज्ञवल्क्य अध्याय ६६ से ६९); पातञ्जलयोगप्रदीप, आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर से उद्धृत]।

१२ आदित्यों की उत्पत्ति—प्रजापति मन रूप से वाक् के साथ संयुक्त हुआ। उससे १२ आदित्य पैदा हुए। उन्हें उसने द्युलोक में स्थापित कर दिया (८)।

[१२ आदित्य=१२ महीनें, एक वर्ष में। यह प्रायः अर्थ १२ आदित्यों का किया जाता है। परन्तु अथर्ववेद में १३वें मास का भी वर्णन है। यथा—"अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं, त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते" (१३।३।८)। १२ आदियों का यह अभिप्राय भी सम्भव है कि ७ प्रकार की रश्मियों वाले ७ प्रकार के आदित्य, और मिश्रित रश्मियों वाले शेष ५ प्रकार के आदित्य। द्युलोक में चमकने वाले ग्रहों, उपग्रहों, केतुओं के अतिरिक्त शेष तारागण सब आदित्य हैं, स्वतः प्रकाशमान हैं। ये १२ प्रकार के हैं, वर्णों की दृष्टि से, और इनकी स्थिति भी द्युलोक में है। ७ प्रकार की रश्मियां वर्षा-ऋतु में इन्द्र-धनुष में दृष्टिगोचर होती हैं। ७ प्रकार की रश्मियों की दृष्टि से ७ प्रकार के सूर्यों का भी वर्णन अथर्ववेद में है। यथा—'यस्मिन्त्सूर्या आर्पिताः सप्त साकम्" (१३।३।१०)।

विश्वदेवों की उत्पत्ति—प्रजापति मनरूप से वाक् अर्थात् त्रयी-विद्या से संयुक्त हुआ। उससे 'विश्वान् देवान्' को उसने उत्पन्न किया। उन्हें दिशाओं में स्थापित किया।

विशेषः—गत कण्डिकाओं में भिन्न-भिन्न अण्डों से ब्रह्माण्ड के भिन्न-भिन्न घटकों की उत्पत्ति दर्शाई है। इससे ज्ञात होता है कि शत-

पथब्राह्मण के रचयिता के मत में, किसी एक आग्नेय महापिण्ड के फटने से, एक ही काल में समग्र ब्रह्माण्ड की रचना नहीं हुई।

(८)

अग्निचयन की ५ चितियां

अग्निचयन में अग्नि की स्थापना के लिये जो आधार या कुण्ड निर्मित किया जाता है, उसके ५ चयन अर्थात् ५ तहें या स्तर (layers) होते हैं (६।१।२।१७)। इसलिये अग्निचयन की अग्नि को "पञ्चचितिकोऽग्निः" कहा है (श० ब्रा० ६।५।१।१२)। ये ५ चितियां शारीरिक ५ घटकों अर्थात् लोम, त्वक्, मांस, अस्थि और मज्जा रूपी ५ चितियों के प्रतिरूप हैं (६।१।२।१७)।

पञ्चविध इष्टकाएँ

यह पृथिवी पहली मृन्मयी इष्टका है, इस पृथिवी पर जो कुच्छ मृन्मय वस्तु स्थापित की जाती है वह मिलकर एक-इष्टका हो है। जो पशुओं के सिर इस पर रखे जाते हैं वह पशु-इष्टका है। इस पर जो स्वर्ण और पुरुष रखा जाता है, और जो स्वर्ण के टुकड़े सींचे अर्थात् रखे जाते हैं वह हिरण्य-इष्टका है। जो दो स्रुच् और ऊखल-मुसल, तथा समिधाएँ रखी जाती हैं वह वानस्पत्य-इष्टका है। इस पर जो कमल-पत्ता, कूर्म (कछुआ), दधि, मधु, घृत तथा अन्न रखा जाता है वह अन्न-इष्टका पांचवीं इष्टका हैं (६।१।२।३०)। इस प्रकार अग्निचयन में ५ इष्टकाएँ होती हैं।

अग्निचयन का यह स्वरूप, कट्टर-पन्थी याज्ञिकों को अभिमत है। इष्टका का अर्थ है, ईंट। ये यजमान के इष्ट का सम्पादन करती हैं अतः इन्हें इष्टका कहा है। इष्टं कुर्वन्तीति "इष्टका" इष्ट+का (कृञ् करणे+टाप्)।

(६)

पांचपशु और उनमें विकल्प, तथा उनके आधिदैविक-स्वरूप

प्रथम विकल्प

कति पशवो ऽग्ना ऽउपधीयन्ते ऽइति, पञ्चन्त्वेव ब्रूयात्, पञ्च ह्येतान् पशूनुप दधाति ॥३२॥

प्रश्न है कि अग्निचयन में कितने पशु (पशुओं के सिर) रखे जाते हैं। उत्तर में कहे कि पांच[1]। क्योंकि इन पांच पशुओं को अग्निचयन में रखता है [यह कट्टर-पन्थी याज्ञिकों का मत है]।

विकल्प (द्वितीय)

अथो ऽएक इति ब्रूयात्, 'अविः' इति ॥३३॥ अर्थात् उत्तर दे कि एक पशु, अर्थात् अवि (भेड़)।

अथो द्वाविति ब्रूयात्, 'अवो' इति ॥३४॥ या उत्तर दे कि दो अवियां (भेड़े)।

अथो गौरिति ब्रूयात् ॥३५॥ या उत्तर दे कि गौ।

[इस उत्तर में एक अवि, या दो अवियों, या एक गौ को अग्नि-चयन के लिये पर्याप्त समझा गया है। यज्ञार्थ पशुओं की संख्या में क्रमिक न्यूनता, पशुहिंसा को न्यूनतम करने की प्रवृत्ति को सूचित करती हैं]।

अवि, अवी और गौ के आधिदैविकस्वरूप

इयं वा ऽअविः, इयꣳ हीमाः सर्वाः प्रजाऽअवति ॥३३॥

यह पृथिवी निश्चय से अवि है, यह इन सब प्रजाओं की रक्षा करती है (अविः=अव रक्षणे]।

अवीऽ [दो अवियां] इतीयं चासौ चेमे हीमाः सर्वाः प्रजा ऽअवतः ॥३४॥

दो अवियां हैं, यह पृथिवी और वह द्यौः। ये दोनों सब प्रजाओं की रक्षा करती हैं।

इमे वै लोका गौः। यद्धि किं च गच्छतीमांस्तल्लोकान् गच्छति ॥३५॥

ये लोक गौ हैं। जो कोई वस्तु गति करती है वह इन लोकों को ही जाती है [गौः=गच्छति; गम्लृ गतौ]।

---

१. पांच पशु=पुरुष, अश्व, गौ, अज (बकरा), अवि (भेड़)। यथा—'तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गाव अश्वाः पुरुषा अजावयः" (अथर्व० ११।२।९)।

विकल्प (तृतीय)
(श० ब्रा० काण्ड ६।२।१।१-३९)

तद्धैके। इत्येवैतानि पशुशीर्षाणि वित्त्वोपदधाति, उभयेनैते पशव ऽइति ॥३७॥

कई याज्ञिक जिस किसी प्रकार से पशुओं के इन सिरों को प्राप्त कर वेदि में स्थापित करते हैं, क्योंकि दोनों प्रकार से, ये हैं तो पशु ही।

[चाहे स्वयं पशुओं के सिरों को काट कर सिर प्राप्त कर लो, या खरीद लो या मांग लो, इन दोनों प्रकार से ये पशुओं के सिर ही तो हैं। खरीदने या मांगने से यजमान स्वयं पशुहिंसा से मुक्त रहता है]।

हिरण्मयान्यु हैके कुर्वन्ति ॥३८॥

कई याज्ञिक सुवर्णनिर्मित सिरों की प्राप्ति करते हैं।

[इस विधि से भी यजमान पशुहिंसा से मुक्त रहता है]।

मृन्मयान्यु हैके कुर्वन्ति ॥३९॥

कई याज्ञिक पशुओं के सिर मिट्टी के कर लेते हैं।

[इस प्रकार पशुओं के सिरों के सम्बन्ध में मतभेद है। इस से ज्ञात होता है कि शतपथ के रचयिता के समय में ही हिंसा और अहिंसा की दृष्टि से याज्ञिकों में विवाद विद्यमान था]।

विकल्प (चतुर्थ)

अथैतर्हीमौ द्वावेवालभ्येते प्राजापत्यश्च वायव्यश्च ॥३९॥

अब इस समय इन दो का ही आलम्भन किया जाता है, प्रजापति-देवताक [अज अर्थात् बकरे का], और वायुदेवताक [अज का]।

[कण्डिका (३९) द्वारा अग्निचयन का व्याख्याता कहता है कि उसके समय में केवल 'अज' का आलम्भन किया जाता है। इससे प्रतीत होता है कि याज्ञिक-इतिकर्तव्यता निश्चित और स्थिर न समझनी चाहिये, समयानुसार वह बदली भी जा सकती है। पांच पशुओं में से केवल एक-पशु अज को ही अग्निचयन के लिये नियत किया है, और इसमें भी मतभेद है कि यह अज किस प्रकार का होना चाहिये]। यथा—

प्राजापत्यं चरका आलभन्ते (६।२।२।१)। श्यामो भवति, तूपरो भवति (६।२।२।२)।

चरक सम्प्रदायी प्राजापत्य 'अज' का आलम्भन करते हैं। यह 'अज' श्यामवर्ण का होता है, तथा सींगों के विना।

अथैतं वायवे नियुत्वते। शुक्लं तूपरमालभते (६।२।२।१६)।

और नियुत्वत् वायु के लिये शुक्ल और विना सींगों के 'अज' का आलम्भन करता है। यह 'अज' "लप्सुदी" अर्थात् दाढ़ी वाला होता है (६।२।२।६)।

[अग्निचयन के लिये, पशुसंख्या में क्रमिक ह्रास निम्नप्रकार से होता गया है, (१) पांचपशु, (२) एक अवि या दो अवियां, (३) एक गौ, (४) केवल 'अज'[1]। 'अज' या श्याम, या शुक्ल। यह 'अज' वस्तुतः ३ या ७ वर्षों का पुराना व्रीहि अर्थात् धान है, इसके लिये देखो परिशिष्ट संख्या (२)। ऐसे व्रीहि को 'अज' कहते हैं, क्योंकि इतने पुराने व्रीहि में अङ्कुरोत्पादन की शक्ति नहीं रहती। अज= अ (न)+ज (पैदा होना)। बहुत पुराने व्रीहि का छिलका काला पड़ जाता है, परन्तु छिलके के मध्य का दाना शुक्ल होता है। चरक-सम्प्रदाय के याज्ञिक सम्भवतः छिलके वाले श्याम व्रीहि द्वारा अग्नि-चयन की विधि समाप्त करने के पक्ष में हों, और तद्भिन्न याज्ञिक केवल तण्डुल द्वारा जोकि शुक्ल होता है अग्निचयन कि विधि समाप्त करने के पक्ष में हों]।

"तूपर-लप्सुदी-अज" में पांचों पशुओं की सत्ता (श० ६।२।२।१५)

"लप्सुदी-अज," जो तूपर अर्थात् शृङ्गरहित, और दाढ़ी वाला है, वह पुरुष का रूप है, शृङ्गरहित तथा दाढ़ी वाला पुरुष होता है। जो शृङ्गरहित (तूपर) और गर्दन पर वालों वाला (केसरवान्) है, वह

---

१. तथा विकल्प (तृतीय) के अनुसार, कहीं से भी प्राप्त पशु-सिरों, या सुवर्णनिर्मित तथा मिट्टी निर्मित सिरों के प्रयोग का भी निर्देश मिलता है। इन सब विकल्पों की दृष्टि से, याज्ञिकों में, पशु-हिंसा के सम्बन्ध में क्रमिक अरुचि प्रतीत होती है। यह अरुचि "यावदस्य वशः स्यात्" (श० ब्रा० ६।२।१।३९)। इस लेख द्वारा भी द्योतित होती है।

अश्व का रूप है,शृङ्गरहित तथा गर्दन पर बालों वाला अश्व होता है। जो यह ८ खुरों वाला है, वह गौ का रूप है, आठ खुरों वाला बैल होता है [प्रत्येक खुर दो भागों वाला होता है, अतः ४ खुर=८ खुर] (६।२।२।१५)।

तथा इस लप्सुदी-अज के जो अवि (भेड़) के सदृश खुर हैं, वह अवि का रूप है। चूंकि यह अज है, इसलिये इसमें अज का रूप तो हैं ही। अतः जोकि लप्सुदी-अज का आलम्भन करता है उस द्वारा ही इस यजमान के सब पशुओं का आलम्भन हो जाता है। अतः जिस प्रकार यजमान का यज्ञकर्म सम्पन्न हो जाय, तदनुसार चाहे तो पांच पशुओं का, या एक प्राजापत्य-अज का, अथवा एक नियुत्वतीय-तूपर-लप्सुदी अज का आलम्भन करे।

[इस उद्धरण द्वारा ज्ञात होता है कि याज्ञिकों के पशुहिंसा-सम्बन्धी विचारों में पर्याप्त परिवर्त्तन हो गया था]।

(काण्ड ७।५।२।२१)

रहस्यमयी भाषा में यज्ञिय हिंसा का निषेध

यो ऽअग्निरग्नेरजनिष्ट शोकात्पृथिव्या ऽउत वा दिवस्परि।
येन प्रजा विश्वकर्मा जजान तमग्ने हेडः परि ते वृणक्तु॥
(यजु० १३।४५)

इस मन्त्र की व्याख्या के सम्बन्ध में शतपथ के रचयिता ने "येन प्रजा विश्वकर्मा जजान" में "येन" पद द्वारा "अज" का ग्रहण करते हुए लिखा है कि "वाग् वा ऽअजो वाचो वै प्रजा विश्वकर्मा जजान", (श० ७।५।२।२१) अर्थात् "अज" है वस्तुतः वाक् [वेदवाणी], वाक् से वस्तुतः प्रजा को विश्वकर्मा [विश्व के कर्त्ता प्रजापति] ने पैदा किया है।

यहां विचारणीय यह है कि समग्र मन्त्र में "अज" शब्द का प्रयोग नहीं। मन्त्र में केवल अग्नि का वर्णन है। शतपथ के अनुसार "अज" का देवता अग्नि है। यथा—"आग्नेयमजम्" (श० ६।२।१।५)। इस लिये सम्भवतः अग्निपद द्वारा "अज" का ग्रहण किया हो।

परन्तु "येन" पद का अर्थ शतपथ में "वाक्" [वेदवाक्] किया

है। "येन" पद सर्वनाम है; इसलिये इस द्वारा उसी का परामर्श होना चाहिये, जिसका कि वर्णन मन्त्र के प्रथमार्ध में हुआ है। इस दृष्टि से मन्त्र के पूर्वार्ध में अग्नि पद द्वारा गृहीत "अज" भी "वाक्" ही होना चाहिये न कि बकरा। यह तथ्य शतपथकार ने स्वीकार किया प्रतीत होता है।

शतपथ के काल में केवल "अज" की मांसाहुति द्वारा ही अग्निचयन की पूर्णता समझी जाती थी। जैसे कि कहा है कि "एतर्ह्योमौ द्वावेवालभ्येते प्राजापत्यश्च वायव्यश्च [अजः]" (श० ६।२।१।३९; तथा श० ६।२।१।१-७)। परन्तु शतपथकार ने इससे भी अपनी असहमति प्रकट कर "अज" को वाक् कहा है। अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि शतपथकार यह कहना चाहता है कि पशुहिंसा तथा पशु-आहुति के लिये वेदवाक् को देखो जिसमें कि बार-बार "मा हिंसीः" पद पठित हैं (यजु० १३।४२ से ५१), जिनका आश्रय लेकर अग्निचयन में पुरुष, अश्व, गौ, अज और अवि की हिंसा करते हैं। शतपथकार ने पूर्व प्रचलित याज्ञिक व्याख्याओं का प्रथम निर्देश कर, साथ-साथ स्वाभिमत उनके अयाज्ञिक अभिप्राय भी यत्र-तत्र दर्शाए हैं।

"अग्नि" पद द्वारा "अज" का निर्देश कर, और "अजं" द्वारा वाक् का निर्देश कर,शतपथकार के अनुसार मन्त्र का अर्थ निम्नलिखित है,—

जो अग्नि अर्थात् वेदवाक् ज्योतिर्मय अग्निनामक प्रजापति से पैदा हुई, तथा जिसमें कि पृथिवी से लेकर द्युलोक के वर्णनों का प्रकाश है; और जिस वेदवाक् में कथित प्रक्रम से विश्व के कर्त्ता प्रजापति ने प्रजा को उत्पन्न किया है,उस अज अर्थात् वेदवाक् या वेद का हे अग्निचयन की अग्नि! तू अनादर न कर (हेड् अनादरे)। "मा हिंसीः" के प्रयोगों के होते हुए भी हिंसा करना वेदाज्ञा का अनादर करना ही है।

एक प्राजापत्य अज, या एक नियुत्वतीय तूपर लप्सुदी अजं को भी,वाक्रूप कहकर,मन्त्र द्वारा उसकी हिंसा का भी निषेध कियाहै।

(१०)

उखा निर्माण और अग्नि

उखा लगभग ९ इंच ऊंची और ९ इंच चौड़ी अङ्गीठी[1] होती है

---

१. एक-पशु पक्ष में अंगीठी (उखा) का यह परिमाण है। पञ्चपशु पक्ष

(६।५।२।१०)। इसमें अग्नि को प्रदीप्त कर उसका प्रयोग अग्निचयन के यज्ञ में किया जाता है। याज्ञिक अभ्रि, काष्ठनिर्मित नोकीली कुदाली होती है, जिस द्वारा मिट्टी खोदकर, उसे रासभ पर लादकर, यज्ञस्थल में लाया जाता है, जिससे कि उखा और अग्निचयन के आधार या कुण्ड का निर्माण किया जाता है।

आधिदैविक दृष्टि में उखा को त्रिलोकीरूप कहा है (श० ब्रा० ६।५।२।२२)। तथा आध्यात्मिक दृष्टि में उखा को "आत्मा" कहा है (६।५।३।४)। इसी प्रकार अभ्रि को वाक् भी कहा है, जोकि त्रिविध वेदवाणी है, अर्थात् ऋचः, यजूंषि, सामानि (६।५।३।४), तथा (६।४।२।५; ६।३।६।३३,३४)। इस वाक् को हस्तगत करके "हस्त आदाय" (यजु० ११।१०), और आग्नेय ज्योति अर्थात् प्रकाशमयी ब्रह्ममयी-ज्योति का स्थान निश्चित करके "निचाय्य" (यजु० ११।११), पार्थिव शरीर से "पृथिव्या अधि" (यजु० ११।११) योगी इस ब्रह्ममयी ज्योति को प्राप्त करता है "आभरत्" (यजु० ११।११)। अभ्रि को "हिरण्ययी" (यजु० ११।११) कहा है। मिट्टी खोदने वाली अभ्रि अर्थात् कुद्दाली हिरण्ययी नहीं होती। अतः वेदवाक्, अभ्रि द्वारा अभिप्रेत है। वेदवाक् हितकर-रमणीय उपदेशों का कथन करती है अतः हिरण्ययी है। "हिरण्यम्, हितरमणं भवतीति वा, हृदयरमणं भवतीति वा" (निरुक्त २।३।१०)। अथवा वेदवाक्, हिरण्यमय-आदित्य में अधिष्ठातृरूप में स्थित, ब्रह्म का वर्णन करती है अतः हिरण्ययी है।

(११)

रुक्म पुरुष में प्राणप्रतिष्ठा और मूर्तिपूजा का अंकुर

रुक्म प्रतिनिधि है आदित्य का, और रुक्मपुरुष प्रतिनिधि है आदित्यस्थ पुरुष का, जिसे कि "ओ३म् खं ब्रह्म[1]" कहा है। यथा—"अथ रुक्ममुपदधाति। असौ वा ऽआदित्य ऽएष रुक्मः" (श० ७।४।१।१०)। "अथ पुरुषमुपदधाति। स प्रजापतिः सो ऽग्निः स यजमानः

में अंगीठी का परिमाण इससे ५ गुणा होता है।

१. "यो ऽसावादित्ये पुरुषः सो ऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म" (यजु० ४०।१७)।

स हिरण्मयो भवति (श० ८।४।१।१५)। "**तं रुक्म ऽउपदधाति। असौ वा ऽआदित्य ऽएष रुक्म ऽथ य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः स एष, तमेवैतदुपदधाति**" (श० ७।४।१।१७)॥

अर्थात् अग्निचयन प्रथमचिति अर्थात् पहली तह में रुक्म अर्थात् सुवर्ण के आभूषण को स्थापित करता है। यह रुक्म वह आदित्य ही है। अब इस रुक्म पर रुक्मपुरुप को [सुवर्णपुरुष को] स्थापित करता है। वह प्रजापति है, वह अग्नि है, वह यजमान है, वह हिरण्यमय होता है। उसे रुक्म पर स्थापित करता है। रुक्म है वह आदित्य, और यह जो इस आदित्य मण्डल में पुरुष है वह यह है [सुवर्ण का बना पुरुष]।

इस प्रकार "रुक्म और हिरण्मय-पुरुष" प्रतिनिधि हैं आदित्य के आदित्यस्थ-पुरुष के। यह आदित्यस्थ परमपुरुष या ओ३म् खं ब्रह्म, आदित्यस्थ होकर सौरमण्डल का नियमन कर रहा है। अब ओ३म् खं-ब्रह्मरूपी पुरुष के प्रतिनिधिरूप हिरण्मयपुरुष का, जिसे कि वेदि में चिना है,—उपस्थान अर्थात् स्तुति आदि करता है, और उस में प्राणप्रतिष्ठा करता है, "**प्राणो वा अस्य सा रम्य तनूः प्राणमेव अस्मिन्नेतं मध्यतो दधाति**" (श० ७।४।१।१६), अर्थात् इस रुक्मपुरुष प्रजापति की वह रमणीया तनू है, प्राण। इस लिये उसप्राण को इस प्रजापति में अर्थात् सुवर्णनिर्मित पुरुष में यजमान स्थापित करता है। यह हुई प्राणप्रतिष्ठा। सुवर्ण निर्मित पुरुष का स्थापन तथा उपस्थान अर्थात् स्तुति आदि, निम्न मन्त्रों द्वारा यजमान करता है। "**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम**" (श० ७।४।१।१९; यजु० १३।४)। "**द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः। समानं योनिमन सं चरन्तं द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः**" (श० ७।४।१।२०); यजु० १३।५)। इन दो मन्त्रों द्वारा सुवर्णपुरुष को प्रथमचिति में स्थापित करता है। (श० ७।४।१।२१)

सुवर्णपुरुष को स्थापित कर सामगान करता है। इस सामगान द्वारा सुवर्णपुरुष में वीर्य अर्थात् शक्ति स्थापित करता है। यथा-"**अथ साम गायति**" (श० ७।४।१।२२)। "**पुरुषे गायति पुरुषे तद्वीर्य-**

दधाति" (श० ७।४।१।२४) अर्थात् सामगान द्वारा सुवर्णपुरुष को लक्ष्य करके गान करता है, इससे "पुरुषे तद्वीर्यं दधाति" (श० ७।४। १।२४)। सुवर्णपुरुष में वीर्य अर्थात् शक्ति स्थापित करता है। "अथ सर्पनामैरुपतिष्ठते" (श० ७।४।१।२५), "त्रिभिरुपतिष्ठते[२]" सर्पनाम वाली ३ ऋचाओं द्वारा सुवर्णपुरुष का उपस्थान करता है। ये ऋचाएँ हैं (यजु० १३।६-८)। तत्पश्चात् "अथैनमुपविश्याभि जुहोति," "आज्येन पञ्चगृहीतेन," "अन्नेन प्रीणाति" (७।४।१।३२), अब बैठ कर इस सुवर्णपुरुष पर घी की ५ आहुतियां देता है, इस प्रकार उसे अन्न द्वारा प्रसन्न करता है। यह अन्न नैवेद्यरूप है।

इस सन्दर्भ के लिखने का यह प्रयोजन है कि यह दर्शाया जा सके कि शतपथब्राह्मण के काल से एक प्रकार से मूर्त्तिपूजा का प्रारम्भ हो चुका था। क्योंकि सुवर्णपुरुष जोकि प्रजापति परमेश्वर का रूप है, उसकी स्तुति, उस पर आज्याहुतियां, तथा इन आज्याहुतियों द्वारा उस पर अन्न चढ़ा कर उसे प्रसन्न करने का वर्णन मूर्त्तिपूजारूप प्रतीत होता है। इस सुवर्णमय पुरुष की स्थापना का मन्दिर, अग्निचयन-कुण्डरूप है। यह भावना यजुर्वेद की मन्त्र भावनाओं के विपरीत है। जो मन्त्र इस सम्बन्ध में पढ़े जाते हैं उनमें इन विचारों का लेशमात्र भी नहीं। अतः सुवर्णपुरुष सम्बन्धी ये कर्म अवैदिक हैं।

सुवर्णपुरुष या रुक्मपुरुष के सम्वन्ध में विनियुक्त मन्त्रों के अर्थ निम्नलिखित हैं:—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
(यजु० १३।४)

हिरण्य अर्थात् ज्योतिर्मय यह ब्रह्माण्ड जिसके गर्भ में था या है ऐसा प्रजापति प्रारम्भ में प्रकट हुआ या होता हैं (जातः) प्रसिद्धि में आ कर वह भूतभौतिक जगत् का अकेला एकमात्र पति था या है। वह धारण कर रहा है पृथिवी और द्युलोक का। उस प्रजापति के लिये हम हविः द्वारा परिचर्या करें।

---

२. सर्पनाम ऋचाएं (यजु० १३।६, ७, ८)। इन ऋचाओं में "सर्पेभ्यः" पद पठित हैं, अतः इन्हें सर्पनाम ऋचाएं कहा है।

[कस्मै=प्रजापतिर्वै कः (श० ७।४।१।१९)। विधेम परिचरण-कर्मा (निघं० ३।५)]।

द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः।
समानं योनिमनु संचरन्तं द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः॥

(यजु० १३।५)

(द्रप्सः) आदित्य सदृश स्वप्रकाशमान परमेश्वर (पृथिवीं द्याम् अनु) पृथिवी और द्युलोक में निरन्तर (चस्कन्द) गति कर रहा है, विचर रहा है। (इमं च योनिम् यः च पूर्वः) वर्तमान सृष्टि की कारणभूत योनि अर्थात् प्रकृति में, तथा पूर्व सृष्टियों की कारणभूत योनि अर्थात् प्रकृति में वह स्वप्रकाशमान परमेश्वर (अनु) निरन्तर (चस्कन्द) विचरता है। (समानं योनिम्) एक ही प्रकृतिरूप योनि में (अनु) निरन्तर (सं चरन्तम्) विचरते हुए (द्रप्सम्) स्वप्रकाशमान परमेश्वर को, (अनु) निरन्तर, (सप्त होत्राः[1] अनु) सात छन्दोमयी वेद वाणियों के अनुसार (जुहोमि[2]) मैं आहुति देता हूं, या अपने-आप को आहुतिरूप में समर्पित करता हूं।

[स्वप्रकाशमान परमेश्वर वर्तमान पृथिवी और द्युलोक में, तथा उपादान प्रकृति में विचर रहा है। "द्रप्सः=असौ वा ऽआदित्यः द्रप्सः" (श० ७।४।१।२०)]।

(१२)

आलम्भनीय पांच[3] पशुओं के स्वरूपों का पुनर्निरीक्षण

भूमिका संख्या (६) में वर्णित पशु, द्युलोक के तारामण्डल हैं,

---

१. होत्रा=वाक् (निघं० १।१२)। अतः सप्तहोत्राः=सप्तछन्दों वाली सप्तविध वाक् अर्थात् मन्त्र। इन्हें सात परिधियां भी कहा है। यथा—'सप्तास्यासन् परिधयः" (यजु० ३१।१५)। सप्त परिधयः=सात गायत्री आदि छन्द (महर्षि दयानन्द)।

२. मन्त्रों में "हविषा विधेम" तथा "जुहोमि" पदों में आहुति देने का तो विधान है। यह विधान परमेश्वर के प्रति आहुति देने का है न कि कृत्रिम रुक्म पुरुष के प्रति।

३. सम्भवतः पंचपशुरूपी वाक् का अभिप्राय हो वह वाक् या मन्त्र, जिन में पंचपशुओं का वर्णन हुआ है। वे मन्त्र हैं, यजुर्वेद १३।४१-४५; तथा ४७-५१)। इन मन्त्रों में "मा हिंसीः" पदों द्वारा पंचपशुओं के वध का निषेध

ये केवल काल्पनिक आकृतिरूप हैं, अप्राणी हैं। इनका वर्णन वसुओं, रुद्रों, आदित्यों और विश्वदेवों के साथ-साथ किया गया है जोकि द्युलोकस्थ है। इसलिये ये पशु भी द्युलोकस्थ अप्राणी ही हैं।

परन्तु "याज्ञिक अग्निचयन प्रकरण" में वर्णित पांच पशु, अर्थात् पुरुष, अश्व, गौ, अज और अवि प्राणी हैं। याज्ञिक लोग इनका वध कर, वेदि में अग्निचयन की आधारशिला के रूप में इनके सिरों की स्थापना करते हैं (६।१।२।३०)।

शतपथ की रचना से पूर्वकाल के कई याज्ञिक स्वयं हत्या न कर, इन पशुओं के सिरों को यथाकथा प्राप्त कर, या सुवर्ण और मिट्टी से इन्हें निर्मित कर, वेदि में स्थापित करते थे (भूमिका संख्या ८)। यह अहिंसामयी प्रवृत्ति, हिंसा की प्रतिक्रियारूप थी।

अहिंसामयी प्रवृत्ति शतपथ के काल में एक दूसरे रूप में भी प्रकट हुई। लप्सुदी अज के स्वरूप में पुरुष, अश्व, गौ, और अवि को देखना प्रारम्भ हुआ, और केवल "एक-अज" द्वारा ही अग्निचयन की विधि को सम्पूर्ण हुआ समझा गया (६।२।२।१५)।

परन्तु इस "एक-अज" की व्याख्या में शतपथ ने कहा हैं कि यह "अज" है,—वाक्। यथा—"वाक् वा अजो वाचो वै प्रजा विश्वकर्मा जजान" (७।५।२।२१)। यह वचन, यजुर्वेद १३।४५ की व्याख्या प्रसङ्ग में, शतपथ में उक्त हुआ है। आचार्य महीधर ने भी इस मन्त्र की व्याख्या में "अज" का अर्थ वाक् ही किया है। पुरुष आदि चार का अन्तर्भाव हुआ "लप्सुदी अज" में, और "अज" की व्याख्या में कहा कि "अज" है वाक् अर्थात् वेदवाक्। इससे पांच पशुओं के स्वरूप भी वेदवाक् रूप हो जाते हैं। इस प्रकार पशुहिंसा का सवथा निषेध द्योतित होता है।

तथा आलम्भनीय पांच पशुओं के स्वरूपों के वर्णन में कहा है कि पुरुष = अनद्धापुरुष, अवास्तविक, कृत्रिम पुरुष (६।३।१।२४)। गौः = इमे लोकाः (६।१।२।३५)। अश्व = सूर्य (६।१।१।११)। अज =

किया गया है। अतः एक प्रकार से शतपथ के रचयिता ने यह सूचना दी है कि पशुहिंसा के सम्बन्ध में यजुर्वेद के मन्त्र देखो जिनमें कि हिंसा का निषेध बार-बार किया गया है।

वाक् (७।५।२।२१)। अवि=पृथिवी (६।१।२।३३)। अतः अग्नि-चयन के पांच प्राणी पशुओं के सम्बन्ध में, शतपथ के रचयिता की दृष्टि में वे पांच यज्ञिय-पशु प्राणिपशु नहीं, अपितु वे आधिदैविक-तत्त्व स्वरूप है। प्रतीत होता है कि शतपथ के रचयिता ने याज्ञिक सम्प्रदाय के अनुसार याज्ञिक पक्षों को दर्शा कर, स्वाभिमत उनके अयाज्ञिक स्वरूप शतपथ में दर्शाए हैं। इस प्रकार के सत्यस्वरूप 'अयाज्ञिक' अर्थ ही ब्राह्मण ग्रन्थों की वास्तविक देन है।

कई वैदिक विद्वान् अयाज्ञिक तत्त्वों के नक्शों के रूप में याज्ञिक कर्मकलाप को मानते हैं। ऐसा मानने पर यज्ञों में सुरापान, पशुवध, तथा अश्लील कर्मों का भी प्रदर्शन करना होगा। न ही ये अवैदिक सुरापान आदि कर्म, कालान्तर में शतपथ में प्रक्षिप्त किये गये हैं, क्योंकि आधारभूत याज्ञिक कर्मों के वर्णन के पश्चात् ही अयाज्ञिक-सत्यार्थ शतपथ में दर्शाए जाते हैं। अतः सुरापान आदि कर्म, याज्ञिक-कर्मों के अङ्गरूप है, जिन पर वाममार्गी सम्प्रदाय की छाप प्रतीत होती है।

प्रो० विश्वनाथ, विद्यालंकार, विद्यामार्तण्ड
६१, कांवली रोड़, देहरादून

अग्निचयन-समीक्षा सम्बन्धी निर्देश

१. "अग्निचयन समीक्षा" शतपथब्राह्मण के अग्निचयन प्रकरण के आधार पर लिखी गई है।

२. अग्निचयन प्रकरण, यजुर्वेद अध्याय ११ से अध्याय १७ तक के मन्त्रों की याज्ञिक व्याख्या है, जोकि शतपथ के काण्ड ६ से काण्ड १० में समाप्त हुई है।

३. शतपथब्राह्मण का विभाग काण्डों, अध्यायों, ब्राह्मणों और कण्डिकाओं में हुआ है। यथा कां० ६।१।१।१ का अभिप्राय है काण्ड ६, अध्याय १, ब्राह्मण १, कण्डिका १ ॥

४. "ब्राह्मण" पद का अभिप्राय है "ब्रह्म" अर्थात् मन्त्रों या वेद का व्याख्यान। ब्राह्मण पद नपुंसक लिंग है।

५. शतपथब्राह्मण में वर्णनीय तत्त्वों का वर्णन इष्टकाओं के चयन द्वारा प्रकट किया गया है।

६. अग्निचयन समीक्षा का अध्ययन यद्यपि रुचिकर न होगा, तथापि अध्ययन ज्ञानवर्धक है। इष्टकाओं के चयन द्वारा आधिभौतिक, आधिदैविक, तथा आध्यात्मिक तत्त्वों का, तथा तात्कालिक सामाजिक और राजनैतिक रीति-रिवाजों का परिचय व्याख्या प्रसङ्ग में मिलता है। इस द्वारा तात्कालिक ब्राह्मणिक साहित्य की वर्णन शैली भी अवगत हो जायगी।

७. अग्निचयन प्रकरण सम्बन्धी शतपथोक्त प्रत्येक कण्डिका का वर्णन समीक्षा में नहीं किया गया, न प्रदत्त कण्डिका के समग्र कलेवर का ही लेखन किया है, अपितु जितने मात्र से विषय स्पष्ट हो जाय, उतने अंश का ही लेखन हुआ है। मध्य-मध्य में कई स्थानों पर कण्डिका का मूलपाठ न देकर उसका हिन्दी अनुवाद ही दिया है।

८. समीक्षा में कई चित्र भी दिये हैं। यथा द्युलोक सम्बन्धी दो चित्र संख्या १ और २; पांचचितियों में से प्रत्येक चिति की इष्टकाओं

के चयन के आंशिक ५ चित्र प्रत्येक चिति की समाप्ति पर दे दिये हैं। इसी प्रकार गार्हपत्य कुण्ड के निर्माण तथा उत्तरवेदि के चित्र भी दिये गए हैं।

९. चित्र "जूलिअस एग्गलिङ्क" द्वारा कृत शतपथब्राह्मण के अंग्रेजी अनुवाद से लिये हैं।

१०. स्वर्गीय श्री गङ्गाप्रसाद जी उपाध्याय, एम० ए० कृत, "रत्न-दीपिका" नामक शतपथ के हिन्दी अनुवाद की सहायता द्वारा अग्नि-चयन समीक्षा लिखी गई है। इस लिये मैं उनका आभारी हूं।

११, जो-जो इष्टकाएँ चयन की गई हैं, उनके अपने-अपने अयाज्ञिक अभिप्राय भी हैं, जो कि आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक हैं। इन अभिप्रायों को इष्टकाओं के चयन के साथ-साथ, प्रकरणानुसार, दर्शा दिया है। तथा सुगमता से इन अभिप्रायों को जानने के लिये परिशिष्ट (६) में इनका पृथक् वर्णन भी किया है। इष्टकाओं को किस क्रम से और कहां-कहां स्थापित करना है, इसका ज्ञान तो अग्निचयन की क्रियात्मक विधि द्वारा ही सम्भव है। तथा भिन्न-भिन्न इष्टकाओं की संख्या भी साभिप्राय है।

विश्वनाथ. विद्यालंकार, विद्यामार्तण्ड
६१ कांवली रोड़, देहरादून
जुलाई १, १९८४

शतपथ-ब्राह्मणस्थ अग्निचयन-समीक्षा

प्रजापति द्वारा सृष्टि

अध्याय १ । ब्राह्मण १

असद्वाऽ इदमग्रेऽ आसीत् । किं तदसदासीत्, ऋषयो वाव-तदग्रेऽसदासीत्तदाहुः के तऽऋषय इति प्राणा वाऽऋषयः ॥१॥

निश्चय से यह जगत् प्रारम्भ में असत् था । वह असत क्या था ? वे ऋषि थे जो कि प्रारम्भ में असत् थे । वे ऋषि प्राण थे ।

[असत् का अभिप्राय अभाव नहीं । अपितु इसका अभिप्राय है सत् से भिन्न प्रकार का । सद्रूप में प्रतीयमान यह जगत् अपनी उत्पत्ति से पूर्व अर्थात् प्रलयावस्था में, वर्तमान सद्रूप में न था, अभिव्यक्तावस्था में न था । अपितु अनभिव्यक्तावस्था में था । परन्तु प्रारम्भ में इस अनभिव्यक्तावस्था में ऋषि विद्यमान थे, अर्थात् प्राण । यजुर्वेद (३४।५५) में सप्तऋषियों को शरीरस्थ कहा है । यथा "सप्त-ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे" । ये सात ऋषि प्राणरूप ही हैं] ।

स योऽयं मध्ये प्राणः । एष ऽएवेन्द्रस्तानेष प्राणान्मध्यत ऽइन्द्रियेणैन्द्ध यदैन्द्ध तस्मादिन्ध ऽइन्धो ह वै तमिन्द्रऽइत्या-चक्षते । त ऽइद्धाः सप्त नाना पुरुषानसृजन्त ॥२॥

वह जो यह मध्य में प्राण था, यह इन्द्र ही था । इस इन्द्र ने, निज ऐन्द्रशक्ति द्वारा, मध्य में से उन प्राणों को प्रदीप्त किया । इससे इन्द्र 'इन्ध' हुआ । इन्ध होने से उसे इन्द्र कहते हैं । उन प्राणों ने इद्ध अर्थात् प्रदीप्त होकर सात[1] पृथक्-पृथक् पुरुष रचे ।

---

१. सात प्राणों से एक-पुरुष रचा गया । एक-पुरुष है कार्य, और सात

[प्रलयावस्था में जो प्राण इन्द्र में अधिष्ठित थे, उन में इन्द्र की ऐन्द्रशक्ति,प्राणों में केन्द्रिय शक्तिरूप में प्रकट हुई। इससे प्राण प्रदीप्त हुए, सक्रिय हुए, चेष्टावान् हुए। इन प्रदीप्त प्राणों ने सात पृथक्-पृथक् पुरुष रचे। इन्धः=इन्धी दीप्तौ। इन्धः=इन्द्रः परमेश्वरः। यथा "इन्द्रो विश्वस्य राजति। शं नोऽ अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे" (यजु० ३६।८)]।

तेऽ एतान्सप्तपुरुषानेकं पुरुषमकुर्वन्, यदूर्ध्वं नाभेस्तौ द्वौ समौब्जन्, यदर्वाङ्नाभेस्तौ द्वौ, पक्षः पुरुषः, पक्षः पुरुषः प्रतिष्ठैक आसीत् ॥३॥

उन समिद्ध प्राणों ने सात-पुरुषों को मिलाकर एक-पुरुषरूप कर दिया अर्थात् नाभि से ऊपर जो दो (पुरुष) थे, नाभि से नीचे जो दो (पुरुष) थे, जो (एक) पक्ष-पुरुष था, जो (दूसरा) पक्ष पुरुष था, जो एक प्रतिष्ठा-पुरुष था,—इनको उन्होंने परस्पर संगठित कर दिया।

[समौब्जन्=सम्+उब्ज (आर्जवे)+आट्। इन सात पुरुषों के स्वरूपों का स्पष्ट वर्णन शतपथ ब्राह्मण में नहीं हुआ। प्रतीत होता है कि नाभिपद द्वारा उदर अभिप्रेत है। उदर से ऊपर एक पर्दा (Diaphragm) है जो कि छाती और उदर को पृथक्-पृथक् करता है। छाती, नाभि अर्थात् उदर से ऊपर की ओर है। इसमें दो अङ्ग हैं, फेफड़े और हृदय। इन्हें दो-पुरुष कहा है। नाभि अर्थात् उदर के नीचे भी दो अङ्ग हैं, जननेन्द्रिय और गुदा। इन्हें भी दो-पुरुष कहा है[1]। देह के दो पक्षों अर्थात् पार्श्वों में एक-एक भुजा है। यह भी दो-पुरुष हैं। और प्रतिष्ठा अर्थात् पाद एक-पुरुष है। "पादयोः प्रतिष्ठा" (अथर्व० १९।६०।२) में पादों को प्रतिष्ठा कहा है। इन सात पुरुषों को संगठित करके एक-पुरुष की रचना हुई। ये सात कारण हैं एक-पुरुष की रचना में। इन सातों का कार्य है एक-पुरुष। इसलिये कार्य एक-पुरुष के कारणीभूत सात-अवयवों को भी पुरुष कहा है। जैसे

पुरुष हैं कारण, एक-पुरुष के। कार्यपुरुष के पुरुषत्व का आरोप, कारणीभूत सात प्राणों में किया गया है।

१. अथवा दो पुरुष हैं उदर से नीचे दो टांगें।

"अन्नं वै प्राणिनां प्राणः" अथा "आयु वैं घृतम्" में अन्न को प्राण तथा घृत को आयु कहा है। क्योंकि अन्न कारण है प्राण का, तथा घृत कारण है आयु का। ये सातों अङ्ग, एक संगठित शरीर के लिये, प्राणरूप हैं। ऊर्ध्वं नाभेः=शायद प्राण-और-अपान=एक पुरुष। और फेफड़े-तथा-हृदय=दूसरा-पुरुष। नाभि के ऊर्ध्वभाग में ये दो पुरुष हैं]।

अथ यैतेषां सप्तानां पुरुषाणां श्रीः। यो रस ऽआसीत्तमूर्ध्वं समुदौहँस्तदस्यशिरोऽभवत्। एतस्मिन्प्राणाऽ अश्रयन्त तस्माद्वेवैतत् शिरः। अथ यत्सर्वस्मिन्नश्रयन्त तस्मादु शरीरम्॥४॥

इन सात पुरुषों की जो श्री अर्थात् जो रस था उसे ऊपर की ओर इकट्ठा किया तो वह इस एक पुरुष का 'शिरः' सिर हुआ। इस शिरः में प्राणों ने आश्रय पाया इसलिये भी यह शिरः हुआ। और प्राणों ने जो समग्र देह में आश्रय पाया इसलिये देह शरीर हुआ।

[श्रीः[1], और श्रिञ्-धातु से शिरः पद का, तथा श्रिञ्-धातु से शरीर पद का व्युत्पादन किया है। यह सत्य है कि प्राणों का आश्रय शिरोगत मस्तिष्क है, और प्राणशक्तियाँ समग्र शरीर में व्याप्त हैं, शरीर और शरीर का प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्ग प्राणशक्तिसम्पन्न है]।

स ऽ एव पुरुषः प्रजापतिरभवत्॥५॥

वह ही पुरुष प्रजापति हुआ।

[इस एक-पुरुष को प्रजापति कहा है, अर्थात् प्रजाओं का पति। अर्थात् ब्रह्म ही इन्द्र होकर प्रजापति हुआ। अभवत् का अर्थ है "हुआ" न कि जन्मा। ब्रह्म ही सृष्ट्युत्पादन की प्रक्रिया में नाना नामों को धारण करता है। वही ब्रह्म है, वही इन्द्र है, और वही प्रजापति है। इसे पुरुष भी कहते हैं, यथा "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" (योग १।२४) में ईश्वर को "पुरुषविशेष" कहा है। यजुर्वेद के ३१वें अध्याय को पुरुषाध्याय और पुरुषसूक्त भी कहते हैं। इस अध्याय में परमेश्वर का वर्णन पुरुषनाम द्वारा किया गया है। और इस परमेश्वर-पुरुष के अङ्गों की कल्पना भी की है, यथा (यजु०

---

१. श्रीः=श्, र्, अ, ईः=श्, ई, र्, अः=शिरः।

३१।१; १०-१३)। गीता में भी परमेश्वर को उत्तम-पुरुष तथा पुरुषोत्तम कहा है (१५।१७-१९)। इसलिये प्रजापति को एक-पुरुष कहना असंगत नहीं। सात प्राणों और शिरः आदि अङ्गों का वर्णन काल्पनिक है, वास्तविक नहीं, यथा "व्यकल्पयन् तथा अकल्पयन्" पदों द्वारा सूचित किया है (यजु० ३१।१०,१३)। प्रजापति नाम परमेश्वर का है, यथा "तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः" (यजु० ३२।१)। इसलिये प्रजापति के काल्पनिक शरीर और शरीराङ्गों का वर्णन हुआ है। यह कल्पना इस सत्य को समझाने के लिये की गई है ताकि पाठक यह जान सके कि जैसे अस्मदादि के शरीर तथा शरीरावयवों का संचालन, ज्ञानवान्, इच्छावान् तथा कृतिमान् जीवात्मा द्वारा होता है, वैसे ही ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड के घटक तत्त्वों का संचालन भी एक सर्वज्ञ, तथा अबाधित इच्छाशक्ति वाले तथा कृतिशक्ति से सम्पन्न महानात्मा द्वारा हो रहा है। जैसे अस्मदादिशरीर निरात्मक नहीं, वैसे ब्रह्माण्ड शरीर भी निरात्मक नहीं]।

सोऽयं पुरुषः प्रजापतिरकामयत, भूयान्त्स्यां प्रजायेयेति।
स ब्रह्मैव प्रथमममसृजत, त्रयीमेव विद्याम् ॥८॥

उस प्रजापति-पुरुष ने कामना की कि "मैं बहुत हो जाऊं, मैं प्रजा को उत्पन्न करूं" उसने पहले ब्रह्म को ही सृजा[1] अर्थात् त्रयीविद्या को ही।

सो ऽपो ऽसृजत। वाच एव लोकात् ॥९॥

उसने अपः अर्थात व्यापक प्रकृति को सृजा, वाणी के लोक से, वाणी के आलोक से, प्रकाश से।

[उस प्रजापति-पुरुष ने वेदवाणी अर्थात् त्रयीविद्यारूपवाणी के आलोक अर्थात् प्रकाश के अनुसार आपः को सृजा। आपः का अर्थ है व्यापक-प्रकृति। वेदवाणी में सृष्ट्युत्पत्ति का जो क्रम वर्णित है तद-

---

१. प्रलयावस्था में त्रयीविद्या यद्यपि परमेश्वर में निष्ठ थी परन्तु आविर्भूत अवस्था में न थी। सृष्टि के उत्पत्तिकाल में वह आविर्भूत हुई, कार्यकारिरूप में प्रकट हुई।

नुसार उसने प्रकृति को सृजा। आप:=आप्लृ व्याप्तौ अर्थात् व्यापक-प्रकृति। आप: को सृजा, अर्थात् अकार्योन्मुख प्रकृति को कार्योत्पादनोन्मुख किया, साम्यावस्था से असाम्यावस्था में किया, विषमावस्था में किया। अथवा "अप:"=जल या द्रवावस्था]।

सोऽकामयत। आभ्योऽद्भ्योऽधि प्रजायेयेति। सोऽनया त्रय्या विद्यया सहाप: प्राविशत्। तत ऽ आण्डँ समवर्तत। ततो ब्रह्मैव प्रथमसृज्यत, त्रय्येव विद्या। तस्मादाहुर्ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रथमजमिति, अपि हि तस्मात्पुरुषाद् ब्रह्मैव पूर्वमसृज्यत, तदस्य तत्मुखमेवासृज्यत ॥१०॥

उसने कामना की कि इस आप: से मैं और अधिक प्रकट होऊं। वह [प्रजापति] इस त्रयी विद्या के साथ "आप:" में प्रविष्ट[1] हुआ। इससे अण्डा उत्पन्न हुआ। उस अण्ड से प्रथम ब्रह्म ही उत्पन्न हुआ था, अर्थात् त्रयी विद्या ही। इसलिये कहते हैं कि ब्रह्म [त्रयी विद्या] इस सबसे प्रथमोत्पन्न है। क्योंकि उस प्रजापति-पुरुष से ब्रह्म [त्रयी विद्या] ही पहले सृजा गया था। वह ब्रह्म इस प्रजापति का मुखरूप[2] ही सृजा गया था।

[आप: से अधिक प्रकट होने के लिये प्रजापति-पुरुष, त्रयीविद्या के साथ आप: के ध्यान में प्रविष्ट हुआ। तब एक अण्डा प्रकट हुआ। उस अण्डे से ब्रह्म अर्थात् त्रयीविद्या का और अधिक आविर्भाव हुआ। क्योंकि ब्रह्म अर्थात् त्रयीविद्या तो पहिले ही प्रकट हो चुकी थी (८)।

---

१. परमेश्वर ने आप: को उत्पन्न किया। आप: को उत्पन्न करने में परमेश्वर ने निज त्रयीविद्या के साथ आप: का ध्यान किया। यह मानसिक प्रवेश है।

२. ब्रह्म अर्थात् त्रयीविद्या या वेद को प्रजापति का मुख कहा है, मानो प्रजापति वेदरूपी निजमुख द्वारा प्रजाओं को सदुपदेश देता है। इसी प्रकार "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" (यजु० ३१।११) में ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्मज्ञ को परमेश्वर-पुरुष का मुख कहा है, ब्रह्मज्ञ ही ब्रह्मसम्बन्धी वास्तविक उपदेश दे सकता है। परमेश्वर-पुरुष को "सर्वतोमुख:" (यजु० ३२।४) भी कहा है। संसार के सभी पदार्थ निज कर्त्ता का मानो कथन कर रहे हैं। अत: ये मुखरूप हैं।

प्रजापति ने अन्य सृष्टि पैदा करने के लिये जब "आपः" में प्रवेश किया तो वहाँ से अन्य सृष्टयुत्पादक अण्डा प्रकट हुआ। इस अण्डे से सृष्टयुत्पादन किस क्रम से किया जाय एतदर्थ त्रयीविद्या द्वारा और अधिक प्रकाश प्रकट हुआ और यह नया प्रकाश प्रजापति के लिये मुख्य सहायक हुआ। वैदिक साहित्य में सृष्टयुत्पत्ति अण्डे से मानी गई है। मनु ने भी कहा है "तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्" (१।९) अर्थात् सुवर्णसदृश चमकने वाला अण्डा पैदा हुआ जो कि सूर्यसदृश-प्रभा वाला था। ग्रह आदि की परिक्रमाओं के पथ भी आकृतियों में अण्डाकार ही हैं। समग्र ब्रह्माण्ड की आकृति भी अण्डाकार ही है। ब्रह्माण्ड का अर्थ है "ब्रह्म या ब्रह्मा का अण्डा]।

अथ यो गर्भोऽन्तरासीत्, सोऽग्रिरसृज्यत, स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत तस्मादग्निः। अग्निर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते।। अथ यदश्रुसंक्षरितमासीत्सोऽश्रुरभवत् अश्रुर्ह वै तमश्व इत्याचक्षते। अथ यदरसदिव स रासभोऽभवत्। अथ यः कपाले रसोलिप्त आसीत्सो ऽजोऽभवत् अथ यत्कपालमासीत्सा पृथिव्यभवत्॥११॥

अण्डे के मध्य में जो गर्भरूप वस्तु थी वह अग्नि थी। चूंकि यह अग्नि "अग्रम्" अर्थात् अश्व आदि से पहिले उत्पन्न हुई थी, इसलिये अग्रि होने के कारण यह अग्नि हुई (अग्रिः=अग्निः)। अण्डे से जो अश्रु अर्थात् विन्दु गिरा वह अश्रु अर्थात् अश्व हुआ (अश्रुः=अश्वः)। जो अण्डे के फटने के कारण "असत् इव" शब्द सा हुआ वह रासभ हुआ (रसत्=रासभः)। और अण्डे के कपाल अर्थात् छिलके में जो रस था वह अज (बकरा) हुआ। और जो कपाल अर्थात् छिलका था वह पृथिवी हुई।

[सृष्टयुत्पत्ति के अवान्तर उपादान-कारण को अण्ड शब्द से सूचित किया है। पक्षी के अण्डे के मध्य में भूरा सा तत्त्व होता है जो कि अग्नि के रूप के सदृश होता है, और उसके चारों ओर सुफैद तत्त्व होता है जो कि जल के रूप के सदृश होता है। इसी प्रकार सृष्ट्युत्पादक अण्डे के गर्भ में अग्नि होती है। वर्तमान में भी, उत्पन्न हुई पृथिवी में, गर्भरूप से अग्नि विद्यमान है जो कभी-कभी ज्वालामुखी पर्वतों में ज्वालारूप में प्रकट होती रहती है। इस सृष्टयुत्पादक अण्डे

से जो एक मानों जलीयविन्दु गिरा, जिसे कि अश्रु कहा है; वह अश्व हुआ। यह अश्व है सूर्य, न कि प्राणी-अश्व। वस्तुतः निःसीम ब्रह्माण्ड में सूर्य एक जलविन्दु के समान अल्पकाय ही है।

इस प्रकार अश्रु को अश्व कहा है। अग्निचयन के रहस्यप्रकरण (काण्ड १०) में अश्वमेध के सम्बन्ध में अश्व का अर्थ सूर्य कहा है। और वृद्ध्यर्थक "शिव=टुओशिव" धातु से अश्व शब्द की व्युत्पत्ति दर्शाई है। यथा "ततो ऽश्वः समभवत्, यदश्वयत्, एष वाऽ अश्वमेधो य एष तपति" (श० ब्रा० १०।६।५।७,८)। अर्थात् उससे अश्व पैदा हुआ; चूंकि यह फूला, काय में बढ़ा, (अश्वयत्)। "यह निश्चय से अश्व-मेध है जो यह तप रहा है।" इसलिये अश्व = सूर्य; और अश्वमेध = सूर्य का तपना। सूर्य के तपने में मानो प्रजापति अश्वमेध रचा रहा है। वर्तमान प्रकरण में प्राणी-अश्व का वर्णन अभिप्रेत नहीं। प्राणी-अश्व इस अण्डे से उत्पन्न नहीं हो सकता। पृथिवी की उत्पत्ति के चिरकाल पश्चात्, नर-मादा के संयोग से प्राणी-अश्व उत्पन्न होता है। अतः यहाँ अश्व, आधिदैविक तत्त्व है, आधिभौतिक प्राणी नहीं। (क)

"अरसत् और रासभः," ये दो पद शब्दार्थ "रस" धातु से व्युत्पन्न माने हैं। रसः वाङ्नाम (निघं० १।११), तथा रसशब्दे (भ्वादि), अण्डे के फटने पर जो शब्द हुआ, तत्पश्चात् रासभ हुआ। रासभ का अर्थ है, गदहा। प्राणी रासभ नर-मादा के मैथुन से उत्पन्न

क. संलग्न चित्रपट में अश्व के अन्य आधिदैविक स्वरूप भी प्रदर्शित किये हैं यथा—

१. चित्रसंख्या (१) में धनु राशि को एक घुड़सवार-पुरुष के रूप में दर्शाया गया है जो कि धनुष् ताने हुआ है। इसे चित्रपट में डिगरी २६० और २८० के मध्य में दर्शाया है।

२. तथा चित्रपट संख्या (२) में एक अश्व अर्थात् घोड़े के मुख और ग्रीवा को दर्शाया है, जो कि डिगरी ३४० और ३२० के मध्य में है, जिसे कि पक्षिराज कहा है।

३. इसी प्रकार मेषराषि में स्थित अश्वनी-नक्षत्र को भी अश्व की मुखा-कृति के रूप में दर्शाया जाता है। इस का चित्र इस चित्रपट संख्या (१) में नहीं दर्शाया गया। मेष राशिस्थ अश्व के कारण मेषराशिस्थ नक्षत्र को अश्विनी कहा प्रतीत होता है।

होता है, सृष्टयुत्पादक अण्डे से नहीं। रासभ चूंकि अण्डे के फटने से उत्पन्न हुए शब्द के पश्चात् उत्पन्न हुआ इसलिये इसे रासभ कहा (रस शब्दे)। वर्तमान वैज्ञानिक विद्वान् इसे "Bang theory" कहते हैं। Bang का अर्थ है "A Sudden loud noise; an explosion" अर्थात् धड़ाके की आवाज, जो कि फटाव से होती है। सौरमण्डलों आदि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऋ० १०।७२।२ में दृष्टान्त दिया है "सं कर्मार इवाधमत्" अर्थात् लोहे का कर्म करने वाला लुहार जैसे सम्यक् अग्निसंयोग द्वारा शब्द उत्पन्न करता है, वैसे बृहस्पति ने उत्पादन के निमित्त अग्निसंयोग द्वारा शब्द उत्पादन किया। रासभ की उत्पत्ति में यह शब्द कारण बना।

अब प्रश्न पैदा होता है कि रासभ का आधिदैविक स्वरूप क्या है? "रासभावश्विनोः" निघं० (१।१५) के अनुसार दो अश्वियों के वाहन, दो रासभ कहे हैं। "Popular Hindu Astronomy" के ग्रन्थकार कालिनाथ मुकुरजी के अनुसार "अश्विनौ" हैं मिथुनराशि के दो मुख्य तारे (stars) जिन्हें कि 'अश्विनौ' तथा 'पुनर्वसू' कहते हैं, तथा "रासभौ" हैं कर्कराशि के मुख्य दो तारे। आङ्गलज्योतिष में कर्क के इन दो तारों को "The twin Asses" कहते हैं, अर्थात् रासभ-युगल। "युञ्जाथां रासभं रथे" (ऋ० ८।७४।७) में अश्वियों के रथ का वाहन एक-रासभ भी कहा है।

"अज" के आधिदैविक स्वरूप के सम्बन्ध में 'अज' का सम्बन्ध "पूषा" के साथ कहा है। यथा "अजाः पूष्णः" (निघं० १।१५) "अजाः" पद द्वारा सम्भवतः मकरराशि के तारे कहे हैं। मकरराशि को आङ्गलभाषा में Capricornus तथा Capricorn कहते हैं। इसका अर्थ है "One of the twelve signs of the zodiac, like a horned goat" अर्थात् राशिचक्र की १२ राशियों में यह एक राशि है, जिसकी आकृति सींगों वाले बकरे के सदृश है। बकरे को संस्कृत में "अज" कहते हैं। "अजा पूष्णः" में "अजाः" में बहुवचन द्वारा मकरराशि के नाना ताराओं का निर्देश किया गया है। इन ताराओं के संगठन की आकृति "अज" अर्थात् बकरे की आकृति के सदृश दिखाई जाती है। कर्कराशि कर्क-संक्रान्ति को राशि है, और मकरराशि मकरसंक्रान्ति की राशि है। कर्क में सूर्य जून २२ से

जुलाई २२ तक रहता है, और मकर में दिसम्बर २३ से जनवरी २० तक। इस प्रकार 'अज' आधिदैविक तत्त्व है, प्राणी-पशु नहीं।

मकर राशि में अर्थात् दिसम्बर में सूर्य की रश्मियाँ क्षीण हो जाती हैं। मकर राशि के पश्चात् सूर्य की रश्मियों का पोषणः पुनः होने लगता है, और कर्कराशि पर इसकी रश्मियों का पूर्ण परिपोषण हो जाता है। इसलिये सूर्य को पूषा कहा है। पूषा को "अजाश्व" भी कहते हैं (ऋ० १।१३८।४) चूँकि सूर्य का अश्व है, अज। अज अर्थात् मकर-राशि से सूर्य की गति 'पूषा' रूप में होती है,मानों 'अज,' सूर्य का अश्व बन कर, इसका वाहन उत्तर की ओर करने लगता है।

[पृथिवी[1] अण्डे के कपाल अर्थात् छिलके से उत्पन्न हुई। यह पृथिवी आधिदैविक सृष्टि है। यह सर्व-सम्मत है]।

सोऽकामयत, आभ्यो ऽद्भ्यो ऽधीमां प्रजनयेयमिति। तां संक्लिश्याप्सु प्राविध्यत्, तस्यै यः पराङ् रसो ऽत्यक्षरत्स कूर्मोऽभवत्, अथ यदूर्ध्वमुदौक्ष्यतेदं तदयदिदमूर्ध्वमद्भ्योऽधि जायते ॥१२॥

उस प्रजापति ने कामना की कि इस जल [अण्डस्थ] से मैं इसे [पृथिवी को] पैदा करूँ। प्रजापति ने उसे [पृथिवी को] दवा कर जल में प्रविष्ट कर दिया। दवाने से उस पृथिवी[1] सम्बन्धी रस से जो रसांश दूर वह गया वह यह कूर्म हुआ, जोकि वह [कूर्म] ऊपर की ओर दीखता है, वह यह कूर्म है जो कि जल अर्थात् रस से पैदा होता है। [सत्कार्यवाद में कार्य], निज उपादान कारण में, दवा रहता है,—यह अभिप्राय है पृथिवी को जल में दवा कर प्रविष्ट किये रखने का। पृथिवी-सम्बन्धी-रस [जल] से पृथक् होकर जो रसांश दूर वह गया वह कूर्म हुआ। पृथिवी सम्बन्धी-रस, आकाश-गङ्गा (milky

---

१, पृथिवी अभी वस्तुतः पैदा नहीं हुई। वह अण्डे के रसरूपी जल में निमग्न थी। इसका पैदा होना भावी संज्ञा की दृष्टि से है। इसकी उत्पत्ति "फेन" रूप में श० ६।१।१।१३ में दर्शाई है। शतपथ के आङ्गल भाषा में अनुवाद के कर्त्ता "जुलियस एगलिंग"ने भी ऐसा ही अभिप्राय प्रकट किया है। यथा "That is, the earth when as yet in the form of egg-shell."

way) है।" कूर्म-तारामण्डल मानो आकाशगङ्गा के जल से पैदा होकर ऊर्ध्व अर्थात् ऊपर दीखता है। द्युलोकस्थ तारामण्डलों में कूर्म नाम का कोई तारामण्डल नहीं। कूर्म का पर्यायवाची है कश्यप। आकाशगङ्गा की धाराओं में एक तारामण्डल है Cassiopica, जिसे कि संस्कृत में काश्यपीय[1] कहते हैं। काश्यपीय आकाशगङ्गा के जल में निवास करता है।

यथाः—The stream (आकाशगङ्गा) passes through the septarshis (सप्तर्षि मण्डल) in kasypiya mandala (Constellation cassiopeia[2]) "Popular Hindu Astronomy" (पृ० २० तथा २०८)।

इस प्रकार कूर्म अर्थात् कश्यप भी आधिदैविक सृष्टि का अंग है न कि प्राणि-सृष्टि का]।

सोऽकामयत भूय एव स्यात् प्रजायेतेति स [3]फेनमसृजत मृदं शुष्कापसूषसिकतं, शर्कराश्मानमयो हिरण्यमोषधिवनस्पत्यमसृजत, तेनेमां पृथिवीं प्राच्छादयत् ।।१३।।

उसने कामना की कि और अधिक हो, पैदा हो, उसने फेन सृजा। मिट्टी, गारा (शुष्कापम्), ऊसर भूमि, रेत, कंकर, पत्थर, लोहा,

---

१. कश्यप सम्बन्धी।

२. A constellation in the northern hemesphere near the north pole(Chembers-dictionary).

३. फेन द्वारा पृथिवी की उत्पत्ति दर्शाई है। फेन जल पर तैरता, जल से हलका और विरलावयव होता है। और समय पाकर सिकुड़ कर अल्पकाय हो जाता है। अण्डे से जब पृथिवी पैदा हुई तब यह भी फेन के सदृश हलकी और विरलावयव थी। यह महाकाय थी (प्रथनात् पृथिवी), समयान्तर पर ठोस और पूर्वापेक्षया अल्पकाय हो गई। वर्तमान में भी पृथिवी फैली हुई दीखती हैं, अतः प्रथनात् पृथिवी। जिस अण्डे से पृथिवी उत्पन्न हुई वह महाकाय और गैसरूप था। उसकी परिधि को कपाल अर्थात् छिलका कहा है। अण्डे का केन्द्रभाग अत्युष्ण था, और परिधिभाग कम-उष्ण। परिधि का जो भाग पहिले ठण्डा हुआ वह फेनरूप हुआ, जो कि कालान्तर में पृथिवी बना।

सोना, ओषधि, वनस्पति सृजे। उनसे इस पृथिवी को उसने आच्छादित कर दिया।

[तदनन्तर प्रजापति ने फेन उत्पन्न किया, अर्थात् जलों से पृथिवी फेन की तरह प्रकट हुई। फिर उसने मिट्टी आदि को कालान्तर में पैदा किया और ओषधियों तथा वनस्पतियों को पैदा किया। जिनसे पृथिवी ढक गई [अभी प्राणी अर्थात् मनुष्य, पशु, पक्षी आदि पैदा नहीं हुए]।

अभूद्वा ऽइयं प्रतिष्ठेति। तद् भूमिरभवत्, तामप्रथयत्सा पृथिव्यभवत् ॥१५॥

यह पृथिवी निश्चय से आधाररूप हो गई। इसलिये यह भूमि हुई। उसे प्रजापति ने फैलाया, इससे यह पृथिवी हुई।

[अभूत् और भूमि इन दोनों में "भू" धातु का अन्वय है, अप्रथयत् और पृथिवी में प्रथ-धातु का अन्वय है। अभूत्=अ+भू+त्=भू अर्थात् भूमि]।

वायु-अन्तरिक्ष आदि की सृष्टि

अध्याय १। ब्राह्मण २

सोऽकामयत प्रजापतिः, भूय एव स्यात् प्रजायेतेति। सोऽग्निना पृथिवीं मिथुनं समभवत्, तत आण्डं समवर्तत ॥१॥

उस प्रजापति ने कामना की कि और अधिक हो, उत्पन्न हो। वह अग्निरूप में पृथिवी के साथ संयुक्त हुआ, उससे अण्डा उत्पन्न हुआ।

[जगत् की उत्पत्ति अण्डों से हुई है। यह वैदिक विचार सृष्ट्युत्पत्ति में अनुस्यूत है। कण्डिका १, २, ३, ४ में अण्डों की उत्पत्तिपूर्वक सृष्टि की उत्पत्ति दर्शाई है। काण्ड ६ अध्याय १ ब्राह्मण १ में भी प्रजापति पुरुष द्वारा ब्रह्म अर्थात् त्रयीविद्या के सर्जन के पश्चात् अग्नि, अश्व, रासभ, अज, कूर्म और पृथिवी की उत्पत्ति अण्डे से दर्शाई है। सृष्ट्युत्पत्ति में भिन्न-भिन्न, परन्तु एक समुदाय में परस्पर सम्बद्ध सृष्टितत्त्वों की उत्पत्ति, पृथक्-पृथक् अण्डों से दर्शाई है। वर्त-

भान् वैज्ञानिक विद्वान् इन पृथक्-पृथक् अण्डों को पृथक्-पृथक् NEBULA के नाम से पुकारते हैं। NEBULA शब्द का संस्कृतरूप है "नभस्" अर्थात् मेघ। परन्तु ये भिन्न-भिन्न, मेघ जलतत्त्व के बने हुए नहीं, अपितु सृष्ट्युत्पादक आग्नेयतत्त्वों का संग्रहरूप हैं। नभसों में कतिपय नभस्, अङ्गुलीयक की आकृति के "Ring-shaped"[1] तथा अण्डाकृति के "Oval-shaped" भी होते हैं]।

स यो गर्भोऽन्तरासीत् स वायुरसृज्यत, अथ यदश्रु संक्षरितमासीत्तानि वयांस्यभवन्, अथ यः रसोलिप्त आसीत्ता मरीचयोऽभवन्, अथ यत्कपालमासीत्तदन्तरिक्षमभवत् ॥२॥

अण्डे के मध्य में जो वह गर्भरूप था वह वायुरूप सृजा, और जो आंसु गिरा था वे पक्षी[2] हुए, और जो कपाल अर्थात् छिलके में रस लिपा था। वे मरुमरीचियाँ[3] हुई, और जो कपाल था वह अन्तरिक्ष हुआ।

[वायु और वायु में उड़ने वाले पक्षी, ग्रीष्म ऋतु में मरुस्थल में प्रतीत होने वाले जल, तथा वायु में प्रतीत होने वाले गन्धर्वनगर आदि दृश्य, तथा अन्तरिक्ष ये पैदा हुए।

मरुमरीचिकाएँ मरुभूमि में मृगतृष्णिकारूप में जल की लहरों के सदृश ग्रीष्मऋतु में प्रतीत होती हैं। सूर्य की रश्मियों के कारण अन्तरिक्षस्थ गर्मवायु में नगर से भी प्रतीत होते हैं, इन्हें गन्धर्वनगर कहते हैं। "गन्धर्वनगर=The city of gandharvas, an imaginary city in the sky. Probably the result of some natural phenomenon, such as mirage" (आपटे)]।

---

१. Ring-nebula के लिये द्रष्टव्य "Beyond the solar system" by Sidgwick and Jackson, London। यह Ring-nebula तुला-राशि में है।

२. श० ६।१।१।१३ में ओषधिवनस्पतियों की उत्पत्ति कही है और श० ६।१।२।२ में पक्षियों की उत्पत्ति कही है। ओषधियों की उत्पत्ति प्रथम होती है, और पक्षियों की तत्पश्चात् ही।

३. मरीचियां=मरौ अञ्चन्ति, मरु-भूमि में गति करती हुई सौर रश्मियां।

सोऽकामयत, भूय एव स्यात् प्रजायेयेति, स वायुना ऽन्तरिक्षं मिथुनꣳ समभवत्,तत आण्डं समवर्तत, ततो ऽसावादित्योऽसृजतैष वै यशो,अथ यदश्रु संक्षरितमासीत् सो ऽश्मा पृश्निरभवत्, अथ यः कपाले रसो ऽलिप्त आसीत्ते रश्मयोऽभवन्, अथ यत्कपालमासीत् सा द्यौरभवत् ।।३।।

उस [प्रजापति] ने कामना की कि और अधिक हो, वह वायुरूप हो कर अन्तरिक्ष के साथ संयुक्त हुआ, उस से अण्डा पैदा हुआ, उस से आदित्य सृजा गया, यह आदित्य यशरूप है, और जो अश्रु वहा था, वह विविध वर्णों वाला अश्मा हुआ, और जो कपाल अर्थात् छिलके में जो रस लिपा हुआ था वे रश्मियां हुईं, और जो कपाल था वह द्यौः हुआ।

[अण्डे की परिधिरूप जो छिलका था वह द्युलोक हुआ। वाह्य छिलके के भीतर की ओर जो लिपा हुआ रस था वह द्युलोक के भीतरी भाग में जड़े हुए रश्मिमय तारा थे, जो रस अण्डे से क्षरित हुआ वे मानो विविधवर्णों वाले मेघ थे। (अश्मा मेघनाम, निघं० १।१०)। पृश्निः="प्राश्नुत एनं वर्णः" (निरु० १।४।१४)। आदित्य की रश्मियों द्वारा वर्षतु में मेघ विविध वर्णों वाले प्रतीत होते हैं। अश्मा में जात्येकवचन है। आदित्य "यशः" है अर्थात् उदक है (निघं० १।१२) और अन्न है (निघं० २।७), क्योंकि आदित्य द्वारा ही उदक मिलता और तदनन्तर अन्न प्राप्ति होती है। अथवा आदित्य की रचना मानो प्रजापति के यशोगानरूपी है। अण्डे के मध्य में जो तत्त्व था, जिस का कि वर्ण पीला था,वह पीतवर्ण आदित्यरूप हुआ]।

सोऽकामयत, भूय एव स्यात् प्रजायेयेति, स आदित्येन दिवं मिथुनꣳ समभवत्, तत ऽआण्डं समभवत्, ततः चन्द्रमाऽअसृज्यतैष वै रेतो ऽथ यदश्रु संक्षरितमासीत् तानि नक्षत्राण्यभवन्,अथ यः कपाले रसो लिप्त आसीत् ता अवान्तर दिशोऽभवन्, अथ यत् कपालमासीत् ता दिशोऽभवन् ।।४।।

उस [प्रजापति]ने कामना की कि और अधिक हो, उत्पन्न हो,वह आदित्यरूप में द्यौः के साथ संयुक्त हुआ, उस से अण्डा पैदा हुआ, उस से चन्द्रमा सृजा गया, वह रेतस् अर्थात् वीर्य था, और जो अश्रु

वहा था वे नक्षत्र हुए, और कपाल अर्थात् छिलके के भीतर जो रस लिप्त था वे अवान्तर दिशाएँ हुईं, और जो कपाल था वे मुख्य दिशाएँ हुईं।

[मुख्य दिशाएँ हैं पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर। अवान्तर दिशाएँ हैं, इन मुख्य दिशाओं के मध्यवर्ती उपदिशाएँ, पूर्व-उत्तर के मध्य में ऐशानी दिशा, पूर्व-दक्षिण के मध्य में आग्नेयी दिशा, दक्षिण-पश्चिम के मध्य में नैर्ऋति दिशा, पश्चिम-उत्तर के मध्य में वायवी दिशा। कपाल मुख्य-चार दिशाएँ हुईं। कपाल के भीतरी हिस्से में लिप्त रस, मुख्यदिशाओं से संलग्न अवान्तर दिशाएँ रूप हुईं। कपाल का संक्षरित, अश्रु अर्थात् रस नक्षत्ररूप हुआ। जो चन्द्रमा सृजा वह रेतस अर्थात् वीर्यरूप था, वह अण्डे के मध्यवर्ती अंश से सृजा गया।

[रात्रि के समय आदित्य के अभाव में, प्रतीयमान चन्द्रमा की स्थिति द्वारा दिशाओं और अवान्तर दिशाओं का परिज्ञान हो सकता है। रविमार्ग अर्थात् ecliptic में स्थित तारों को नक्षत्र कहा है। ये २७ होते हैं, परन्तु वैदिक दृष्टि में "अभिजित्" के अधिक होने के कारण नक्षत्र २८ कहे हैं (अथर्व० १९।७।४; तथा १९।८।२)। चन्द्रमा की दीप्ति[1] आदित्य की रश्मियों द्वारा होती है। इस लिये चन्द्रमा को आदित्य का रेतस् कहा है। यथा "पृच्छामि त्वा वृष्णो ऽश्वस्य रेतः," "अयं सोमो वृष्णो ऽश्वस्य रेतः" (यजु० २३।६१, ६२)। सोम का अर्थ है चन्द्रमा, और वृषा-अश्व है आदित्य। चन्द्रमा अपने आह्लादक रूप (चदि आह्लादने) में आदित्य से प्रकट होता है, अतः चन्द्रमा को आदित्योत्पन्न कहा है।

---

१. "अथाप्यस्य [आदित्यस्य] एको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रति दीप्यते। आदित्यतोऽस्य दीप्तिर्भवति" (निरु० २।२।१)। तथा "सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः" (यजु० १८।४०)। गन्धर्व = गौ अर्थात् सूर्य की रश्मियों को धारण करने वाला चन्द्रमा। गौ अर्थात् गतिशील सौर रश्मियां।

२. चन्द्रमा यद्यपि अन्तरिक्षस्थानी है। परन्तु रात्रि काल में यह नक्षत्रों में स्थित हुआ प्रतीत होता है। इसलिये इस का सम्बन्ध द्यौः के साथ दर्शाया है। इसी दृष्टि से कहा है "चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपति"। (अथर्व० ५।२४।१०)।

स मनसा वाचं मिथुनꣳ समभवत्, सोऽष्टौ द्रप्सान् गर्भ्यभवत्, वसवोऽसृज्यन्त, तानस्यामुपादधात् ॥६॥

वह [प्रजापति] मन के रूप से वाणी के साथ संयुक्त हुआ, वह आठ बूंदों द्वारा गर्भ वाला हो गया, वसु सृजे, उन्हें इस पृथिवी में उस ने स्थापित किया।

[अभिप्राय यह है कि प्रजापति ने मन अर्थात् विचारपूर्वक वेद-वाणी का अवलोकन करके यह जाना कि अभी और प्रजा का सर्जन करना है। प्रजापति के गर्भ से ८ वसु पैदा हुए, उन्हें उस ने पृथिवी निष्ठ प्राणियों के निमित्त समीप में रख दिया। ८ वसु हैं,—अग्नि, पृथिवी, वायु-अन्तरिक्ष, आदित्य-द्यौः, चन्द्रमा-नक्षत्र (श-ब्रा० १४।६।९।४)। ८ विन्दुओं से गर्भी भूत हुआ,— इसका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि वसुओं का सम्बन्ध वेद में गायत्री छन्द के साथ दर्शाया है, और गायत्री छन्द का पाद ८ अक्षरों का होता है। इन्हें ८ विन्दु अर्थात् द्रप्स कहा है। द्रप्स=Drops। गायत्री के पादों पर विचार कर प्रजापति से ८ वसुओं को पैदा करने का निश्चय किया। इस निश्चय से ८ वसु पैदा हुए। यह निश्चय मानो गर्भरूप हुआ। वसुओं का सम्बन्ध गायत्री छन्द से है। यथा "वसवस्त्वा छृन्दन्तु गायत्रेण छन्दसा" (यजु० ११।६५)]।

स मनसैव वाचं मिथुनꣳ समभवत्, स एकादश द्रप्सान् गर्भ्यभवत्, त एकादश रुद्रा असृज्यन्त, तानन्तरिक्ष उपादधात् ॥७॥

वह [प्रजापति] मन के ही द्वारा अर्थात् विचार पूर्वक वाणी के साथ संयुक्त हुआ, वह ११ द्रप्सों [Drops] अर्थात् बिन्दुओं से गर्भीभूत हुआ, वे ११ रुद्र पैदा हुए। उन्हें अन्तरिक्ष में उस ने स्थापित कर दिया।

[११ रुद्र=प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और जीवात्मा (सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ७)। ११ रुद्र इसलिये कहाते हैं कि जब शरीर को छोड़ते हैं तब रोदन कराने वाले होते हैं (सत्यार्थप्रकाश)। ११ रुद्रों के कार्य,— प्राण के=निःश्वास, उच्छ्वास, खांसी। अपान के=विष्ठा मूत्र आदि का त्याग। व्यान के= स्थूल और सूक्ष्म नाड़ियों में गति करना और

रक्त का संचार। उदान के=कण्ठ में रहना, शिर पर्यन्त गति करता, शरीर को उठाए रखता, मृत्यु के समय स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर को वाहिर निकालना आदि। समान के=पचे रस को सब अङ्गों में वाण्टना। नाग के=उद्गारादि। कूर्म के=संकोचन। कृकल के=क्षुधा। देवदत्त के=निद्रा। धनञ्जय के=पोषण आदि (पातञ्जल योग प्रदोप, स्वामी ओमानन्द)। रुद्रों का सम्बन्ध त्रिष्टुप् छन्द से है, जिस के पाद में ११ अक्षर होते हैं। यथा "रुद्रास्त्वा छृन्दन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसा" (यजु० ११।६५)। मृत्यु के पश्चात् ये ११ रुद्र सूक्ष्म शरीर के साथ अन्तरिक्षस्थ वायु में जाते हैं,अतः इन्हें अन्तरिक्षस्थ कहा है]।

स मनसैव वाचं मिथुनँ समभवत्, स द्वादश द्रप्सान् गर्भ्यभवत्, ते द्वादशादित्या असृज्यन्त, तान् दिव्युपादधात् ॥८॥

वह [प्रजापति] मन के ही द्वारा वेदवाणी के साथ संयुक्त हुआ, वह १२ द्रप्सों अर्थात् विन्दुओं का ग्रहण कर गर्भवाला हो गया। उस से वे १२ आदित्य[1] पैदा हुए, उन्हें द्युलोक में उसने स्थापित कर दिया।

[द्वादश आदित्याः=ये १२ मासों द्वारा लक्षित एक सूर्य के १२ स्वरूप नहीं, अपितु १२ प्रकार के रंगों वाले १२ प्रकार के नाना आदित्य हैं। ग्रहों, चान्दों, तथा केतुओं के इलावा, द्युलोक में जो तारागण दृष्टिगोचर होते हैं वे सब आदित्य हैं। रंगों की दृष्टि से इन्हें १२ विभागों में विभक्त किया है। सात रंग तो मुख्य हैं, जो कि वर्षर्तु में इन्द्रधनुष में,या Prism में दृष्टिगोचर होते हैं, शेष पांच इन सातों में से कतिपय रंगों के मिश्रणों से उत्पन्न होते हैं। मुख्य सात रंगों के नाम =Red (लाल), yellow (पीत), orange (नारङ्गी रंग), green (हरा), blue (आसमानी नीलारंङ्ग), indig (नील पौधा से निकाले रंग जैसा),violet (बैंगनी रंग), ।

१. आदित्य १२ होते हैं,—इस का निर्देशक मन्त्र, यथा "आदित्यास्त्वा छृन्दन्तु जागतेन छन्दसा" (यजु० ११।६५)। जागत पाद के अक्षर १२ होते हैं। आदित्यों का सम्बन्ध जागत छन्द के साथ दर्शाया है।

कतिपय रंगीन आदित्यों के उदाहरण:[1]——Aldebaram (रोहिणी), वर्ण Deep yellow, गहरा पीत। यह वृषराशि में है। (२) Alphard, वर्ण Red (लाल), (३) Alnitam=It is a Blue. Giant (मृगशिरा के समीप में है), यह सूर्य से १० गुना बड़ा है। इसलिये इसे Giant कहा है। यह तारा Blue अर्थात् आसमानी रंग का है। (४) कई तारा हैं Blue-white stars; Greenish-White stars; Yellow-Orange stars; Orange star ("Beyond the solar system" by Sidgwick (५) स्वाति नक्षत्र=कुङ्कुमवर्ण, केसरी रङ्ग (६) Sirius-B =white dwarf. इत्यादि। बृहदा० उप० अध्याय ४। ब्राह्मण ४। कण्डिका ६ में निम्नलेख मिलता है "तस्मिन् शुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलꣳ हरितं लोहितं च"। इस लेख में शुक्ल आदि नामों द्वारा भिन्न-भिन्न रंगों वाले सूर्यों का वर्णन प्रतीत होता है]।

स मनसैव वाचं मिथुनꣳ समभवत्,स गर्भ्यभवत्, स विश्वान् देवानसृजत, तान् दिक्षूपादधात् ॥६॥

वह [प्रजापति] मन के द्वारा ही वाणी के साथ संयुक्त हुआ, वह गर्भ वाला हो गया, उसने अवशिष्ट सब देवों को, अर्थात् द्युतिमान् तारागणों को उत्पन्न किया, उन्हें भिन्न-भिन्न दिशाओं में उस ने स्थापित किया।

[विश्वान् देवान्,—इस के दो अभिप्राय सम्भव हैं। (१) अवशिष्ट सब देवों को (२) विश्वेदेवाः नामक विशिष्ट देवों को। कण्डिका में "विश्वान् देवान्" पाठ है न कि "विश्वे देवान्"। अतः कण्डिका में अवशिष्ट सब देवों को,—ऐसा अभिप्राय ही जानना चाहिये]।

विशेषः—कण्डिका ६ से ६ में "वाचम्" का अभिप्राय वेदवाणी से है, अर्थात् प्रजापति ने मनसा अर्थात् विचार पूर्वक, वेदवाणी का आलोचन कर के, वसु आदि की उत्पत्ति वेदोक्त प्रक्रमों द्वारा की। तथा "मनसा वाचम्" का यह अभिप्राय भी सम्भव है कि प्रजापति ने निज मानसिक वाणी के साथ सम्बन्ध कर, उत्पत्ति की कामना की जिस से वसु आदि की उत्पत्ति हुई]।

अथो ऽआहुः। प्रजापतिरेवेमान् लोकान्त्सृष्ट्वा पृथिव्यां प्रत्यतिष्ठत् तस्माऽ इमा ओषधयोऽन्नमपच्यन्त, तदाश्नात्स गर्भ्यभवत्, स ऊर्ध्वेभ्य एव प्राणेभ्यो देवानसृजत, ये ऽवाञ्चः प्राणास्तेभ्यो मर्त्याः प्रजा इति। अथो यत् तमथासृजत, तथाऽसृजत। प्रजापतिस्त्वेवेदꣳ सर्वमसृजत यदिदं किं च ॥११॥

कहते हैं कि प्रजापति ही इन लोकों का सर्जन कर के पृथिवी में दृढ़ स्थित हो गया। उस प्रजापति के लिये ओषधियों से अन्न पकाया। उन्हें प्रजापति ने खाया, वह गर्भ वाला हो गया। उसने ऊपर के प्राणों से देवों को सृजा। जो नीचे के प्राण थे उन से मरणधर्मा मनुष्यों तथा मरणधर्मा प्राणियों को सृजा। तथा जो अब सृजा उसे उसी प्रकार पहिले[1] भी सृजा था। प्रजापति ने ही इस सब को सृजा, जो कुछ कि यह है।

[आधिदैविक सृष्टि का वर्णन तो पहिले हो चुका है। अब पृथिवीस्थ पदार्थों का विशेष वर्णन कण्डिका ११ में हुआ है। मनुष्यादि प्राणियों की रचना चूँकि वीर्य द्वारा होती है, और वीर्य की उत्पत्ति खाए अन्न से होती है, इसलिये कहा है कि प्रजापति ने ओषधियों के पके अन्न को खाया। ऊर्ध्वप्राण ज्ञान प्रधान तथा सात्विक होते हैं, अतः ऊर्ध्व-प्राणों से प्रजापति ने देवों को सृजा। ऊर्ध्व प्राण हैं मस्तिष्क, ज्ञान शक्तियां, हृदय की भावनाएँ, भक्ति, प्रेम, श्रद्धा आदि। इन दिव्य शक्तियों के द्वारा देवकोटि के मनुष्य रचे। तथा नीचे के प्राणों से मरणधर्मा संसारी मनुष्य तथा अन्य प्राणी रचे। नीचे के प्राणों में राजसिक और तामसिक क्रियाएँ प्रधान होती हैं, अतः नीचे के प्राणों से सांसारिक भावना प्रधान साधारण मरणधर्मा मनुष्यादि का वर्णन हुआ है। इस काण्ड ११ से प्रतीत होता है कि उस से पूर्व जो उत्पत्तियां हुईं उन्हें प्रजापति ने द्युलोकस्थ तथा अन्तरिक्षस्थ हो कर किया। अतः पूर्व वर्णित अश्व, रासभ, अज, कूर्म पार्थिव प्राणिसृष्टि न थी, अपितु आधिदैविक जड़ सृष्टि थी]।

---

१. यथा "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः (ऋ० १०।१९०।३)।

स प्रजाः सृष्ट्वा, सर्वमाजिमित्वा[1] व्यस्रँसत । तस्मादु हैतदयः सर्वं माजिमेति[1] व्येव स्रँसते, तस्माद्विस्रस्तात्प्राणो मध्यतऽ उदक्रामत्, तस्मिन्नेनमुत्क्रान्ते देवाऽ अजहुः ॥१२॥ सोऽ ग्निमब्रवीत् त्वं मा संधेहीति । किं मे ततो भविष्यतीति, त्वया माऽऽ चक्षान्तै, अथ मा संधेहीति, तथेति तमग्निः समदधात्, तस्मादेतं प्रजापतिः सन्तमग्निरित्याचक्षते[2] ॥१३॥

वह [प्रजापति] प्रजाओं को सृज कर, अर्थात् सर्जन के सब कठिन प्रक्रमों को समाप्त कर, शिथिल पड़ गया । इसलिये ही यह होता है कि जो सब प्रक्रमों में से गुजरता है । वह अवश्य शिथिल पड़ जाता है । शिथिल हुए उस प्रजापति के शरीर में से प्राण निकल गए। उन प्राणों के निकलते देवों [ऐन्द्रियिक शक्तियों] ने इस प्रजापति को छोड़ दिया ॥१२॥ उस [प्रजापति] ने अग्नि को कहा कि तू मेरी चिकित्सा कर। अग्नि ने कहा कि इस से मेरा क्या लाभ होगा, प्रजापति ने उत्तर दिया कि तेरे नाम से मुझे पुकारेंगे, अर्थात् मुझ प्रजापति को अग्निनाम से पुकारेंगे, इसलिये मेरी चिकित्सा या उपचार कर। अच्छा,—यह कह कर अग्नि ने उसे स्वस्थ कर दिया।

[मानुष स्वभाव को प्रजापति पर आरोपित किया है। कि प्रजापति भी सृष्टि को उत्पन्न कर थक गया, शिथिल पड़ गया। ऐसी भावना बाईबल में भी है कि ६ दिनों तक परमेश्वर ने सृष्टि रच कर ७ वें दिन आराम किया। शतपथ में यद्यपि यह भावना कथानकरूप में वर्णित हैं तो भी ऐसा वर्णन आपत्तिजनक है। प्रजापति की चिकित्सा के लिये अग्नि ने भी कुच्छ प्रतिफल चाहा, अग्नि ने भी चिकित्सा स्वार्थभावना से प्रेरित होकर की। यह भावना भी उच्चभावना नहीं है, ऐसी स्वार्थ भावनाएँ अग्निचयन प्रकरण में यत्र-तत्र मिलती हैं। प्रतिफलरूप में प्रजापति को अग्नि नाम से पुकारना प्रारम्भ हुआ।

---

१. सर्वमाजिम् इत्वा जैसे योद्धा शत्रु पर विजय पा कर समग्र युद्धभूमि को हस्तगत करके, थक कर शिथिलाङ्ग हो जाता है, वैसे ही समग्र सृष्टि की रचना कर प्रजापति भी शिथिलाङ्ग हो गया।

२. प्रजापति को अग्नि भी कहते हैं, यथा "तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः । तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः" (यजु० ३२।१)।

अग्निचयन प्रकरण में स्थान-स्थान पर प्रजापति और अग्नि में एकता प्रकट की गई है। १२वीं और १३वीं कण्डिकाओं से यह प्रतीत होता है कि शरीर के शैथिल्य को दूर करने में यज्ञिय अग्नि सहायक है।, देवों द्वारा "ऐन्द्रियिक शक्तियों" का ग्रहण किया गया है। इस दृष्टि से "अग्नि" का अभिप्राय शरीराग्नि भी सम्भव है। जाठराग्नि तथा शरीर के तापमान की अग्नि के ठीक रहते शैथिल्य विलुप्त हो जाता है।

तदेता वा ऽअस्य ताः पञ्च तन्वो व्यस्रꣳसत, लोम, त्वङ्, माꣳसमस्थि, मज्जा, ता एवैताः पञ्चचितयः, तद्यत्पञ्च चितीश्चिनोत्येताभिरेवैनं तत्तनूभिश्चिनोति, यच्चिनोति तस्माच्चितयः ॥१७॥

ये ही निश्चय से इस [प्रजापति] की ५ तनुएँ शिथिल पड़ गई थीं, अर्थात् लोम, त्वचा, मांस, अस्थि और मज्जा। ये ही ५ चितियां[1] हैं, तहें हैं, जिन्हें कि यजमान [वेदि में] चिनता है, चूंकि चिनता है इसलिये ये चितियां कहाती हैं।

[अग्निचयन, वेदि की भूमि पर, किया जाता है। इन चयनों में भिन्न-भिन्न प्रकार की इष्टकाएँ प्रयुक्त की जाती हैं, और ५ तहों [layers] में ये इष्टकाएँ चिन कर, इन के ऊपर की तह अर्थात् चिति पर अग्नि को स्थापित किया जाता है। इष्टकाओं द्वारा निर्मित ये ५ चितियां, शरीर की लोम आदि रूप ५ चितियों अर्थात् तहों की प्रतिनिधि हैं, प्रतिरूपक हैं]।

तं देवा अग्नावाहुतिभिरभिषज्यन् ॥२२॥

उस प्रजापति को देवों ने अग्नि में आहुतियों द्वारा रोग से मुक्त किया।

[इस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि शारीरिक अङ्गों के रुग्ण हो जाने पर, अग्नि में आहुतियों द्वारा, शारीरिक रोगों का प्रशमन हो सकता है]।

---

१. पञ्चचितिको ऽग्निः (श० ब्रा० ६।५।१।१२)।

इयं न्वेव प्रथमा मृन्मयीष्टका, तदर्यत्किं चात्र मृन्मयमुपदधात्येकैव सेष्टका। अथ यत् पशुशीर्षाण्युपदधाति सा पश्विष्टका। अथ यद्रुक्मपुरुषाऽ उपदधाति, यद्धिरण्यशकलैः प्रोक्षति सा हिरण्येष्टका। अथ यत्स्रुचाऽ उपदधाति, यदुलूखलमुसले, याः समिध ऽआदधाति सा वानस्पत्येष्टका। अथ यत् पुष्करपर्णमुपदधाति, यत्कूर्मं, यद् दधि मधु घृतं, यत्किंचात्रान्नमुपदधाति सैवान्नं पञ्चमीष्टका। एवमु पञ्चेष्टकः [अग्निः] ॥३०॥

यह पृथिवी पहली मिट्टी की इष्टका है, जो कुच्छ इस वेदि पर मिट्टी की बनी वस्तु रखता है, वह सब एक ही इष्टका है। और जो पशुओं के सिरों को रखता है वह पशु-इष्टका है। (श० ७।५।२।१) और जो रुक्म अर्थात् सुवर्ण और सुवर्ण पुरुष को स्थापित करता है। (श० ७।४।१।१५), जो हिरण्य के टुकड़े स्थापित करता है वह हिरण्य-इष्टका है। और जो स्रुच्-स्रुव स्थापित करता है, जो उलूखल मुसल (श० ७।५।१।१२), जो समिधाएं आधान करता है। वह वानस्पत्य-इष्टका है। और जो कमल-पत्ता स्थापित करता है, जो कूर्म, (श० ७।५।१।१,३), जो दधि-मधु-घृत. तथा जो कुच्छ अन्न स्थापित करता है, वह ही अन्नरूपी पांचवी इष्टका है। इस प्रकार पांच प्रकार की इष्टकाओं वाली अग्नि है।

[वेदि में इष्टकाओं द्वारा जो पांच चितियां अर्थात् तहें एक-दूसरे के ऊपर चिनी जाती हैं, उन पांच प्रकार की इष्टकाओं का वर्णन इस कण्डिका में हुआ है। यहां इष्टका का अभिप्राय मिट्टी की बनी पक्की-ईंटों का ही नहीं, क्योंकि पशुओं के सिरों आदि को भी इष्टका[1] कहा है। अतः इष्टका का अर्थ है "इष्टं करोति" इति

---

१. सोऽब्रवीत्। यावद्यावद्वै जुहुथ तावत्तावन्मे "कम्" भवतीति। तद्यदस्माऽ इष्टे "कम्" अभवत्तस्माद्वेवेष्टकाः (श० ६।१।२।२३), अर्थात् उस प्रजापति ने कहा कि जितनी-जितनी आहुतियां तुम देते हो उतनी-उतनी वे मेरे लिये सुखकर होती हैं। अतः इष्टे+कम्+अभवत् इष्ट+क+अ= इष्टका।

इष्टका, अर्थात् प्रजापति तथा यजमान के अभीष्ट का सम्पादन करने वाली, सामग्री] ।

तदाहुः, कति पशवो ऽग्ना ऽउपधीयन्त ऽइति । पञ्चेति न्वेव ब्रूयात्, पञ्च ह्येतान्पशूनुपदधाति ॥३२॥

लोग पूछते हैं कि कितने पशु अग्निचयन के निमित्त स्थापित किये जाते हैं ? पांच,—यह ही निश्चयपूर्वक कहे । इन पांच ही पशुओं को स्थापित करता है ।

[ये पांच पशु हैं पुरुष, अश्व, गौ, अवि (भेड़ या मेढा) और अज (बकरा) यथा "स एतान् पञ्च पशूनपश्यत्, पुरुषमश्वं गामविमजम्" (श० ६।२।१।२)] ।

अथोऽ एकऽ इति ब्रूयात्, अविरिति, इयं वा ऽअविः, इयᳫं हीमाः सर्वाः प्रजा ऽअवतीयमु वा ऽग्निरस्यै हि सर्वो ऽग्निश्चीयते, तस्मादेक इति ब्रूयात् ॥३३॥

या कहे कि एक अर्थात् अवि । यह पृथिवी अवि है, यह ही इन सब प्रजाओं की रक्षा करती है, और अग्नि भी पृथिवीरूप है, क्योंकि इस पृथिवी से ही सब अग्नि चिनी जाती है । इसलिये कहे कि "एक" ।

[कण्डिका में अग्निचयन में एक-पशु का विधान किया गया है । वह पशु है, "अवि" । अवि का प्रसिद्ध अर्थ है भेड़ या मेढा । परन्तु कण्डिका में अवि द्वारा पृथिवी का निर्देश किया है, क्योंकि पृथिवी सब प्रजाओं की रक्षा करती है, अवति । पृथिवी पशुवत् मानुष जाति के कार्यभार का वहन करती है, अतः यह पशु है । यज्ञिय कार्यभार का वहन करने से अग्नि, वायु और सूर्य को भी पशु कहा है । यथा "अग्निः पशुरासीत्तेनायजन्त । वायुः पशुरासीत्तेनायजन्त । सूर्यः पशुरासीत्तेनायजन्त" (यजु० २३।१७) । अवि द्वारा पृथिवी के ग्रहण से याज्ञिक-अग्निचयन इस कण्डिका में अभिप्रेत नहीं । अपितु आधिदैविक अग्निचयन अभिप्रेत है । कण्डिका का शेष अभिप्राय यह है कि इस पृथिवी पर चिनी जाने वाली अग्नि भी पृथिवी का ही रूप है । क्योंकि इसी पृथिवी से ही आग्नेय पदार्थ ले कर, इध्म समिधा

आदि लेकर, उन द्वारा अग्नि का चयन किया जाता है। अतः यह चयन अविरूप अर्थात् पृथिवीरूप है, अतः "एक" है]।

अथो द्वाविति ब्रूयात्। अवी ऽइतीयं चासौ चेमे हीमाः सर्वाः प्रजा ऽअवतो, यन्मृदियं तत्, यदापोऽसौ तत्, मृच्चापश्चे-ष्टकाः भवन्ति तस्मात् द्वाविति ब्रूयात् ॥३४॥

या कहे कि दो। दो अवि हैं, यह पृथिवी और वह द्यौः। ये दोनों सब प्रजाओं की रक्षा करते हैं, जो [इष्टका में[मिट्टी है वह यह पृथिवी है, जो जल है वह द्यौः है। मिट्टी और जल मिल कर इष्टकाएँ होती हैं। इसलिये कहे कि "दो"।

[याज्ञिक-अग्निचयन में अवयवों के सिरों के स्थापन का विधान नहीं। अतः कण्डिका में याज्ञिक-अग्निचयन अभिप्रेत नहीं, अपितु आधिदैविक अर्थ ही अभिप्रेत है। कण्डिका में इष्टका के निर्माण के दृष्टान्त द्वारा, एक अन्य आधिदैविक-अग्निचयन के स्वरूप को दर्शाया है। इष्टका में मिट्टी है पृथिवी. और जल है द्यौः, क्योंकि द्यौः से ही जल प्राप्त होता है। जैसे इष्टका निर्माण के लिये मिट्टी में जल का चयन किया जाता है जो कि द्यौ का रूप है, वैसे ही पृथिवी पर सौर-रश्मियों के रूप में द्युरूपी अग्नि का आधान, या स्थापन होता है, मानो पृथिवी पर अग्नि का चयन होता है। अतः यह द्वितीय प्रकार का आधिदैविक-चयन है, याज्ञिक-चयन नहीं]।

अथो गौरितिब्रूयात्। इमे वै लोका गौः। यद्धि किं च गच्छ-तीमांस्तल्लोकान् गच्छति, इमऽउ लोकाऽ एषो ऽग्निश्चितः, तस्माद् गौरिति ब्रूयात् ॥३५॥

या कहे कि गौ। गौ हैं ये लोक। जो कोई पदार्थ गति करता है वह इन लोकों में गति करता है [अतः गमनात गौः],ये लोक निश्चय से हैं यह अग्नि, चयन की हुई। इसलिये कहे कि,—गौ।

[ये तीनों लोक हैं,—गौः। क्योंकि इन में ही सब पदार्थ गति कर रहे हैं। पृथिवी में प्राणी गति कर रहे हैं, अन्तरिक्ष में पक्षीगण और वायु, मेघ आदि गति कर रहे हैं, द्युलोक में सूर्य, नक्षत्र, तारा आदि गमन कर रहे हैं। इन में गमन करने के कारण इन तीन लोकों को गौः कहते हैं। ये हैं तीन लोक। इन में अग्नियों का चयन हुआ-हुआ

है। पृथिवी में पार्थिव-अग्नि का, अन्तरिक्ष में विद्युत् का, तथा द्युलोक में अग्निमय सूर्य तारा आदि का चयन हुआ-हुआ है। अतः यह तीसरे प्रकार का अग्निचयन है, जो कि आधिदैविक-चयन है, न कि याज्ञिक-अग्निचयन।

कण्डिका ३२ में जिस में कहा है कि अग्निचयन के पशु पांच हैं, उसमें ही यह निर्देश दिया है कि "अथोऽ एक इति ब्रूयात्, अविरिति" (कण्डिका ३३), अथा "अथो द्वाविति ब्रूयात्" "अवी" इति (कण्डिका ३४), तथा "अथो गौरिति ब्रूयात्, इमे वै लोकाः गौः" (कण्डिका ३५), अतः ग्रन्थकर्त्ता ने "पञ्चेति ब्रूयात्" कह कर तद्भिन्न विचारों को दर्शा कर, अग्निचयन में "पञ्चपशुपक्ष" के सम्बन्ध में अरुचि सी दर्शाई है, और अवि, अवी, और गौ भी प्राणीपशु नहीं, अपितु ये पृथिवी-पृथिवी-द्यौः, तथा लोकत्रय रूप हैं]।

अध्याय २। ब्राह्मण १

स एतान्पञ्च पशूनपश्यत्। पुरुषमश्वं गामविमजम् ॥२॥

उस प्रजापति ने पांच पशु देखे। पुरुष, अश्व, गौ, अवि (भेड़ या मेढा), अज (बकरा)।

तान् नाना देवताभ्य आलिप्सत, वैश्वकर्मणं पुरुषम्, वारुणमश्वम्, ऐन्द्रमृषभम्, त्वाष्ट्रमविम्, आग्नेयमजम् ॥५॥

उस प्रजापति ने उन पशुओं का, नाना देवताओं के लिये, आलम्भन करना चाहा। विश्वकर्मा के लिये पुरुष का, वरुण के लिये अश्व का, इन्द्र के लिये ऋषभ का (गौ-बैल) का, त्वष्टा के लिये अवि का, और अग्नि के लिये अज का।

तानाप्रीतान पर्यग्निकृतानुदीचो नीत्वा समज्ञपयत् ॥६॥

उन पशुओं को आप्रीत अर्थात् संतुष्ट करके, और उन के चारों ओर अग्नि की परिक्रमा कर के, उत्तर दिशा में ले जा कर उन का संतपन किया।

स शीर्षाण्येवोत्कृत्योपाधत्ताथेतराणि कुसिन्धान्यप्सु प्राप्लावयदजेन यज्ञँ समस्थापयत् ॥७॥

उस प्रजापति ने सिरों को ही काट कर स्थापित कर दिया, और

अवशिष्ट घड़ों को जल में डाल दिया, तदनन्तर अज (बकरे) द्वारा यज्ञ को पूर्ण किया।

["आलम्भन" करने के पश्चात् "संज्ञपन और उत्कृत्य" का वर्णन हुआ है। प्रतीत होता है कि आलम्भन, संज्ञपन और उत्कर्तन—ये तीन कर्म हैं। अतः आलम्भन का अर्थ हैं लाभ करना, प्राप्त करना, न कि मारना। वेदसंहिताओं में "आ+लभ्" का अर्थ "मारना" नहीं, अपितु लाभ करना, प्राप्त करना है। अथर्व० ७।१०९।७ में अक्षों (Dice) के सम्बन्ध में कहा है कि "अक्षान् यद् बभ्रूनालभे," अर्थात् "भूरे रङ्ग के अक्षों को मैं प्राप्त करता हूं"। अथर्ववेद के आङ्गल भाषा में अनुवाद करने वाले "श्री ह्विटनी" ने अनुवाद किया है "Take up the brown dice..."। "Take up" द्वारा आलभे का, प्राप्त करना अर्थ किया है। तथा "ये त्वा कृत्वालेभिरे" (अथर्व० १०।१।९) में भी "आलेभिरे" का अर्थ मारना नहीं। "श्री ह्विटनी" ने भी अर्थ किया है "They who, having made, took hold of the." आलेभिरे=Took hold of, न कि मारना।

यजुर्वेद अध्याय ३० के निम्नलिखित मन्त्रांशों पर विचार करने से भी प्रतीत होता है कि वेदसंहिताओं में "आलभते" का अर्थ प्राप्त करना है, न कि मारना या वध करना। यथा:—

"ब्रह्मणे ब्राह्मणं, क्षत्राय राजन्यं, मरुद्भ्यो वैश्यं, तपसे शूद्रम् (५); धर्माय सभाचरम्, (६); रूपाय मणिकारम्, शुभे वपम् (७); पवित्राय भिषजम्, प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शम्, मर्यादायै प्रश्नविवाकम् = प्राड्विवाक=वकील (१०); पुष्ट्यै गोपालम्, इरायै कीनाशम्=किसान (११);—आलभते (२२)।

अर्थात् ब्रह्मविद्या, वेद विद्या के लिये ब्राह्मण का, क्षात्रधर्म के लिये राजन्य का, धन की प्राप्ति के लिये वैश्य का (क्षत्रम् धन नाम, निघं० २।१०), परिश्रम के लिये शूद्र का, धर्म की व्यवस्था के लिये न्यायाधीशों की सभा में विचरने वाले मुख्य न्यायाधीश का, विविध रूपों वाले आभूषणों के लिये मणिकार का, मुख की शोभा के लिये नाई का, राष्ट्र की पवित्रता (sanitat on, स्वास्थ्य) के लिये वैद्य का, भविष्यत् के ज्ञान के लिये नक्षत्रविद्या के जानने वाले

का, मर्यादा के लिये वकील का, पुष्टि के लिये गोपाल का, अन्न के लिये किसान का,—आलभते अर्थात् राजा आलम्भन करता है। "आलभते" का अर्थ यदि "वध" किया जाय, तो क्या उपयुक्त व्यक्तियों के वध द्वारा, उन द्वारा प्राप्त होने वाले अभीष्ट प्राप्त हो सकेंगे। अतः आलभते का अर्थ है, प्राप्त करता है, न कि वध करता है। यजुर्वेद के ३०वें अध्याय में से ये कतिपय उद्धरण दिये हैं। शेष मन्त्रांशों के सम्बन्ध में भी आलभते का अर्थ "प्राप्त करना" सार्थक होगा, वध करना नहीं। राजा अपने राष्ट्र में, भिन्न-भिन्न उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिये, किन-किन व्यक्तियों का संग्रह करे,—इस का विस्तारपूर्वक वर्णन यजुर्वेद के ३०वें अध्याय में हुआ है।

प्रसिद्ध संस्कृत-इङ्गलिश के कोशकार आप्टे ने भी 'आलम्भन' का मुख्य अर्थ दिया है "Taking hold of, seizing, touching. परन्तु मध्यकाल में आलम्भ का अर्थ वध भी हो गया था, अतः Tearing off, killing यह अर्थ भी आप्टे ने दिये हैं]।

> पुरुषं प्रथममालभते, पुरुषो हि प्रथमः पशूनाम्। अथाश्वं पुरुषँ ह्यन्वश्वः। अथ गामश्वँ ह्यनु गौः। अथाविं गां ह्यन्वविः। अथाजमविँ ह्यन्वजः। तदेनान् यथापूर्वं यथा श्रेष्ठमालभते[1] ॥१८॥

पुरुष का पहिले आलम्भन करता है। पुरुष ही पहिला है पशुओं में। फिर अश्व का, क्योंकि पुरुष के पीछे अश्व है। फिर गौ का, क्योंकि अश्व के पीछे गौ है। फिर अवि का, क्योंकि गौ के पीछे अवि है। फिर अज का, क्योंकि अवि के पीच्छे अज है। इस प्रकार उन का यथाक्रम अर्थात् श्रेष्ठता के हिसाब से आलम्भन करता है, इन्हें प्राप्त करता है।

[अवि और गौ के सम्बन्ध में देखो (६।१।२।३३-३५)]। इन पांच पशुओं के आलम्भन के लिये शतपथ में कोई मन्त्रप्रमाण उपस्थित नहीं किया। अपितु "मा हिंसीः" का बार-बार पाठ कर के इन पांच

---

१. ६।२।१।१५ में 'आलिप्सन्त'। ६।२।१।१६ में 'समज्ञपत्'। तथा ६।२।१।१७ में 'उत्कृत्य' के क्रमिक कथनानुसार 'आलभते' का अर्थ "प्राप्त करना" ही है। पश्चात् 'संज्ञपन' और 'उत्कर्तन' होगा।

पशुओं की हिंसा का निषेध किया है, (यजु० १३।४१-४५; तथा १३।४७-५१) । अतः पञ्चपशु हिंसा वेद विरुद्ध है । यजु० के इन मन्त्रों की व्याख्या के लिये देखो परिशिष्ट (१), मन्त्र क्रमाङ्क (१७ से २६) । ब्राह्मण ग्रन्थों का अध्ययन करते समय हमें यह साथ-साथ देखना चाहिये कि मन्त्रों का अपना अभिप्राय क्या है, याज्ञिक विधि क्या है, तथा तत्सम्बन्धी अन्यपक्ष क्या हैं] !

तद्धैके । इत्येवैतानि पशुशीर्षाणि वित्त्वोपदधति, उभयेनै ते पशव इति ॥३७॥

कई याज्ञिक जिस किसी प्रकार से पशुओं के इन सिरों को प्राप्त कर अग्निचयन में स्थापित करते हैं, क्योंकि दोनों प्रकार मे ये हैं तो पशु ही ॥

[चाहे स्वयं पशुसिरों को काट कर सिर प्राप्त कर लो या खरीद लो, या मांग लो । सभी प्रकार से ये पशुओं के सिर ही तो हैं। खरीदने या मांगने से यजमान स्वयं पशुहिंसा से मुक्त रहता है] ।

हिरण्मयान्यु हैके कुर्वन्ति ॥३८॥

कई याज्ञिक सुवर्णनिर्मित पशुसिरों की रचना करते हैं ।

[इस विधि से भी यजमान प्राणिहिंसा से मुक्त रहता है] ।

मृन्मयान्यु हैके कुर्वन्ति । उत्सन्ना वाऽ एते पशवो, यद्वै किं चोत्सन्नमियं तस्य सर्वस्य प्रतिष्ठा, तद्यत्रैते पशवो गतास्ततऽ एनानधि सम्भराम इति ॥३९॥

कई याज्ञिक पशुओं के सिर मिट्टी के कर लेते हैं कि ये पशु मर तो गए ही हैं, जो कोई मर जाता है उस की स्थिति इस पृथिवी में ही हो जाती है । अतः जहां ये पशु चले गए हैं वहीं से हम इन्हें प्राप्त करते हैं ।

[इस प्रकार पशुओं के सिरों के सम्बन्ध में मतभेद है । इस से ज्ञात होता हैं कि शतपथ के रचयिता के समय ही हिंसा और अहिंसा की दृष्टि से याज्ञिकों में मतभेद हो गया था ।

अग्निचयन सम्बन्धी पशुसंख्या का इतिहास

स एतानेव पञ्च पशूनालभेत यावदस्य वशः स्यात् । तान् हैतान् प्रजापतिः प्रथम आलेभे, श्यापर्णं सायकायनो ऽन्तमो ऽथ ह स्मैतानेवान्तरेणालभन्ते । अथैतर्हीमौ द्वावेवालभ्येते प्राजापत्यश्च वायव्यश्च ॥३९॥

वह यजमान इन ही पांच पशुओं का आलम्भन करे जहां तक कि इस के वश में हो या इच्छा हो । क्योंकि पहिले प्रजापति ने इन पांच का ही आलम्भन किया था, और श्यापर्ण-सायकायन ने अन्त में किया । इन दो कालों के बीच में भी लोग इन्हीं पांच पशुओं का आलम्भन करते थे । परन्तु अब इन दो का ही आलम्भन होता है, प्रजापति वाले 'अज' पशु का, और वायुवाले 'अज' पशु का ।

[यह प्रजापति कौन है,— यह स्पष्ट नहीं । यदि यह प्रजापति वही है जो कि सृष्टि का रचयिता हैं जो कि (श० ब्रा० ६।१।१।८), आदि के ब्राह्मणभागों में वर्णित है तब तो यह ईश्वर है । तो क्या ईश्वर ने भी पांच पशुओं के सिर काट कर अग्निचयन किया था ।[1] "अथैतर्हि" द्वारा शतपथ के रचयिता ने अपने काल का निर्देश कर यह कहा है कि इस काल में अब दो ही पशुओं का आलम्भन किया जाता है । साथ ही "यावदस्य वशः स्यात्" द्वारा पञ्चपशुओं के आलम्भन में ढील भी दे दी है] ।

---

१. इस के दो अभिप्राय सम्भव हैं । (१) पृथिवी पर परमेश्वरीयव्यवस्था के कारण इन पांचों प्रकार के पशुओं की मृत्यु होती रहती है । यह मानो परमेश्वर कृत पशुयज्ञ है । परन्तु इस पशुयज्ञ का अनुकृति में मनुष्य को क्या अधिकार है कि वह इन जीवित प्राणियों के प्राणहरण करे । (२) दूसरा अभिप्राय यह सम्भव हैं कि द्युलोक के नक्षत्रों में इन पांचों को अर्थात् पुरुष तथा अवशिष्ट प्राणियों को, उन की आकृतियों में दर्शाया जाता है । यथा मेष, वृष, मिथुन,कन्या आदि । प्रलयकाल में इनका संहार-यज्ञ परमेश्वर करता है । दोनों स्वरूपों में मनुष्य द्वारा किया गया पशुयज्ञ सर्वथा दूषित है । संलग्न चित्रपटों (नं० १, २) में पुरुष आदि की आकृतियों को दर्शाया है ।

अग्निचयन के आचार्यों की वंश परम्परा निम्न प्रकार है:—

अथ वंशः। समानमासांजीविपुत्रात्। सांजीविपुत्रो माण्डुकायनेः, माण्डुकायनिर्माण्डव्यात्, माण्डव्यः कौत्सात्, कौत्सो, माहित्थेः,माहित्थिः वामकक्षायणात्, वामकक्षायणो वात्स्यात्, वात्स्यः शाण्डिल्यात्, शाण्डिल्यः कुश्रेः, कुश्रिः यज्ञवचसो राजस्तम्बायनात्, यज्ञवचा राजस्तम्बायनः तुरात्कावषेयात्, तुरः कावषेयः प्रजापतेः, प्रजापतिर्ब्रह्मणः, ब्रह्म स्वयम्भु, ब्रह्मणे नमः॥ (कां० १०।६।५।९)॥

[इस वंश परम्परा में प्रथम है स्वयम्भु ब्रह्म। तदनन्तर आचार्य हैं प्रजापति, तुरः कावषेय, यज्ञवचा राजस्तम्वायन, कुश्रि, शाण्डिल्य, वात्स्य, वामकक्षायण, माहित्थि, कौत्स, माण्डव्य, माण्डकायनि, सांजीविपुत्र। ये १३ आचार्य हैं। (श० ६।२।१।३९) में "श्यापर्ण[1] सायकायन" आचार्य का वर्णन हुआ है, जिस के काल तक अग्निचयन के निमित्त पांच पशुओं का आलम्भन समान रूप में होता रहा। अग्निचयन के आचार्यों में अन्तिम आचार्य "सांजीविपुत्र" हुआ है। इस के कितने काल के पश्चात् श्यापर्ण सायकायन हुआ यह कहा नहीं जा सकता। इतना तो कहा जा सकता है कि श्यापर्ण सायकायन शतपथ के रचयिता से पूर्वकाल का है, और "एतर्हि"(श० ६।२।१।३९) द्वारा शतपथ के रचयिता ने अपने काल को सूचित किया है, जब कि पांच पशुओं के स्थान में केवल दो पशुओं के ही आलम्भन की परिपाटी चालू हो गई थी। ये दो पशु भी एक ही जाति के थे, अर्थात् 'अज'। एक अज है प्राजापत्य[2], और दूसरा है वायव्य[2](६।२।१।३९) इन का वर्णन निम्न प्रकार से है (देखो श० ब्रा० ६।२।२।१-७)।

---

१. श्यापर्ण जाति का वर्णन ऐतेरेयब्राह्मण, पंचिका ७, अध्याय ५ (क्रमिक संख्या ३५) में मिलता है। इन का मुखिया "राम मार्गवेय श्यापर्ण" अर्जुन के प्रपौत्र तथा परिक्षित के पुत्र जनमेजय से मिला था। ऐतरेय ब्राह्मण में "श्यापर्ण सायकायन" का नाम नहीं। अग्निचयन की महिमा, श्यापर्ण सायकायन, और साल्वजाति पर सांस्कृतिक और आर्थिक विजय के लिये देखो परिशिष्ट (८)।

२. चरक सम्प्रदाय के याज्ञिक तो प्राजापत्य-अज का आलम्भन करते थे;

अध्याय २ । ब्राह्मण २

प्राजापत्यं चरका ऽआलभन्ते (१) । श्यामो भवति, तूपरो भवति (२) ।

चरक सम्प्रदायी प्रजापति सम्बन्धी 'अज' का आलम्भन करते हैं (१) यह श्याम अर्थात् शुक्ल और कृष्णवर्ण का होता है, और तूपर अर्थात् विना सींगों के होता है ।

अथैतं वायवे नियुत्वते । शुक्लं तूपरमालभते, लप्सुदी [म्] (६) ।

नियुत्वान्-वायुसम्बन्धी 'अज'का आलम्भन करता है । यह शुक्ल, विना सींगों का, तथा दाढ़ी वाला होता है ।

"शुक्ल अज" के सम्बन्ध में कहा है कि "प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा-ऽनु व्यैक्षत, तस्यात्यानन्देन रेतः परापतत् । सो ऽज शुक्लस्तूपरो लप्सुद्यभवत्" (६) । अर्थात् प्रजापति ने प्रजा का सर्जन कर चारों ओर देखा, अत्यानन्द के कारण उस के रेतस् (वीय)का स्खलन हो गया । वह वीर्य,—शुक्ल, तूपर और दाढ़ीवाला "अज" हो गया । प्रजापति यदि परमेश्वर है तो उसके सम्बन्ध से ऐसे अश्लील कथन न होने चाहियें । वस्तुतः "रेतस्" शब्द द्वयर्थक हैं । रेतस् =वीर्यः तथा रेतस् = उदक (निघं० १।१२) । प्रजापति का अर्थ "संवत्सर" भी है । यथा 'स यः स प्रजापतिः व्यस्र॑ सत, संवत्सरः सः" (श० ६।१।२।१८) इस दृष्टि से "सांवत्सरिक वर्षाजल है, प्रजापति का रेतः-स्खलन" । इस रेतः-स्खलन से व्रीहि पैदा होता है, और व्रीहि के अवहनन से शुक्ल-अज अर्थात् शुक्लतण्डुल पैदा होता है । यह "अज" है, नए व्रीहि को यह जन्म नहीं दे सकता । सतुषतण्डुल से ही नए व्रीहि के अंकुर पैदा हो सकते हैं, निष्तुष तण्डुल से नहीं । व्रीहि वायव्य है, मानसून वायु सम्बन्धी है, मानसून वायु के वर्षाजल से पैदा होता है । मानसून वायु को "नियुत्वान्" कहा है । नियुत् का अभिप्राय है "वड़ी

और तद्भिन्न याज्ञिक वायव्य-अज का । एक सम्प्रदाय केवल एक ही अज का आलम्भन करता था । "चरकाः" कृष्ण-यजुर्वेदि याज्ञिक हैं ।

संख्या," करोड़ों की संख्या। मानसून वायु में जल विन्दुओं की असंख्यात-संख्या होती है, अतः मानसून है, नियुत्वान्। तथा "नियुतो वायोः"(निघं० १।१५)। साधारेण अन्तरिक्षस्थ वायु में भी असंख्यात वायुकण होते हैं। इस लिये साधारण वायु भी नियुत्वान् है।

यद्वेवैतं पशुमालभते। एतस्मिन्ह पशौ सर्वेषां पशूनाꣳ रूपम्। यत्तूपरो लप्सुदी तत्पुरुषस्य रूपं, तूपरो हि लप्सुदी पुरुषः। यत्तूपरः केसरवान् तदश्वस्य रूपं, तूपरो हि केसरवानश्व। यदष्टाशफस्तद् गोरूपमष्टाशफो हि गौः। अथ यदस्याऽवेरिव शफास्तदवे रूपम्। यदजस्तदजस्य। तद्यदेतमालभते तेन हैवास्यैते सर्वे पशवऽ आलब्धा भवन्ति। अतो यतमदस्य कर्मोपकल्पेतै ते वा पञ्च पशवऽ एष वा प्राजापत्यऽ एष वा नियुत्वतीयः ॥१५॥

जो कि इस तूपर-लप्सुदी पशु का आलम्भन करता है इसलिये कि इस पशु में सब पशुओं के रूप हैं। यह शृङ्गरहित और दाढ़ी वाला है वह पुरुष का रूप है, शृङ्गरहित तथा दाढ़ी वाला पुरुष है। जो शृङ्गरहित (तूपर), और गर्दन पर वालों वाला (केसरवान्) है वह अश्व का रूप है, शृङ्गरहित तथा गर्दन पर वालों वाला अश्व होता है। जो यह आठ खुरों वाला है, वह गौ का रूप हैं, आठ खुरों वाला बैल होता है। तथा इस के जो अवि (भेड़ या मेढा) के सदृश खुर हैं वह अवि का रूप है। चूंकि यह अज है इसलिये इस में अज का रूप तो है हीं। अतः जो कि इस तूपर-लप्सुदी का आलम्भन करता है उस द्वारा ही इस यजमान के सब पशुओं का आलम्भन हो जाता है। जो भी इस यजमान के लिये उपयुक्त हो अर्थात् जिस प्रकार इस का यज्ञकर्म सम्पन्न हो जाय तदनुसार चाहे तो पांच पशुओं का, या एक प्राजापत्य अज का, अथवा एक नियुत्वतीय तूपर-लप्सुदी अज का आलम्भन करे।

[गौ=बैल, न कि गाय। अवि=मेढा, न कि भेड़। इस १५वीं कण्डिका से स्पष्ट होता है कि शतपथ के रचयिता के मत में "एक तूपर-लप्सुदी अज" के आलम्भन द्वारा ही पांचों पशुओं के आलम्भन समझे जा सकते हैं। अतः याज्ञिकों के पशुहिंसा सम्बन्धी विचारों में

पर्याप्त ढील हो गई प्रतीत होती है। आठ खुर=प्रत्येक खुर फटा हुआ होने से दो-खुर रूप है। लप्सुदी=अज अर्थात् बकरे के "लप (मैं-मैं रूपी आलाप करने पर जो बाल) +सुद (सूद् क्षरणे) क्षरित होते हैं, हिलते हैं (वह दाढ़ी) + इः (औणादिकः मतुवर्थे)=लप्सुदिः। कृदिकारादक्तिनः=लप्सुदी। "नियुतो वायोः" (निघं० १।१५) में नियुत् और वायु का परस्पर सम्बन्ध दर्शाया है। सम्भवतः "नियुत्" द्वारा 'नितरां जुते हुए' करोड़ों वायुकणों का निर्देश किया है, जो कि मानो अश्व होकर वायु के काल्पनिक रथ का सदा वहन करते रहते हैं। इसलिये वायु को "सदागतिः" भी कहते हैं।

स पौर्णमास्यामालभेत ॥१६॥

वह यजमान पौर्णमासी में आलम्भन करे।

तद्वै पौर्णमास्यामेव। असौ वै चन्द्रः पशुः, तं देवाः पौर्णमास्यामा लभन्ते, यत्रैनं देवा ऽआलभन्ते तदेनमालभाऽ इति, तस्मात्पौर्णमास्याम् ॥१७॥

वह आलम्भन निश्चय से पौर्णमासी में ही होना चाहिये। निश्चय से वह चन्द्र पशु है, देव उसका पौर्णमासी में आलम्भन करते हैं। जिस काल में देव इस का आलम्भन करते हैं, उस काल में इस का मैं आलम्भन करूँ,—ऐसा वह सोचता है। इसलिये पौर्णमासी में आलम्भन करते हैं।

तद्वै फाल्गुन्यामेव। एषा हि संवत्सरस्य प्रथमा रात्रिर्यत्फाल्गुनी पौर्णमासी ॥१८॥

वह आलम्भन फाल्गुन की पौर्णमासी में ही करता है। क्योंकि यह पौर्णमासी संवत्सर की पहिली रात्रि है।

[पौर्णमासी के पश्चात् चन्द्र का कलाक्षय प्रारम्भ हो जाता है, और अमावस्या पर उस का पूर्ण कलाक्षय हो जाता है, यह उस की मृत्यु है। यह दैवी घटनाओं के कारण होता है। इन दैवी घटनाओं में मृत्यु आलङ्कारिक है, यह प्राणी का आलम्भन नहीं। परन्तु ऐसी आलङ्कारिक घटनाओं के आधार पर मनुष्य का क्या अधिकार है कि वह प्राणिवध करे। वे याज्ञिक अधिक श्रेष्ठ हैं जो कि हिरण्मय तथा

मृन्मय पशुओं द्वारा अग्निचयन का सम्पादन करते हैं (६।२।१।३८, ३९)।

शतपथ के काल में फाल्गुन-पौर्णमासी में वर्षारम्भ की सूचना मिलती है। इस सूचना के आधार पर शतपथ का काल निर्धारित करना चाहिये]।

कां० ६। अध्याय ३। ब्राह्मण १

गौ, अवि का प्रतिनिधि रासभ

त ऽएतमेकं पशुं द्वाभ्यां पशुभ्यां प्रत्यपश्यन्, रासभं गोश्चावेश्च ॥२३॥

उन (देवों) ने इस एक पशु को दो पशुओं के प्रतिनिधिरूप में देखा, रासभ को गौ और अवि के प्रतिनिधिरूप में।

[अग्नि के आह्वान के सम्वन्ध में यह कण्डिकांश है, कि इन पशुओं को देख कर अग्नि इन की ओर आ जायगी। प्रत्यपश्यन् में "प्रति" शब्द प्रतिनिधि अर्थ को प्रकट करता है। "द्वाभ्यां पशुभ्याम् में पञ्चमी, प्रतिनिधि-अर्थ में है। "पञ्चमी प्रतिनिधौ" (सायण)। "प्रतिनिधि प्रतिदाने च यस्मात्" (अष्टा० २।३।११), तथा "प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः" (अष्टा० १।४।९२); यथा "प्रद्युम्नः कृष्णात् प्रति" अर्थात् प्रद्युम्न कृष्णस्य प्रतिनिधिः (भट्टोजि दीक्षित)। इस वर्णन से यह प्रकट होता है कि गौ और अवि के स्थान में केवल रासभ द्वारा भी अग्निचयन की विशिष्ट क्रिया सम्पन्न हो सकती है। गौ दूध द्वारा और बैलों के उत्पादन द्वारा महोपकारी है, और अवि दूध और ऊन के प्रदान द्वारा महोपकारी है। रासभ तो केवल भार ढोने के कारण अल्पोपकारी हैं। अतः गौ और अवि के प्रतिनिधिरूप में रासभ को माना हैं]।

अनद्धापुरुषं पुरुषात्। एष वा ऽअनद्धापुरुषो यो न देवानवति न पितॄन्न मनुष्यान् ॥२४॥

देवों ने अनद्धापुरुष को पुरुषों के प्रतिनिधिरूप में देखा। यह अनद्धापुरुष है जो कि न देवों को तृप्त कर सकता है, न पितरों को, और न मनुष्यों को।

[अवति=अव् तृप्तौ। अनद्धा=अद्धा सत्यनाम (निघं ३।१०), अतः अनद्धा=असत्य अर्थात् अवास्तविक, कृत्रिम पुरुष।"अनद्धापुरुष-मलीकपुरुषम्, पुरुषात् प्रत्यपश्यन् पुरुषस्थाने कलितवन्तः" (सायण)। इस आधार पर आङ्गलभाषा में शतपथ के अनुवादकर्त्ता "जूलियस ऐगलिङ्ग" अनद्धापुरुष का अर्थ करते हैं "Thus probably a counterfeit of a man, a dol or human effigy."अर्थात् बनावटी पुरुष, गुड़िया या मनुष्य की प्रतिकृति, प्रतिमूर्ति। कण्डिका २३ और २४ द्वारा, शतपथ के रचयिता ने यथासम्भव यज्ञ में पशुहिंसा कम करने की ओर अपनी रुचि दर्शाई है, विना इस रुचि के रासभ को गौ और अवि का, तथा अनद्धापुरुष को वास्तविक पुरुष का प्रतिनिधि कहना निष्प्रयोजन हो जायगा। शतपथ में अधियज्ञ और अधिदैवत तत्त्वों में परस्पर प्रतिरूपता स्थान-स्थान में दर्शाई है। अनद्धापुरुष भी द्युलोकस्थ 'विप्रमुण्ड' का प्रतिरूप है। दोनों ही अप्राणी होने के कारण देव, पितृ, मनुष्य की तृप्ति करने में असमर्थ हैं। अतः अनद्धापुरुष वास्तविक पुरुष नहीं। विप्रमुण्ड संलग्न चित्रपट संख्या (२) में, डिगरी ४० और ६० के मध्य में दर्शाया है।

शतपथ के रचनाकाल में पशुवध,—विशेषतया पुरुषवध के विरोध में उग्रभावना जड़ पकड़ गई थी,—इस सम्बन्ध में शतपथ कां० १३अध्याय ६ ब्राह्मण २। कण्डिका १२, १३ का हिन्दी अनुवाद स्वरचित "वैदिक पशुयज्ञ मीमांसा"से उद्धृत किया जाता है। यथा,पशु अर्थात् पुरुष-पशु पर्यग्निकृत हुए, विना संज्ञपन के ॥१२॥ तब इसको वाणी बोली" कि हे पुरुष! न मार। यदि मारेगा तो पुरुष ही पुरुष को खाएगा। अतः उन को पर्यग्निकृत करके ही छोड़ दिया" (१३)।

पर्यग्निकरण का अभिप्राय है,—उनके चारों ओर अग्नि को घुमाना। इन दो कण्डिकाओं (१२, १३) से प्रतीत होता है कि "अग्निचयन" में वर्णित अनद्धापुरुष जीवित पुरुष नहीं, अपितु वह आधिदैविक विप्रमुण्ड का प्रतिरूप कृत्रिम पुरुषाकृतिरूप ही है। पुरुष के वध का निषेध इसलिये हुआ कि पुरुषवध करने पर, बदला लेने से, पुरुष ही पुरुष को खाता रहेगा। परन्तु यतः चतुष्पाद् पशु बदला नहीं ले सकते इसलियें गरीबमार कर लेने पर कोई भय नहीं।

याज्ञिकों की यह नैतिक कमजोरी हैं । "वाणी" से अभिप्राय या तो अन्तरात्मा की आवाज से है, या वेदवाणी से] ।

कां० ६ । अध्याय ४ । ब्राह्मण ४

उखा संभरणादि

अग्निचयन[1] के मुख्य तीन प्रक्रम हैं, (१) उखा सम्भरण अर्थात् एक छोटी-अंगीठी का निर्माण; (२) वेदि का निर्माण; (३) तथा वेदि की भूमि पर नानाविध इष्टकाओं द्वारा पांच तहों (layers) में एक विशिष्ट रचना कर, उस पर अग्निस्थापन के लिये कुण्ड का निर्माण करना ।

उखा के आठ भाग होते हैं, निधि अर्थात् तला, दो उद्धी[2] अर्थात् तले की परिधि से ऊँचे उठाए गए दो घेरे, तिरश्ची रास्ना अर्थात् कटिबन्ध, ये सब चार, तथा चार खड़ी पट्टियां (श० ६।२।२।२५) । यथा "अष्टका वा ऽउखा, निधिर्द्वा ऽउद्धी, तिरश्ची रास्ना तच्चतुः, चतस्र ऊर्ध्वास्तदष्टौ" ।

उखा के निर्माण के लिये, एक या दोनों किनारों में तेज अभ्रि[3],

---

१. यजुर्वेद अध्याय ११ से १८ तक, तथा शतपथ काण्ड ६ से १० तक में अग्निचयन का विस्तृत वर्णन याज्ञिक पद्धति के अनुसार है ।

२. उद्धिः=उद्+धा+किः (उपसर्गे घोः किः, अष्टा० ३।३।९२) ।

३. अभ्रि द्वारा पृथिवी को खोदकर अग्नि के निकालने के आध्यात्मिक स्वरूप पर भी यजुर्वेद के मन्त्रों तथा शतपथ में निर्देश मिलते हैं । यजुर्वेद के ११वें अध्याय से अग्निचयन की विधि का प्रारम्भ होता है। अध्याय के प्रारम्भ के ९ मन्त्र योगविधिपरक हैं। इन मन्त्रों की व्याख्या शतपथ में भी योगपरक ही हुई है। व्याख्या के लिये (परिशिष्ट १) मन्त्रसंख्या १ से ९ तक देखो। इन ९ मन्त्रों के पश्चात् १०वें मन्त्र से अभ्रि आदि का वर्णन हुआ है। वस्तुतः अग्निचयन प्रकरण में दो प्रकार की पञ्चचितियों में दो प्रकार की अग्नि का प्रदीपन हुआ है, एक आध्यात्मिक और दूसरी अधियज्ञ । इसीलिये शतपथ में शारीरिक संगठन को 'पञ्चचिति' कहा है, जिसमें कि योगविधि द्वारा ब्रह्माग्नि का चयन करना है। यथाः—"पञ्च तन्वो व्यस्रꣳसन्त लोम, त्वङ्, माꣳसमस्थि, मज्जा,—ता एवैताः पञ्चचितयः" (श० ६।१।२।१७)। तथा अधियज्ञ

अर्थात् वांस की वनी खुरपी लेकर मिट्टी खोदते हैं, और इस मिट्टी को ढोने, आदि कार्यों में अनद्धापुरुष (६।३।३।४; तथा ६।४।४।१४) को देखते हुए, अश्व, रासभ, तथा अज की सहायता लेते हैं, जहां से मिट्टी खोदनी होती है वहा तक अश्व, रासभ अथा अज को इसी क्रम से ले जाते हैं, और इन्हें लौटाते हुए इन का क्रम होता है अज, रासभ और अश्व (श० ६।४।४।१२)। यथा—

अथैतान् पशूनावर्तयन्ति। तेषामजः प्रथम एति, अथ रासभो ऽथाश्वः। अथेतो यतामश्वः प्रथम एति, अथ रासभो ऽअथाजः। क्षत्रं वा ऽअन्वश्वो, वैश्यं च शूद्रं चानु रासभो ब्राह्मणमजः ॥१२॥

अब इन पशुओं को लौटाते हैं। उनमें अज पहिला होता है, फिर रासभ, फिर अश्व। तथा वे जब इधर से जाते हैं [मिट्टी के लिये] तब अश्व पहिला होता है, फिर रासभ, फिर अज। क्योंकि अश्व है क्षत्रिय, रासभ है वैश्य और शूद्र, तथा अज है ब्राह्मण।

तद्यदितो यतामश्वः प्रथम ऽएति तस्मात् क्षत्रियं प्रथमं यन्तमितरे त्रयो वर्णाः पश्चादनु यन्ति। अथ यदमुत ऽआयतामजः

पञ्चचितियों का वर्णन तो शतपथ में स्पष्ट ही है।

अभ्रि के सम्बन्ध में आध्यात्मिक दृष्टि में शतपथ में कहा है कि "स वा ऽअभ्रया खनन् वाचा खनामि खनाम ऽइत्याह, वाग्वा ऽअभ्रिः" (श० ६।४।१।५); तथा (श० ६।३।१।३३-३६)। अभ्रि को "हिरण्ययी" भी कहा है (यजु० ११।१०)। हिरण्ययी के सम्बन्ध में शतपथ में कहा है कि "यद्वा ऽएषा छन्दाँसि तेनैषा हिरण्यममृतँ हिरण्यममृतानि छन्दाँसि" (श०६।३।१।४२), अर्थात् यह वाक् छन्दोमयी है, इस कारण यह हिरण्यमयी और अमृतरूपा है, क्योंकि छन्द हिरण्यमय और अमृत हैं। इस प्रकार अभ्रि, अर्थात् वाक्, छन्दोमयी वेदवाणी है। इसी छन्दोमयी वेदवाणी को हस्तगत करके "हस्त आधाय" (यजु० ११।१०), और आग्नेय-ज्योति अर्थात् ब्रह्ममयी-ज्योति का स्थान देखकर, निश्चित कर, "निचाय्य" (यजु० ११।११); पार्थिव-शरीर के उस स्थान से योगी इस ब्रह्ममयी-ज्योति को प्राप्त करता है, वैदिक छन्दों के द्वारा; अर्थात् छन्दों में निर्दिष्ट विधियों के द्वारा (यजु० ११।११)। इस प्रकार आध्यात्मिक अभ्रि का वर्णन संक्षेप में दर्शाया है।

प्रथम ऽएति तस्माद् ब्राह्मणं प्रथमं यन्तमितरे त्रयो वर्णाः पश्चादनुयन्ति। अथ यन्नैतो यतां नासुतो रासभः प्रथम ऽएति तस्मात् न कदाचन ब्राह्मणश्च क्षत्रियश्च,—वैश्यं च शूद्रं च पश्चादन्वितः। तस्मादेवं यन्ति, अपापवस्यसाय। अथो ब्रह्मणा चैवैतत्क्षत्रेण चैतौ वर्णावभितः परिगृह्णीतः ऽनपक्रमिणौ कुरुते ॥१३॥

चूंकि [यज्ञस्थल] से जाते हुओं में अश्व पहिले जाता है, अतः क्षत्रिय के पहिले चलने पर पीछे-पीछे तीन वर्णों के शेष व्यक्ति चलते हैं। तथा उधर से आते हुओं में अज पहिले आता है अतः ब्राह्मण के पहिले चलने पर पीछे-पीछे तीन वर्णों के शेष व्यक्ति चलते हैं। और जो कि यहां से चलते हुओं और वहां से आते हुओं में रासभ पहिले नहीं चलता, अतः ब्राह्मण और क्षत्रिय कभी भी, वैश्य और शूद्र के पीछे-पीछे नहीं चलते। यह शिष्टाचार की व्यवस्था है। अतः ब्राह्मण और क्षत्रिय द्वारा वह इन दोनों वर्णों अर्थात् वैश्य और शूद्र को घेर लेता है, अर्थात् उन्हें इन दोनों के वश में करता है।

[श० ६।३।१।१३) में रासभ को गौ और अवि का प्रतिनिधि कह कर, अग्निचयन के पशुओं की ५ संख्या में ह्रास किया है, और इसी प्रकार (श० ६।४।४।१२) में भी तीन ही पशुओं द्वारा प्रारम्भिक विधि पूर्ण मानी हैं, अर्थात् अश्व, रासभ तथा अज द्वारा। अनद्धा-पुरुष (श० ६।४।४।१४) की स्थिति तो केवल दर्शन के लिये ही कही है। प्रदर्शित शिष्टाचार में शतपथ के काल में जन्ममूलक वर्णव्यवस्था की झलक प्रतीत होती है। यज्ञों आदि में ब्राह्मण सर्वाग्रणी है, और प्रशासन में क्षत्रिय। कण्डिका (श० ६।४।४।१२,१३) में रासभ द्वारा वैश्य और शूद्र का निर्देश किया है।

अनद्धापुरुष को केवल देखने मात्र से उसका, मिट्टी लाने में, सहयोग माना है। वह कृत्रिम पुरुष हैं, अतः सक्रिय सहयोग नहीं दे सकता]।

कां० ६। अध्याय ५। ब्राह्मण २

पलाश[1] वृक्ष की गोंद, पानी में डाल कर, पके पानी को मिट्टी में

१. पर्णकषायनिष्पक्वा ऽएता आपो भवन्ति (श० ६।५।१।१)।

मिलाकर, उस गारे में वकरे[1] के लोमों को मिलाता है। फिर रेत[2], वजरी, और लोहे का चूर्ण इस गारे में मिलता है, ताकि इस गारे से निर्मित उखा सुदृढ हो सके। इस गारे को अच्छी प्रकार गूंधता है (प्रयौति)। [यह मिश्रण सीमण्ट से भी अधिक पक्का हो जाता है]। उखा का तला (निधि) बनाने के लिये गारे में से एक पिण्ड लेता है। पिण्ड को फैला कर बालिश्त (प्रदेश) भर चौड़ा करता है, और इस के किनारों को चारों ओर से ऊंचा करता है।[3] इसके लिये वह प्रथम[4] निचली ऊँचाई को खड़ा करता है। (उद्धिम्)। तदनन्तर उस पर दूसरी[5] ऊँचाई। (उद्धिम्) को खड़ा करता है। इस उखा को प्रादेश-मात्र अर्थात् बालिश्त भर ऊँची तथा बालिश्त[6] भर चौड़ी करता है (कण्डिका ८)। प्रादेश=९ इंच।

यदि एक पशु से अग्निचयन करे तो एक बालितश्भर ऊँची और चोड़ी उखा बनाए, यदि पांच-पशुओं से अग्निचयन करना हो तो पांच बालिश्तभर ऊँची और चौड़ी उखा बनाए (श० ६।५।२।१०)। यहां पर भी पशुसंख्या में विकल्प दर्शाया है। परन्तु इस स्थान में शतपथ के रचयिता की रुचि एक पशु के पक्ष में ही प्रतीत होती है (कण्डिका ८)]।

उखा के ऊपर से तीसरे भाग पर रास्ना अर्थात् कटिबन्ध बनाता 'रास्ना पर्यस्यति' (कण्डिकाएँ ११,१२)। तदनन्तर उखा के बाहिर के पृष्ठ पर चार[7] खड़ी पट्टियां बनाता हैं। फिर खड़ी पट्टियों पर चार स्तन बनाता है (कण्डिका १८)। इस प्रकार उखा को गौ का रूप देता है, "सैषा गौरेव" (कण्डिका १७)। यह उखा मृन्मयी योनि है अग्नि[8] के लिये।

---

१. अथाजलोमैः संसृजति (श० ६।५।१।४)।
२. शर्कराश्मायोरसः तेन संसृजति स्थेम्ने (श० ६।५।१।६)।
३. तां प्रादेशमात्रीं कृत्वाथास्यै सर्वतस्तीरमुन्नयति (श० ६।५।३।२)।
४. अथ पूर्वमुद्धिमादधाति (श० ६।५।२।४)।
५. अथोत्तरमुद्धिमादधाति (श० ६।५।२।५)।
६. तां प्रादेशमात्रीमेवोर्ध्वां करोति, प्रादेशमात्रीं तिरश्चीम् (श० ६।५।२।८)। ७. अथ चतस्र ऊर्ध्वा करोति (श० ६।५।२।१४)।
८. मृन्मयीं योनिमग्नये, मृन्मयी ह्येषा योनिरग्नेः (श० ६।५।२।२१)।

[याज्ञिक विधियां आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक घटनाओं और इनके घटक तत्त्वों की प्रतिनिधिरूप में ब्राह्मण ग्रन्थों में दर्शाई हैं। इसलिये उखा को निम्नशब्दों में प्रकट किया है। यथा "यो वा एष निधिः प्रथमः, अयं स लोकः। यः पूर्व उद्धिरन्तरिक्षम्। तद्य उत्तरो, द्यौः सा। अथ यदेतच्चतुर्थं यजुर्दिशो हैव तत्। एतावद्वा इदं सर्वं यावदिमे च लोका दिशश्च" (श० ६।५।२।२२), अर्थात् इस उखा की जो यह प्रथम निधि (तला) है, यह वह लोक अर्थात् पृथिवी है, जो पहली उद्धि (निचली ऊँचाई) है[वह अन्तरिक्ष लोक है, जो दूसरी उद्धि है वह द्युलोक है, और जो चतुर्थ यजुः है, यजुर्मन्त्र का चतुर्थ[1] पाद है, – यह दिशाएँ हैं। इतना ही तो यह सब है जितने कि ये लोक हैं और दिशाएँ हैं। यजु० ११।५८ मन्त्र को दिशाएँ इसलिये कहा प्रतीत होता है कि इस मन्त्र में ४ अवसान हैं, और इन अवसानों के चार देवता यथाक्रम हैं,– वसवः, रुद्राः, आदित्याः और विश्वेदेवा वैश्वानराः। ये चतुर्विध देवता त्रिलोकी का धारण कर रहे हैं। अतः इन्हें चार दिशाओं का प्रतिनिधि कहा है। दिशाएँ त्रिलोकी का धारण करती हैं इसे आलङ्कारिक भाषा में दर्शाया है। यथा "अन्तरिक्षं जालमासीज्जालदण्डा दिशो महीः" (अथर्व० ८।८।५), अर्थात् अन्तरिक्ष है जाल, और बड़ी दिशाएँ है जाल के दण्ड, जिन के सहारे कि अन्तरिक्षरूपी जाल ठहरा हुआ है। इस प्रकार दिशाओं को, त्रिलोकी के, आधार-दण्ड कहा है।

मन्त्र ११।५८ निम्नलिखित है:—

वसवस्त्वा कृण्वन्तु गायत्रेण छन्दसा ऽङ्गिरस्वद् ध्रुवासि पृथिव्यसि धारया मयि प्रजाँ रायस्पोषं गौपत्यँ सुवीर्यँ सजातान् यजमानाय। रुद्रास्त्वा कृण्वन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसा

---

१. अथैतेन चतुर्थेन यजुषा करोति "विश्वे त्वा देवा वैश्वानराः कृण्वन्त्वानुष्टुभेनच्छन्दसाऽङ्गिरस्वत्" (यजु० ११।५८; श० ६।५।२।६)। "दिशो हैतद्यजुः, एतद्वै विश्वेदेवा वैश्वानरा एषु लोकेषूखायामेतेन चतुर्थेन यजुषा दिशो ऽदधुः" (श० ६।५।२।६)। अथवा मन्त्रगत "दिशो ऽसि" का अभिप्राय है कि 'यह समग्र यजुर्मन्त्र जगत् के निर्माण, धारण, तथा पोषण के सम्बन्ध में निर्देश देता है। दिश = निर्देश।

ऽङ्गिरस्वद् ध्रुवास्यन्तरिक्षमसि धारया मयि प्रजाँ रायस्पोषं गौपत्यँ सुवीर्यँ सजातान् यजमानाय । आदित्यास्त्वा कृण्वन्तु जागतेन छन्दसा ऽङ्गिरस्वद् ध्रुवासि द्यौरसि धारया मयि प्रजाँ रायस्पोषं गौपत्यँ सुवीर्यँ सजातान् यजमानाय । विश्वे त्वा देवा वैश्वानराः कृण्वन्त्वानुष्टुभेन छन्दसा ऽङ्गिरस्वद् ध्रुवासि दिशो ऽसि धारया मयि प्रजाँ रायस्पोषं गौपत्यँ सुवीर्यँ सजातान् यजमानाय ॥ (यजु० ११।५८) ॥

कां० ६ । अध्याय ५ । ब्राह्मण ३

अषाढा तथा विश्वज्योतिष् इष्टकाएं

तस्या एतस्या अषाढां पूर्वां करोति। इयं वा ऽअषाढेयमु वा ऽएषां लोकानां प्रथमा ऽसृज्यत ॥१॥

इसी मिट्टी से, पहले [यजमान पत्नी] अषाढ़ा नाम वाली इष्टका [ईंट] बनाती है। यह पृथिवी[1] अषाढा है। यह पृथिवी इन लोकों में से सब से पहिले बनाई गई थी।

[अषाढा है पृथिवी आधिदैविक तत्त्व। अषाढ का अर्थ है सोढुमशक्या, अपराभवनीया। जब से पृथिवी पैदा हुई तब से वह पूर्ववत् वनी हुई है। कोई शक्ति इसका विनाश नहीं कर सकी। यह स्वसौरमण्डल में प्रथम पैदा हुई। तथा कालान्तर में निवासयोग्या हुई है। अन्यग्रह अभी गर्म हैं, अतः निवास योग्य नहीं हुए। अथवा प्रथमा=सर्वश्रेष्ठा, क्योंकि इसी में प्राणी सृष्टि है]।

पादमात्री भवति। त्र्यालिखिता भवति त्रिवृद्धीयम् ॥२॥

अषाढा-इष्टका पादपरिमाण की [लम्बी-चौड़ी] होती है। इस पर तीन रेखाएँ होती हैं, यह पृथिवी भी त्रिविधा है।

[तीन रेखाएँ इसलिये कि पृथिवी भी त्रिविधा है,—सामुद्रिक, समतलीय, तथा पर्वतीय, या उष्णकटिबन्ध, शीतोष्ण-कटिबन्ध, तथा शीतकटिबन्ध वाली[2]। त्रिवृत्=त्रिधा वर्तते इति]।

---

१. पृथिवीरूपी अषाढा को परमेश्वरी जगत्स्रष्ट्वत्वशक्ति बनाती है।

२, गर्म, गर्म-सर्द, तथा सर्द रूप में पृथिवी तीन भागों में विभक्त है।

अथोखां करोति,इमाँस्तल्लोकान् करोति। अथ [१]विश्वज्योतिषः करोत्येता देवता ऽग्निं वायुमादित्यमेता ह्येव देवता विश्वं ज्योतिः, यजमानः करोति। त्र्यालिखिता भवन्ति। त्रिवृतो ह्येते देवाः। इत्यधिदैवतम् ॥३॥

अब यजमान उखा का निर्माण करता है, इस द्वारा इन लोकों का निर्माण करता है। विश्वज्योतिष् [इष्टकाओं] का निर्माण करता है, इस द्वारा वह इन देवताओं का निर्माण करता है अग्नि,वायु, आदित्य का। ये तीन विश्वज्योतिष् हैं। ये इष्टकाएँ प्रत्येक तीन रेखाओं वाली होती हैं, ये देव त्रिवृत् हैं, त्रिविध हैं, यह देवों के विषय में हुआ।

[त्रिवृतः=यतः तीन विश्वज्योतिष् इष्टकाओं में से प्रत्येक पर तीन-तीन रेखाएँ होती हैं, इसलिये तीन देवों में से प्रत्येक देव त्रिविध होना चाहिये। सम्भवतः यह सूचित किया है कि अग्नि आदि त्रिविध देव आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिकरूप में त्रिविध हैं। इस प्रकार अग्नि आदि त्रिविध देवतपदों के त्रिविध अर्थ हैं। या अग्नि, वायु आदि तीन हैं, इसलिये इन्हें त्रिवृत् कहा हो]।

अथाध्यात्मम्। आत्मैवोखा वागषाढा, तां पूर्वां करोति, पुरस्ताद्धीयमात्मनो वाक्, तामेतस्या एव मृदः करोति, आत्मनो ह्येवेयं वाक्, महिषी करोति, महिषी हि वाक्। त्र्यालिखिता भवति, त्रेधा विहिता हि वाक्,—ऋचो यजूँषि सामानि। अथो यदिदं त्रयं वाचो रूपम्,—उपाँशु व्यन्तरामुच्चैः ॥४॥

अब उखा का अध्यात्म स्वरूप। आत्मा ही उखा है, वाक् अषाढा है। उसे [यजमानपत्नी] पहिले निर्मित करती है, पहिले ही वाक्,

---

१. यजमान 'विश्वज्योतिषः' इष्टकाओं का निर्माण मृत् (मिट्टी) से करता है, परमेश्वर प्रकृतिरूपी मृत् (मिट्टी) से अग्नि, वायु, आदित्यरूप ज्योतियों का निर्माण करता है। वायु में विद्युत्-रूपी ज्योति अन्तर्निहित रहती है, जो कि वर्षर्तु में बादलों में प्रकट होती है। जीवात्मा कारणशरीर से ज्ञानेन्द्रिय तथा मन रूपी ज्योतियों का निर्माण करता है। तभी मन्त्र में ज्ञानेन्द्रियों को ज्योतिः और मन को 'ज्योतिषां ज्योतिः' कहा है (यजु० ३४।१)।

आत्मा से निर्मित हुई है। उसे इसी मिट्टी से निर्मित करती है, क्योंकि आत्मा से ही यह वाक् निर्मित हुई है। महिषी अर्थात् यजमानपत्नी इसे निर्मित करती है, वाक् भी महिषी है। यह तीन रेखाओं वाली होती है, वाक् तीन प्रकार की विहित है,—ऋक्, यजुः तथा साम। तथा वाक् का त्रिविधरूप है उपांशु, व्यन्तरा और उच्चैः ॥४॥

['आत्मा' शब्द चेतनाधिष्ठित शरीर का वाचक है। इस अर्थ में शतपथ में 'आत्मा' शब्द यहां प्रयुक्त हुआ है। आत्मा द्विविध है परमेश्वरात्मा तथा जीवात्मा। परमेश्वरात्मा प्रकृतिरूपी या महत्तत्त्व-रूपी शरीर का अधिष्ठाता है, और जीवात्मा सेन्द्रिय-शरीर का अधिष्ठाता है। कण्डिका (४) में प्रकृति और सेन्द्रियशरीर में गौणरूप[1] से मृत्[2] शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रकृति के अधिष्ठाता परमेश्वर को शतपथ में प्रजापति कहा है। प्रकृति से ही वह जड़ जगत् और सेन्द्रिय शरीर रूपी प्रजाओं को उत्पन्न कर उनका पति बना है। वाक् महिषी है, प्रथम प्रकटित महती-शक्ति है, जो कि ऋक्, साम और यजुःरूपा है। इस महिषी वाक् का सम्बन्ध प्रजापति के साथ हुआ। यह सर्व-प्रथम प्रकटित हुई है। इसी के अनुसार प्रजापति ने सृष्टि रची है (देखो शतपथ, ६।१।१।८)। इस वाक् का प्रजापति के साथ नित्य सम्बन्ध हैं। इसी प्रकार सेन्द्रियशरीर के जीवात्मा का सम्बन्ध भी महिषी अर्थात् महतीशक्तिरूपी वाक् के साथ है बच्चा जन्म लेते ही चिल्लाता है। यह चिल्लाना महत्त्वशालिनी वाक् है। न चिल्लाने पर बच्चे की मृत्यु की आशङ्का बनी रहती है। बच्चे की यह वाक् कालान्तर में उपांशु, व्यन्तरा और उच्चैः वाक् का रूप धारण करती है। उपांशु है धीमी वाक्, उच्चैः है ऊँची वाक्, और व्यन्तरा है दोनों के मध्यवर्ती वाक्। व्यन्तरा=वि (द्वि)+अन्तरा (मध्यवर्ती)। यथा विंशतिः=वि (द्वि)+शतिः (दशम्), विंशतिर्द्विदशतः (निरुक्त ३।२।१०)। तथा उच्चैः=उदात्त वाक्, उपांशु=अनुदात्त वाक्, व्यन्तरा अर्थात् द्वयन्तरा हैं स्वरितवाक्, उदात्तानुदात्तमिश्रितवाक्]।

---

१. मृत् है मिट्टी जैसे मिट्टी उपादान कारण है पार्थिव पदार्थों का, वैसे प्रकृति उपादान कारण हैं ब्रह्माण्ड का, और कारणशरीर उपादान कारण है सूक्ष्मशरीर तथा स्थूल शरीर का।

२. 'पृथिवी शरीरम्', तथा 'पृथिव्याः शरीरम्' (अथर्व० ५।९।७; ५।१०।८)।

अध्यात्मपक्ष में विश्वज्योतिषः के स्वरूप। यथा,—

अथोखां करोति। आत्मानं तत् करोति। अथ विश्व ज्योतिषः करोति प्रजा वै विश्वज्योतिः, प्रजननमेवैतत् करोति। ता एतस्या एव मृदा करोति, आत्मनः तत् प्रजां निर्मिमीते। यजमानः करोति, यजमानः तदात्मनः प्रजां करोति, अनन्तर्हिताः करोति, अनन्तर्हितां तदात्मनः प्रजां करोति, उत्तराः करोति, उत्तरां तदात्मनः प्रजां करोति, त्र्यालिखिता भवन्ति, त्रिवृद्धि पिता, माता, पुत्रः, अथो गर्भः, उल्बं, जरायु ॥५॥

अब उखा (अंगीठी) का निर्माण करता है। इस द्वारा वह अग्नि के शरीर का निर्माण करता है, अथवा जीवात्मारूपी अग्नि के शरीर का निर्माण करता है। तदनन्तर "विश्वज्योतिषः" इष्टकाओं का निर्माण करता हैं। अध्यात्म में मानों जीवात्मा,गृहस्थयज्ञ के यजमान रूप में प्रजापतिरूपी विश्वज्योतियों का निर्माण करता है। इस द्वारा वह सन्तान प्रजनन ही करता है। यजमान उन इष्टकाओं को इसी मिट्टी से रचता है, इसी प्रकार मृत्[1] (मिट्टी) रूपी शरीर से गृहस्थ-यज्ञ का यजमान, निज शरीर से प्रजा को रचता है। वह यजमान विना व्यवधान के इष्टकाओं का निर्माण करता है। गृहस्थयाजी भी विना व्यवधान के निज मृन्मय शरीर से प्रजा की रचना करता है। यजमान, उखानिर्माण के उत्तरकाल में, इष्टकाओं का निर्माण करता है, इसी प्रकार गृहस्थयाजी निजशरीर की सत्ता के उत्तरकाल में निजशरीर से प्रजा का निर्माण करता है। विश्वज्योतिषः इष्टकाओं पर तीन-तीन रेखाएं होती हैं। पिता,माता तथा सन्तान ये भी त्रिवृत् हैं, तथा गर्भ, उल्व, जरायु त्रिवृत् है। उल्वम्=गर्भाशयस्थ गर्भ पर लिप्टी झिल्ली। जरायु=जेर।

[इस प्रकार पिता, माता तथा सन्तति को अध्यात्म में विश्व-ज्योतिषः कहा है। वस्तुतः इन तीनों में से एक के भी बुझ जाने पर गृह-स्थजीवन अन्धकारमय हो जाता है। परमेश्वर भी सृष्टियज्ञ का यज-

---

१. द्र० पृ० ४२ की टिप्पणी २।

मान है। वह भी प्रकृतिरूपी मृन्मय निज देह से समग्र जगद् को रचता हुआ, गृहस्थी माता-पिता के शरीरों की रचना कर, तद् द्वारा उन की सन्तानों की भी रचना करता है]।

उखा-परिपाक

अथैनां धूपयति ॥८॥

अब [अध्वर्यु] इस उखा को धूपित करता है, धूम्रां देता है।

अश्वशकैर्धूपयति ॥९॥

अश्व की लोद द्वारा धूम्रां देता है।

सप्ताश्व शकानि भवन्ति ॥१०॥

अश्व की लीद के सात टुकड़े या उपल होते हैं।

कां० ६। अध्याय ५। ब्राह्मण ४। कं० १-१७

अथैनमस्यां खनति ॥१॥

अब इस पृथिवी में इस अर्थात् गढ़े को खोदता है।

चतुः स्रक्तिरेष कूपो भवति। अथ पचनमवधायाषाढामव-दधाति, ताᳪंहि पूर्वां करोति ॥३॥

यह कूप अर्थात् गढ़ा चौकोन होता है। अब गढ़े में इन्धन डाल कर अषाढा-इष्टका को उसमें रख देता है, क्योंकि उसका निर्माण सर्व प्रथम हुआ है॥

अथोखामवदधाति। अथ विश्वज्योतिषो ऽवदधाति। अथ पचनमवधायाभीन्द्धे ॥४॥

अब उखा को रख देता है। तदन्तर विश्वज्योतिष् इष्टकाओं को रखता है तदनन्तर इन्धन रखकर उसे जलाता है।

तां दिवैवोपवपेद् दिवोद्वपेत् ॥१०॥

उस उखा पर दिन के समय ही इन्धन डाले, और दिन के समय [राख] निकाले।

अथैनां पर्यावर्तयति ॥१२॥

अब इस उखा को पलटता है।

अथैनामुद्यच्छति ॥१३॥ तां परिगृह्य निदधाति ॥१४॥

अब इस उखा को उठाता है [गढ़े से निकालता है] ॥१३॥ उसे ग्रहण करके पृथिवी पर रख देता है ॥१४॥

अथैनामाच्छृणत्ति। अथो योषा वा उखा योषायां तत्पयो दधाति ॥१५॥

अब इस उखा में [दूध] डालता है। उखा है योषा, योषा में उस दूध को स्थापित करता है।

अजयै पयसा ऽऽच्छृणत्ति। अजा हि सर्वा ओषधीरत्ति, सर्वासामेवैनामेतदोषधीनां रसेनाच्छृणत्ति ॥१६॥

अजा (बकरी) के दूध को डालता है। अजा सब ओषधियों को खाती है। अतः सब ओषधियों के रस को इस उखा में डालता है। [इस प्रकार अज के दूध को श्रेष्ठ माना है]।

कां० ६। अध्याय ६। ब्राह्मण १

मुञ्ज कुलायेनास्तीर्णा भवति, आदीप्यादिति ॥२३॥ शणकुलायमन्तरं भवति, आदीप्यादिति ॥२४॥

मुञ्ज से से घिरी हुई उखा होती हैं,ताकि सब ओर से जल सके॥ ॥२३॥ मुञ्जस्तर के अभ्यन्तर की ओर सन का स्तर होता है, ताकि सब ओर से जल सके॥२४॥

कां० ६। अध्याय ६। ब्राह्मण २। कं० १-१६

उखा आदीपन तथा समिदाधान

तां तिष्ठन् प्रवृणक्ति (१)॥ अथैनामर्चिरारोहति (८)॥ अथास्मिन् समिधमादधाति (१०)॥ सा कार्मुकी स्यात् (११)॥ प्रादेशमात्री भवति (१२)॥ घृते न्युत्ता भवति॥ (१३)॥ स्वाहाकारेण ॥१४॥

खड़ा होकर उस उखा को आग पर रखता है (१)। जब उखा तक ज्वाला उठती है (८)। तब इस ज्वाला में स्वाहाकार पूर्वक।

(१४)। समिदाधान करता है (१०)। वह समिधा क्रमुक वृक्ष की होती है (११)। ९ इंच (प्रादेश) भर होती है (१२)। घृत द्वारा क्लिन्न होती है (१३)। [न्युत्ता=नि+उन्दी क्लेदने+क्त]

तद्वा ऽऽआत्मैवोखा, योनिर्मुञ्जः, शणा जरायु, उल्वं घृतम्, गर्भः समित् ॥१५॥

उखा हैं शरीर, मुञ्ज है योनि, सन है जरायु (जेर), घृत है उल्व, समित् है गर्भ।

उखा=शरीर
मुञ्ज=योनि
सन=जरायु (जेर, गर्भ का बाहिर का आवरण)
घृत=उल्व (गर्भ पर भीतरी आवरण, Amnion.)।
समित्=गर्भ (Embryo)।

कां० ६। अध्याय ६। ब्राह्मण ३। कं० १-१७

अथ वैकङ्कतीमादधाति (१)। अथौदम्बरीमादधाति (२)। अथापरशुवृक्णामादधाति (५)। अथाधःशयमादधाति। (६)। अथैता ऽउत्तराः पालाश्यो भवन्ति (७)। अहरहरप्रमादं भरन्तः (८)। ताः त्रयोदश सम्पद्यन्ते (१६)। प्रादेशमात्र्यो भवन्ति, स्वाहाकारेण (१७)।

तदन्तर विकङ्कतवृक्ष की समिधा का आधान करता है (१)। फिर उदुम्बर (गूलर) की समिधा का आधान करता है (२)। विना परशु के कटी समिधा का आधान करता है (५)। तत्पश्चात् नीचे भूमि पर पड़ी समिधा का आधान करता है (६)। तदनन्तर इन अन्य पलाश (ढाक) की समिधाओं का आधान करता है (७)। प्रतिदिन विना प्रमाद के समिदाधान करता है (८)। वे सब १३ हो जाती हैं (१६)। वे प्रादेश (९ इंच) परिमाण वाली होती हैं। स्वाहा शब्द के उच्चारणपूर्वक समिदाधान करता है (१७)।

[यह समिदाधान, उखानिष्ट अग्नि में, प्रतिदिन सायं-प्रातः विना

प्रमाद किया जाता है (६।६।४।१,२)। यह मानो यजमान का दैनिक अग्निहोत्र है। प्रत्येक समिधा घृत लिप्त हुती है (६।६।२।१३), इस प्रकार घृताहुति भी सम्पन्न हो जाती हैं। ये सब मन्त्रों तथा स्वाहा के उच्चारण पूर्वक होता है।

कां० ६ अ० ७ ब्रा० १ कं० १-२८

यजमान सुवर्णाभूषण (रुक्म) को पहन कर धारण किये रहता है (१) यह सुवर्णाभूषण आदित्य का प्रतिरूप है, आदित्य सदृश गोल (परिमण्डल) होता है, इसके चतुर्दिक २१ दन्दानें (निर्वाध[1]) होते हैं ॥२॥ कृष्णमृग के चर्म में सुवर्णाभूषण जड़ा होता है, चर्म के लोम भीतर की ओर होते हैं (६)। आभूषण को गले में लटकाए रखने के लिये सन के सूत होते हैं जो कि तिहरे वटे हुए होते हैं (७)। सुवर्णाभूषण को यजमान नाभि से ऊपर तक लटकाए रखता है (८)। उखास्थ अग्नि को चौकी (आसन्दी) पर रखता है (१२)। चौकी गूलर-काष्ठ (उदुम्वर) की वनी होती है (१३); चौकी प्रादेशमात्र (६ इच) ऊँची होती है, और अरत्नी भर चौड़ी (१४)। [बद्धमुष्टिकरो रत्निः, अरत्निः सकनिष्ठिका]। चौकी के चार कौने होते हैं और चार पाद, तथा तिहरे वने मुञ्जसूत्रों द्वारा बुनी (व्युता) होती है, तथा मिट्टीलिप्ता होती है ताकि इस का अतिदाह न हो सके (१५)। इसे एक छिक्के (शिकच) में रखकर लिये रहता है। छिक्का ६ रस्सियों द्वारा लटका रहता है। रस्सियां तिहरे वटे मुञ्ज की होती हैं, मिट्टी लिप्त होती है ताकि उनका अतिदाह न हो सके (१६)। छिक्के को प्रतिदिन संवत्सर भर, या प्रतिदिन कुच्छ समय के लिये यजमान लटकाए रखता है। यह अधिदेवत रूप हुआ (१९)।

अध्यात्मपक्ष में,—अग्नि हैं आत्मा (शरीर); शिक्य (छिक्का)

---

१. निर्वाध का अर्थ है निरन्तर बाधक। सूर्य की रश्मियां अन्धकार के लिये निरन्तर बाधक हैं। आदित्य की रश्मियों को २१ कहा है। आदित्य की रश्मियाँ मेघ पर पड़कर सप्तरंगी पट्टियों में विभक्त हो जाती हैं। पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक,—इन तीन लोकों में आदित्यरश्मियां सम्भवतः त्रिविध-रूप हो जाती हैं, अतः ३×७=२१। इसमें अनुसन्धान अपेक्षित है।

है प्राण, प्राणों द्वारा ही आत्मा (शरीर) स्थित रह सकता है; शिक्य की ६ रस्सियां हैं, ६ प्राण (२०)। मन है बुनियाद (प्रतिष्ठा), मन पर ही आत्मा (शरीर) ठहरा होता है, अन्न है रस्सियां, अन्न द्वारा यह शरीर प्राणों के साथ आसक्त हुआ है (२१)। [उखा=उत्खाता, खदी हुई (२३)]।

अब उखाग्नि को अर्थात् उखा को जिसमें अग्निस्थित है, तिनकों की बनी दो गद्दियों (इण्ड्व) द्वारा यजमान ग्रहण करता है जैसे कि दिन और रात आदित्य को ग्रहण किये हुए हैं (२५)। अथवा ये दो लोक (पृथिवी तथा द्यौः) हैं दो गद्दे, जो कि आदित्य को ग्रहण किये हुए हैं, थामे हुए हैं। दो गद्दे गोल (परिमण्डल) होते हैं, ये दो लोक भी गोल हैं। वे मुञ्ज के और तिहरे बटे होते हैं, मिट्टी-लिप्त, ताकि इनका अतिदाह न हो सके (२६)।

[पृथिवी और द्यौः को गोल कहा है। शतपथ के काल में पृथिवी गोल है',—यह परिज्ञान था]।

कां० ६। अध्याय ७। ब्राह्मण २। कं० १-१६

रुक्म-धारणादि, वेदि निर्माण

खड़ा हुआ यजमान उस सुवर्णभूषण (रुक्म) को पहनता है। रुक्म है वह आदित्य वह खड़ा हुआ सा रहता है (१)। [तिष्ठन्=ष्ठा गतिनिवृत्तौ, गति रहित होना। आदित्य के लिये 'तिष्ठति' का प्रयोग हुआ है। अतः वह गतिरहित है, स्थिर है। पृथिवी के अपने अक्ष पर घूमने के कारण आदित्य में गति प्रतीत होती है। 'तिष्ठतीव' में 'इव' का प्रयोग इसलिये है कि समग्र सौरमण्डल तो गतिमान् है, परन्तु सौरमण्डल में आदित्य की अपेक्षित स्थिति सदा एक ही स्थान में स्थिर रहती है] आदित्य को द्यौः ने जन्म दिया है (२)। उखाग्नि को या जिसमें अग्नि विद्यमान है उस उखा को दो गद्दियों द्वारा पकड़ कर उठाता है (३)। छिक्के की रस्सियों को गले में डालता है (४)।

वेदि की आकृतियों के सम्बन्ध में कहा है कि,—

तऍ है के। अभिमन्त्र्य चितिं चिन्वन्ति द्रोणचितं वा, रथचक्रचितं वा, कङ्कचितं वा, प्र उ गं चितं वा, उभयतः प्र उ गं वा, समुह्य-

पुरीषं वा । न तथा कुर्यात्; एनं सुपर्णचितमेव चिनुयात् (८)। अर्थात् कई याज्ञिक वेदि को द्रोणाकार करते हैं, कई चील की आकृति वाली, कई शकट के अग्रभाग जैसी, कई दोनों ओर शकट के अग्रभाग जैसी, कई मिट्टी (पुरीष) को इकट्ठे किये ढेर जैसी। परन्तु ऐसा न करे अपितु वेदि को गरुड़ पक्षी के सदृश अर्थात् उसकी आकृति वाली करे (८)। वेदि के पूर्व के भाग को ऊँचा करता है, इतना ऊँचा कि वहां तक वाहु न पहुच पाए। तदनन्तर वेदि को नीचे की ओर झुकाता जाता है, अर्थात् अपनी नाभि के ऊपर तक (९)।

विशेषः—

वेदि का निर्माण सुपर्ण (चील) की आकृति के सदृश हो,—यह कल्पना निम्नलिखित मन्त्र के आधार पर की गई है। मन्त्र,—

सुपर्णो ऽसि गरुत्मान् त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ। स्तोममात्मा छन्दाꣳस्यङ्गानि यजूꣳषि नाम। साम ते तनूर्वामदेव्यं यज्ञायज्ञियं पुच्छं धिष्ण्याः शफाः। सुपर्णो ऽसि गरुत्मान् दिवं गच्छ स्वः पत॥ (यजु० १२।४)।

इस मन्त्र में सुपर्ण, शिरः, चक्षुः, पक्षौ, आत्मा (धड़), अङ्गानि, तनूः, पुच्छम्, शफाः, दिवं गच्छ, स्वः पत, पद देखकर वेदि की कल्पना सुपर्णाकृति की मानी है।

मन्त्र में परमेश्वर का वर्णन प्रतीत होता है या जीवात्मा का। वेदों में दोनों को सुपर्ण कहा है। यथा "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षमनु षस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्यो-अभिचाकशीति॥ (अथर्व० ९।९।२०)॥

काण्ड ६ सम्पूर्ण

काण्ड ७

गार्हपत्यवेदि

अध्याय १ । ब्राह्मण १

गार्हपत्यं चेष्यन् पलाशशाखया व्युदूहति ॥१॥

गार्हपत्य का चयन अर्थात् निर्माण करने के लिये पलाश की शाखा द्वारा भूभाग को झाड़ता है ॥

अदाद्यमो ऽवसानं पृथिव्याः । यमो ह वा ऽअस्या ऽअवसानस्येष्टे स ऽएवास्मा ऽअस्यामवसानं ददाति ॥३॥

यम ने पृथिवी का यह स्थान दिया है । यतः यम पृथिवी के स्थान का अधीश्वर है, अतः वह ही इस पृथिवी में इसे स्थान देता है ।

क्षत्रं वै यमो, विशः पितरो, यस्मा ऽउ वै क्षत्रियो विशा संविदानो ऽस्यामवसानं ददाति तत्सुदत्तं, तथो हास्मै क्षत्रं यमो, विशा पितृभिः संविदानो ऽस्यामवसानं ददाति ॥४॥

यम है क्षत्रिय [राजा] । विशः है पितरः [राजाधिष्ठित रक्षाधिकारी शासक]। अधिकारियों की अनुमति से यम जिसे इस पृथिवी में स्थान देता है,वह ठीक दिया हुआ होता है । इस प्रकार यम अर्थात् राजा (क्षत्रिय) रक्षाधिकारी-वर्ग की अनुमति से इस पृथिवी में इस यजमान को स्थान देता है ।

[यम अर्थात् नियन्ता राजा पृथिवी का अध्यक्ष है, वह मन्त्रियों के परामर्शानुसार पृथिवी में स्थान दे सकता है] ।

अथोषान्निवपति । अयं वै लोको गार्हपत्यः, पशव ऽउषा ऽअस्मिंस्तल्लोके पशून् दधाति ॥६॥

भू भाग के झाड़ने के पश्चात् ऊष अर्थात् खारी मिट्टी को बिछाता

है। खारी मिट्टी हैं पशु[1]। गार्हपत्य है यह लोक अर्थात् पृथिवी। इस प्रकार वह इस पृथिवी लोक में पशुओं को स्थापित करता है।

[गार्हपत्य कुण्ड गोल होता है। इस द्वारा पृथिवी को गोलाकार सूचित किया है, तथा देखो कण्डिका (३७)]।

अथ सिकता निवपति ॥११॥

अब ऊष पर रेत विछाता है॥

अथैनं परिश्रिद्भिः परिश्रयति ॥१२॥

अब भू भाग को चारों ओर परिश्रितों [पत्थरों] से घेरता है।

अयं वै लोको गार्हपत्य ऽआपः परिश्रितः। इमं तं लोकमद्भिः परितनोति। समुद्रेण हैनं तत् परितनोति सर्वतः, तस्मादिमं लोकँ सर्वतः पर्येति खातेन, तस्मादिमं लोकं खातेन समुद्रः पर्येति ॥१३॥

गार्हपत्य है यह लोक [पृथिवी] और परिश्रित् हैं जल। वह इस लोक को जलों द्वारा सब ओर से घेरता है। मानो समुद्र द्वारा ही इसे [गार्हपत्यवेदि] को सब ओर से घेरता है। इस लोक को चारों ओर समुद्र ने घेरा हुआ है। गार्हपत्य वेदि के सब ओर खाई बनाकर परिश्रितों से घेरता है। इस लोक को भी खाई में समुद्र ने सब ओर से घेरा हुआ है।

[समुद्र खाई में है, और पृथिवी के चारों ओर है,—यह शतपथ के काल में ज्ञात था]।

न सादयति, असन्नाह्यापः ॥१४॥

परिश्रितों [पत्थरों] को खाई में दृढ़ स्थित नहीं करता, क्योंकि सामुद्रिक जल अस्थिर हैं, कहीं स्थिररूप में नहीं रहते, वे गतिमान् रहते हैं।

[राजाज्ञा द्वारा भूभाग को प्राप्त कर, उसे साफ कर, उस पर खारी मिट्टी विछा कर, रेत विछाए। तत्पश्चात् यज्ञ-भूमि को परिश्रितों से घेरे। इस यज्ञक्रिया द्वारा पशुपालन की विधि का

---

१. ऊषर मिट्टी को पशु कहा है। क्योंकि पशु ऊसर मिट्टी को चाटते हैं।

निर्देश किया है। पशुपालन के लिये निर्दिष्ट भूभाग को साफ रखना, उस पर ऊसर मिट्टी तथा पशुओं के सुखपूर्वक बैठने के लिये रेता बिछाना, तथा जल प्रबन्ध करना चाहिये।

अध्यात्म दृष्टि में, पृथिवी है माता। रजोदर्शन द्वारा जब योनि का मल प्रवाहित हो जाय, तदनन्तर गर्भाधान करना चाहिये। तत्पश्चात् गर्भस्थ शिशुपिण्ड पर ऊषा अर्थात् उल्ब (amnion) का आवरण हो जाता हैं। सिकताः=योनि में सींचा रेतस्, वीर्य। यथा **"योनिर्वै गार्हपत्या चितिः, रेतः सिकताः, संर्वस्यां तद्यौनौ रेतो दधाति"** (११)। परिश्रित् हैं योनि। यथा **"योनिर्वै परिश्रितः, इदमेवैतद्रेतः सिक्तं योन्या परिगृह्णाति। तस्माद् योन्या रेतः सिक्तं परिगृह्यते** (१२), अर्थात् अध्यात्म पक्ष में गार्हपत्यचिति है स्त्री की आभ्यन्तर योनि, सिकता है रेतस् अर्थात् वीर्य, तथा परिश्रित् है बाह्ययोनि। सींचे वीर्य को बाह्ययोनि द्वारा ग्रहण या सुरक्षित करता है।

परिश्रित्,ऊष और सिकता को अध्यात्मदृष्टि में निम्नलिखित कण्डिका में स्पष्ट किया है,–**"तद्वै योनिः परिश्रितः। उल्बमूषाः। रेतः सिकताः। बाह्याः परिश्रितो भवन्त्यन्तरँ ऊषाः। बाह्या हि योनिरन्तरमुल्बम्। बाह्य ऽऊषा भवन्त्यन्तराः सिकताः। बाह्यं ह्यु ल्बमन्तरँ रेतः। एतेभ्यो हि जायमानो जायते"** (१६)। गार्हपत्य वेदि के निर्माण में प्रथम ऊषा और तत्पश्चात् सिकता का क्रम रखा है, और अध्यात्म में प्रथम सिकता अर्थात् वीर्य का, और तत्पश्चात् ऊषा अर्थात् गर्भस्थ शिशु पिण्ड की झिल्ली (amnion) का क्रम होता है। क्योंकि स्थापित सिकता अर्थात् वीर्य पर ही तो ऊषा अर्थात् उल्ब का आवरण बनेगा। उल्बम्–उच्यति समवैतीति (उणा० ४।९६, महर्षिदयानन्द)]।

गार्हपत्यकुण्डनिर्माण

अथैनमतश्चिनोति। इदमेवैतद्रेतः सिक्तं विकरोति, रेतः सिक्तं विक्रियते ॥१७॥

अब वेदि में गार्हपत्यकुण्ड का चयन करता है, निर्माण करता है, मानो इस द्वारा सींचे हुए वीर्य को विशिष्ट आकृति देता है, अर्थात् सींचा-वीर्य विशिष्ट आकृति प्राप्त करता है।

स चतस्रः प्राचीरुपदधाति, द्वे पश्चात् तिरश्च्यौ,द्वे पुरस्तात् । तद् याश्चतस्रः प्राचीरुपदधाति स आत्मा । तद् यत् ताश्चतस्रो भवन्ति चतुर्विधो ह्ययमात्मा ऽथ ये पश्चात् ते सक्थ्यौ, ये पुरस्तात् तौ बाहू, यत्र वा ऽआत्मा तदेव शिरः ॥१८॥

अत्र चार इष्टकाओं [ईंटों] को पूर्व की ओर[लेटेरूप में]स्थापित करता है, दो को पश्चिम की ओर [लम्बरूप में], और दो को [लम्बरूप में] आगे को। जो चार इष्टकाएँ पूर्व की ओर लेटेरूप में स्थापित करता है, वह आत्मा [शरीर[है। ये इष्टकाएँ चार होती हैं, क्योंकि आत्मा [शरीर] चार भागों[1] वाला होता है। तथा जो पश्चिम की ओर [लम्बरूप में] दो होती हैं वे हैं दो जङ्घाएँ, तथा जो आगे की ओर[लम्बरूप में] हैं वे हैं दो बाहुएँ। तथा जहां आत्मा [शरोर]है उसी में सिर भी अन्तर्गत है। तीन-तीन रेखाओं से संम्पन्न एक-एक इष्टका है।

गार्हपत्य कुण्ड का आंशिक चित्र
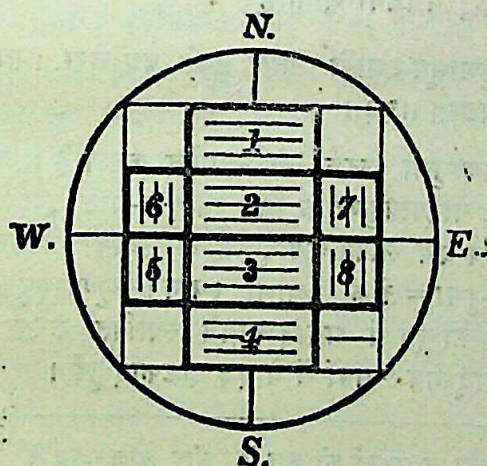
GÂRHAPATYA HEARTH.

---

१. शरीर का अभिप्राय है धड़ [Trunk]। यह चार भागों में विभक्त होता है, (१) फेफड़े, (२) हृदय. (३) आमाशय [पेट], (४) पक्वाशय [आन्तें]।

चित्र की गोलाकृति गार्हपत्य कुण्ड की है। गार्हपत्य कुण्ड गोलाकार होता है। चित्र के मध्यस्थल में १, २, ३, ४ संख्याओं द्वारा व्यालिखित चार इष्टकाएँ लेटे रूप में दर्शाई है। यह है कुण्ड की आत्मा अर्थात् शरीर धड़। ये इष्टकाएँ चार होती हैं। तथा पश्चिम [West] की ओर संख्या ५, ६ द्वारा व्यालिखित दो खड़ी इष्टकाएँ, दो जङ्घाएँ इसी प्रकार पूर्व [East] की ओर संख्या ७, ८ द्वारा व्यालिखित दो खड़ी इष्टकाएँ हैं, दो बाहुएं। प्रत्येक इष्टका व्यालिखित अर्थात् तीन-तीन रेखाओं से अन्वित होती है। ये इष्टकाएँ आठ हैं, (४+२+२)। गार्हपत्य कुण्ड की यह पहली चिति है।

अष्टाविष्टका ऽउप दधाति .....पञ्चकृत्वः सादयति, पञ्चचितिको ऽग्निः ॥३२॥

आठ इष्टकाएँ स्थापित करता है। आठ-आठ इष्टकाएँ ५ वार स्थापित करता है, क्योंकि "अग्निचयन" में अग्नि, ५ चितियों अर्थात् ५ तहों [layers] में चिनी जाती है।

अथ लोकम्पृणामुप दधाति। तिस्त्रः पूर्वाः, दशोत्तराः। तास्त्रयोदश सम्पद्यन्ते ॥३३॥

अब एक लोकम्पृणा इष्टका को स्थापित करता है। लोकम्पृणा का अभिप्राय है, गार्हपत्यकुण्ड के लिये जो आठ-आठ इष्टकाएँ चिनी गई हैं, उनसे शेष बचे लोकों अर्थात् खाली स्थानों को भरने वाली इष्टकाएँ, लोकम्पृणा=लोक [खाली स्थान]+पृणा (पृ पूरणे)। तीन[1] इष्टकाओं को पूर्व में अर्थात् सामने स्थापित करता है, और दस[2] को तत्पश्चाद् शेष स्थानों में ये १३ इष्टकाएँ हुईं।

---

१. एक इष्टका उत्तर-पूर्व को वृत्त में, और दक्षिण-पूर्व के वृत्त में दो इष्टकाएं आधी-आधी। इस प्रकार ये ३ लोकम्पृणा इष्टकाएं हुईं।

२. एक इष्टका दक्षिण-पश्चिम के वृत्त में, एक उत्तर-पश्चिम के वृत्त में, तथा शेष आठ, उन आठ स्थानों में, जोकि परिधि के साथ वृत्तखण्डों के रूप में संलग्न हैं, ये १० हुए। इस प्रकार ये ३+१०=१३ लोकम्पृणा इष्टकाएं हैं।

त: उभय्या ऽएकविंशति: सम्पद्यन्ते ॥३४॥

वे दो प्रकार की इष्टकाएँ २१ हो जाती हैं। आठ कण्डिका (३२) की, और तेरह (कण्डिका ३३) की= ८+१३=२१।

एकविंशतिर्वै व परिश्रित: ॥३५॥

परिश्रित् भी २१ ही होते हैं।

अथ पुरीषं निवपति ॥३६॥

अब इस पर मिट्टी बिछाता है।

व्याममात्री भवति। व्याममात्रो हि पुरुष:- परिमण्डला भवति, परिमण्डला हि योनि:। अथो ऽअयं लोको गार्हपत्य:, परिमण्डल ऽउ वा अयं लोक: ॥३७॥

गार्हपत्य व्याम परिमाण का होता है, व्यामपरिमाण वाला पुरुष होता है। यह (गार्हपत्य) गोल होता है, क्योंकि योनि गोल होती है। तथा यह लोक (पृथिवी) गार्हपत्य है, गोल ही यह लोक है।

[व्याम=लगभग ६ फीट। दो भुजाओं को परस्पर विरुद्ध दिशाओं की ओर फैलाने पर फैले हाथों की अङ्गुलियों के अन्त भागों का मध्यवर्ती प्रदेश= व्याम। कण्डिका में व्याममात्री तथा परिमण्डला पद, योनि की दृष्टि से स्त्रीलिङ्गी पठित हैं। कण्डिका में गार्हपत्य का वर्णन है वेदि का नहीं। वेदि को सुपर्णपक्षी की आकृति का कहा है (६।७।२।८), वह परिमण्डला नहीं]।

पुरुष के व्याम परिमाण वाली गार्हपत्यकुण्ड की वेदि होती है। पुरुष के सम्बन्ध के कारण गार्हपत्य कुण्ड की इष्टकाओं को धड़, जङ्घाओं तथा बाहूरूप में वर्णित किया है।

दो अग्नियों में समन्वय

अथैनौ सं निवपति। संज्ञानमेवाभ्यामेतत्करोति, समितꣳ संकल्पेथाम्, सं वां मनाꣳसि, सं व्रता, अग्ने त्वं पुरीष्य, भवतं न: समनसौ,- इति शमयत्येवैनावेतदहिꣳ सायै, यथा नान्यो ऽन्यꣳ हिꣳ स्याताम् ॥३८॥

अब इन दो अग्नियों[1] को इकट्ठा करता है, इस द्वारा उखा की अग्नि और गार्हपत्यकुण्ड की अग्नि में समन्वय, अर्थात् परस्पर ऐकमत्य या समझौता उत्पन्न करता है, निम्नलिखित चार मन्त्रों द्वारा:—

समितँ संकल्पेथाँ संप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ। इषमूर्जमभि संवसानौ ।। (यजु० १२।५७) ।।

तुम दोनों परस्पर मिलो, एक संकल्प वाले होओ, परस्पर प्रेम करो, रुचिर मुख वाले, प्रसन्न चित्त होओ। अन्न और रस के लिये इकठ्ठे बसो।

सं वां [2]मनाँसि सं व्रता समु चित्तान्याकरम्। अग्ने पुरीष्याधिपा भव त्वं न इषमूर्जं यजमानाय धेहि ।।(यजु० १२।५८)

तुम दोनों के मनों, व्रतों और चित्तों को मैंने परस्पर मिला दिया है। हे पुरीष्य अग्निः! तू हमारा अधिपति बन, और यजमान को अन्न और रस प्रदान कर।

अग्ने त्वं पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिमां २।। असि। शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वं योनिमिहासदः ।। (यजु० १२।५९)

हे अग्निः! तू पुरीष्य, धनवान्, तथा पुष्टिमान् है। सब दिशाओं को शिव अर्थात् कल्याणमय बना कर, यहां अपने घर में बैठ।

[घर अर्थात् गार्हपत्यकुण्ड। योनिः गृहनाम (निघं० ३।४)]।

भवतं न समनसौ सचेतसा वरेपसौ। मा यज्ञँ हिँसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः ।। (यजु० १२।६०)

तुम दोनों हमारे लिये एकमन वाले, एकचित्त वाले तथा पापरहित

---

१. अर्थात् उखा की अग्नि को गार्हपत्यकुण्ड में डालता है।

२. "मनांसि=संकल्प विकल्प आदि अन्तःकरण की वृत्तियां। संव्रता= सत्यभाषण आदि व्रत। समु चित्तानि=सम्यक् जाने हुए कर्म। पुरीष्य अग्ने= रक्षा के योग्य व्यवहारों में हुए उपदेशक, आचार्य वा राजन्! जातवेदसौ= ज्ञान को प्राप्त हुए" (महर्षि दयानन्द, यजु० १२।५८,६०)।

होओ। यज्ञ की हिंसा न करो, यज्ञपति की हिंसा न करो, ज्ञानी तुम दोनों आज हमारे लिये कल्याणकारी होओ।

[इन चार मन्त्रों का विनियोग उखा की अग्नि और गार्हपत्य-कुण्ड की अग्नि में परस्पर ऐकमत्य के लिये किया गया है। इन-मन्त्रार्थों को दृष्टिगत करते हुए क्या यह सम्भव है कि जड़ दो अग्नियों के सम्वन्ध में इन चार मन्त्रों का विनियोग बुद्धिसंगत है?]।

उखा में सिकता तथा दूध डालना

अथास्याँ सिकता ऽआवपति। अग्निमेवास्यामेतद्वैश्वानरं रेतोभूतं सिञ्चति ॥४१॥

अब इस उखा में रेत डालता है। वह अग्नि-वैश्वानर को ही वीर्यरूप में इस उखा में सींचता है।

[उखा नारीरूप है। नारी में वीर्याधान किया जाता है। वह सिकता (रेत) डाल कर मानो वीर्याधान करता है। रेतस्=वीर्य]।

अथैनां विमुञ्चति।......एतद्वा ऽएतद्युक्ता रेतो ऽभार्षोदेत-मग्निं तमत्राजीजनदथापरं धत्ते। योषा वा ऽउखा। तस्मा-द्यदा योषा पूर्वँ रेतः प्रजनयत्यथापरं धत्ते ॥४२॥

अब इस उखा को मुक्त कर देता है, अर्थात् अलग रख देता है। जब तक उखा यज्ञकर्म में युक्त थी तो इसने वीर्य धारण किया हुआ था, अर्थात् इस उखास्थ अग्नि को धारण किया हुआ था। उसे यहां उसने जन्म[1] दे दिया, अब नया[2] वीर्य धारण करती है। स्त्री है उखा। इस लिये जब स्त्री पहिले वीर्य को जन्म देती है, तत्पश्चात् अन्य वीर्य धारण करती है।

अथास्यां पय आनयति। एतद्वा ऽएतद्रेतो धत्तेऽथ पयो धत्ते। योषा वा ऽखा, तस्माद्यदा योषा रेतो धत्ते ऽथ पयो धत्ते।

१- जब कि उखा की अग्नि को गार्हपत्यकुण्ड में स्थापित कर दिया। (कां० ७।१।१।३८)

२. सिकता (वीर्य) वीर्यरूप में (कां० ७।१।१।४१)।

अधराः सिकता भवन्त्युत्तरं पयः, अधरं हि रेत ऽउत्तरं पयः, तन्मध्य ऽआनयति, यथा तत्प्रति पुरुषशीर्षमुपदध्यात् ॥४४॥

अब इस उखा में दूध डालता है। यह पहिले इस रेतः (वीर्य) को धारण करती है, तदनन्तर दूध को। उखा है स्त्री। इसलिये जब स्त्री रेतः (वीर्य) धारण करती है, तदनन्तर दूध धारण किया करती है। उखा में नीचे सिकता (रेत) होती है और ऊपर दूध, क्योंकि स्त्री में भी रेतः (वीर्य) नीचे अर्थात् योनि में होता है, और ऊपर अर्थात् छाती में दूध। इस दूध को उखा के मध्यभाग में डालता है, ताकि उस पर पुरुष का सिर रख सके (देखो ७।५।२।१४)।

कां० ७ अध्याय १। ब्राह्मण २

आहवनीय वेदि; कुण्ड

सह हैवेमावग्रे लोकावासतुस्तयोर्वियतोर्यो ऽन्तरेणाकाश ऽआसीत्तदन्तरिक्षमभवदीक्षꣳ हैतन्नाम ततः पुरा ऽन्तरा वा ऽइदमीक्षमभूदिति तस्मादन्तरिक्षं, तद्यद् गार्हपत्यं चित्वा ऽऽहवनीयं चिनोत्येतौ ह्यग्रे लोकावसृज्येतामथ प्रत्येत्य धिष्ण्यान्निवपति कर्मण ऽएवानन्तरायाथो ऽअन्तयोर्वाव संस्क्रियमाणयोर्मध्यꣳ संस्क्रियते ॥२३॥

ये दोनों लोक [पृथिवी और द्यौः] पहिले एक थे। उन दोनों के अलग-अलग होने पर जो बीच का आकाश था वह अन्तरिक्ष हुआ। उससे पूर्व इस अन्तरिक्ष का नाम "ईक्ष" था। अब यह "ईक्ष" बीच में (अन्तरा) भी हो गया। अतः "अन्तरिक्ष" हुआ। इस कारण गार्हपत्य का चयन करके आहवनीय का चयन करता है। ये दो लोक [पृथिवी और द्यौः] पहिले पैदा हुए थे। वापिस लौट कर धिष्ण्यों का निर्माण करता है, ताकि कुण्डों के निर्माण कर्म में व्यवधान न हो। अन्त के दोनों के निर्माण के पश्चात् ही मध्य का निर्माण होता है।

[धिष्ण्य कुण्ड=८। देखो टिप्पणी (१)।

१. धिषण्यकुण्ड ८ होते हैं। इनके नाम हैं आग्नीध्रीय, मार्जालीय, तीसरा

अन्तरिक्षम्=अन्तर्+ईक्षम्=जो पृथिवी और द्यौः के मध्य-स्थान में दीखता है, 'ईक्ष्यते' इति ईक्षम्[1]] ।

कां० ७ । अध्याय ३ । ब्राह्मण १

आहवनीयकुण्ड के चयन के लिये पलाश की शाखा द्वारा भूभाग को न झाड़े[2] (७) । आहवनीय में ऊषा अर्थात् ऊसर मिट्टी (खारी मिट्टी) न विछाए[3] (८)। आहवनीय में ही पुष्करपर्ण अर्थात् कमल के पत्ते को स्थापित करे, गार्हपत्य में नहीं, क्योंकि कमलपत्ता जलीय है, और आहवनीय द्युलोक है, अतः द्युलोक में ही जल को स्थापित करता हैं [अभिप्राय यह कि जल का स्थान द्युलोक है इसीलिये द्युलोक की ओर से ही वर्षा होती है] सिकता अर्थात् रेत को गार्ह-

---

होतृसम्बन्धी, चौथा ब्राह्मणाच्छंसि सम्बन्धी, पाँचवाँ पोतृसम्बन्धी, छठा नेष्टृ-सम्बन्धी, सातवां अच्छावाक् सम्बन्धी, आठवां प्रशास्तृ (मैत्रावरुण) सम्बन्धी । मार्जालीय से अतिरिक्त अग्नीत् आदि ७ ऋत्विजों को "सप्तहोतारः" कहते हैं (शतपथ ३।६।२।१) । निरुक्त में "धिष्ण्य" के निर्वचन=धिषण्यो धिषणा भवः । धिषणा वाक्, धिषेर्दधात्यर्थे । धीसादिनी वा, धीसानिनीति वा । (८।१।३) "अग्नीनामाश्रयभूता मृदा निर्मिताः स्वल्पवेदिका धिषण्यान्युच्यन्ते" (महीधर, यजु० ५।३१) ।

१. अभिप्राय यह कि पृथिवी और द्यौः जब एक आग्नेय-पिण्ड रूप थे तब इस पिण्ड के चारों ओर तो आकाश दीखता था वह "ईक्षम्"था ["इक्ष्यते स्म" इवि "इक्षम्"] अर्थात् उस समय आकाश का नाम "ईक्षम्" था । परन्तु पृथिवी और द्यौः जब अलग-अलग हुए तब इन दोनों के मध्य में (अन्तरा) जो अन्तराल हुआ उस में भी आकाश दीखने लगा । इसलिये यह अन्तराल अन्तरिक्ष हुआ । अन्तरा +ईक्षम्=अन्तरिक्षम् ।

२. क्योंकि गार्हपत्य का सम्बन्ध भूमि के साथ है और भूमि पर मिट्टी आदि को झाड़ना होता हैं, और आहवनीय का सम्बन्ध द्युलोक के साथ है, जिसमें कि मिट्टी नहीं होती ।

३. ऊषा अर्थात् खारी मिट्टी का सम्बन्ध पशुओं के साथ है, पशु इसे चाटते हैं । इसलिये गार्हपत्य के निर्माण के लिये ऊषा विछानी होती है । परन्तु आहवनीय का सम्बन्ध द्युलोक के साथ है । द्युलोक में पशु नहीं होते ।

पत्य और आहवनीय इन दोनों पर बिछाता हैं, क्योंकि रेत वीर्य है, अग्नि दोनों कुण्डो में उत्पन्न किया जाता है, ताकि वीर्य से दोनों में अग्नि उत्पन्न की जाय (९)। दोनों कुण्डों पर पृथक्-पृथक् मन्त्रों द्वारा रेत बिछाता है (१०)। अब आहवनीय के चारों ओर स्थापित परिश्रितों (पत्थरों) पर मन्त्रोच्चारण[1] करता है, और रेत को बिछाता है (११)। अब "आप्यायस्व……(यजु० १२। १२) तथा "सं ते पयांसि……(यजु० १२।११३) मन्त्रों द्वारा आहवनीय को छूता है (१२)।

अब लोगेष्टकाओं[2] अर्थात् गारारूपी इष्टकाओं को स्थापित करता है। अग्नि की वेदि ये सब लोक हैं; और लोगेष्टका दिशाएँ हैं, इस प्रकार इन लोकों में दिशाएँ स्थापित करता है (१३)। अब इस पर रेता बिछाता हैं (१३)। ये लोगेष्टकाएँ, यजुष्मती-इष्टकाएँ हैं, अर्थात् यजुर्वेद के विशेष मन्त्रों[3] को पढ़कर वेदि में ये स्थापित की जाती है। इन्हें पक्षी और पुच्छ में स्थापित नहीं करता (२५)।

उत्तरवेदि

अथोत्तरवेदिं निवपति। इयं वै वेदि, द्यौरुत्तरवेदि, दिशो लोगेष्टका; तद्यदन्तरेण वेदिं चोत्तरवेदिं च लोगेष्टका उपदधाति। इमौ तल्लोकावन्तरेण दिशो दधाति। तां युगमात्रीं वा सर्वतः करोति, चत्वारिंशत्पदां वा, यतरथा कामयेताथ सिकता निवपति ॥२७॥

अब उत्तरवेदि के लिये गारारूपी इष्टकाओं को डालता है। वेदि है यह पृथिवी और उत्तरवेदि है द्यौः। लोगेष्टका अर्थात् गारारूपी इष्टकाओं को जो वेदि और उत्तरवेदि के मध्य में स्थापित करता है, वह मानों दोनों लोकों के मध्य में दिशाएँ हैं। उस उत्तरवेदि को सब ओर युग अर्थात् बैलगाड़ी के जुए (yoke) के बराबर बनाता है, अथवा सब ओर मिला कर ४० पग लम्बी-चौड़ी बनाता है। जैसा चाहे बनाए। तदनन्तर उस पर रेत बिछाता है।

---

१. "चित स्थ परिचित ऊर्ध्वचितः श्रयध्वम्" (यजु० १२।४६)

२. लोगेष्टका अर्थात् गारे के चार पिण्ड।

३. यजु० १२।१०२-१०८।
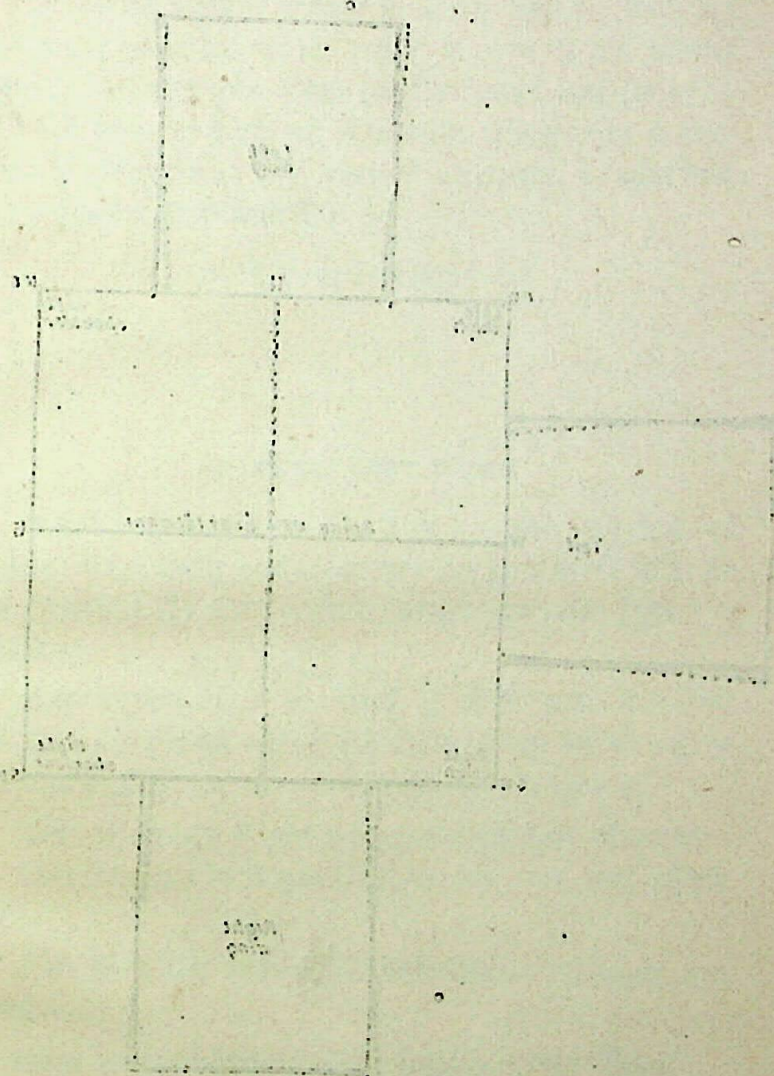
PLAN OF FIRE-ALTAR (AGNIKSHETRA)
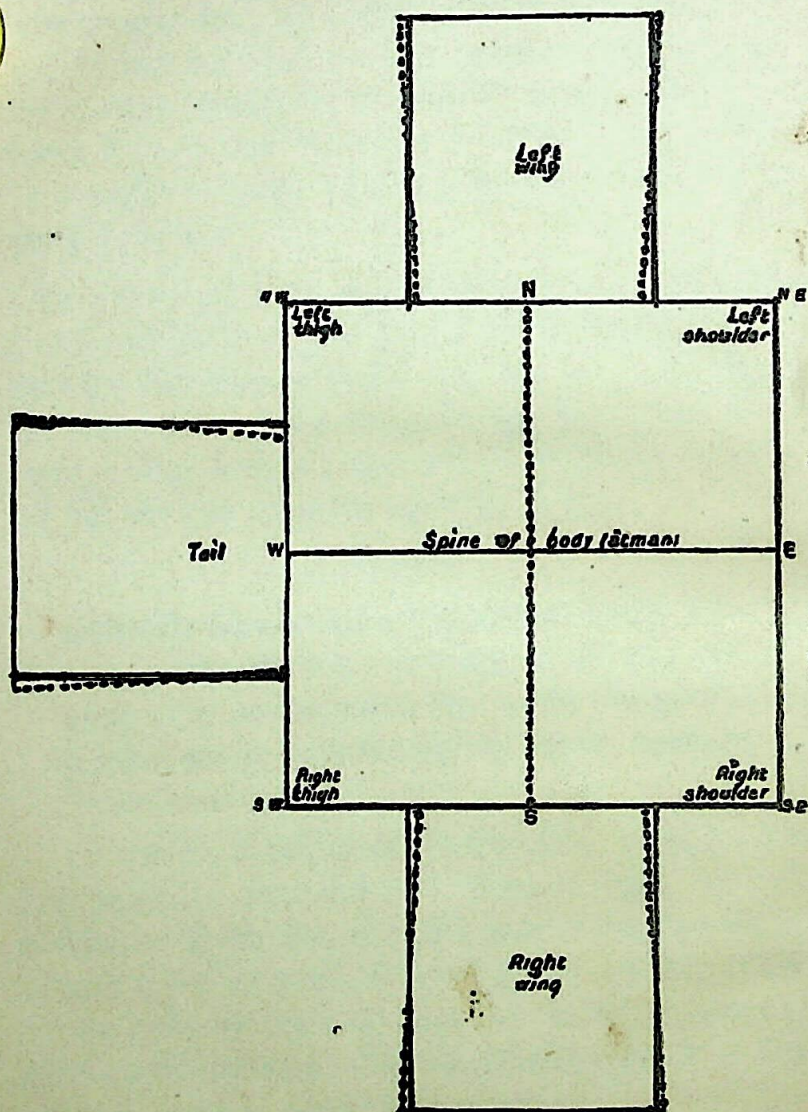
ता ऽएता यजुष्मत्य ऽइष्टकाः । ता ऽआत्मन्नेवोपदधाति न पक्षपुच्छेषु ॥४४॥

ये सिकताएँ यजुष्मती इष्टकाएँ हैं, अर्थात् सिकता (रेता) का प्रत्येक कण इष्टका है जिन्हें कि यजुर्वेद के मन्त्र पढ़ कर बिछाया जाता है, पक्षों और पुच्छ में नहीं। क्योंकि सिकता रेतस् (वीर्यरूप) है। पक्षों और पूंछ में इसे नहीं सींचा जाता, अपि तु शरीर में सींचा जाता है। उत्तरवेदि का चित्र संलग्न है। उत्तरवेदि में अग्निचयन की ५ चित्तियां चिनी जाती हैं।

उत्तरवेदि का चित्र सामने देखें

उत्तरवेदि का स्वरूप परिचय

उत्तरवेदि की आकृति पक्षी के सदृश है। मध्य चतुष्कोण वर्ग पक्षी का शरीर अर्थात् body (आत्मा) है। इसके पार्श्वों के दो वर्ग पक्ष (पंखरूप) हैं। और अवशिष्ट तीसरा वर्ग tail (पुच्छ) है, पूँछ है।

मध्य चतुष्कोणवर्ग में दो रेखाएँ हैं जोकि मध्य में परस्पर काटती हैं। इन्हें अनूक कहते हैं। ये दो रेखाएँ जहां वर्ग की परिधि को स्पर्श करती हैं, उन चार स्थानों को अनूकान्त कहते हैं।

Left wing और Right wing=वामपक्ष तथा दक्षिण पक्ष।

Left Thigh और Right Thigh=वाम ऊरु तथा दक्षिण ऊरु।

Left shoulder तथा Right shoulder=वाम कन्धा तथा दक्षिण कन्धा।

अथैनां आप्यानवतीभ्यामभिमृशति। इदमेव यद्रेतः सिक्त-माप्यायति; सौमीभ्यां प्राणो वै सोमः प्राणं तद्रेतसि दधाति ॥४५॥

अब इस सिकता (रेत) को छूता है "आप्यान" शब्द वाली दो

ऋचाओं का उच्चारण करते हुए (यजु० १२।११२, ११३)। इस छूने के द्वारा सींचे वीर्य में वृद्धि करता है (आप्यान=वृद्धि)। ये दो ऋचाएँ सोमदेवता वाली हैं। सोम है प्राण। अतः वीर्य में प्राणशक्ति स्थापित करता है।

कां० ७ । अध्याय ३ । ब्राह्मण २ । कं० १-१६

प्रथमा चिति

अथ चर्मणि चितिँ समवशमयन्ति, आनडुहे ॥१॥

अब बैल के चमड़े पर प्रथमा-चिति (चयन, तह) को शान्त करते हैं (चिनते हैं)।

तदग्रे गार्हपत्यम्, अन्तर्वेद्युत्तरलोम प्राचीनग्रीवमुपस्तृणाति। अथ प्रोक्षति, तद्यत्प्रोक्षति शुद्धमेवैतन्मेध्यं करोत्याज्येन, तद्धि शुद्धं मेध्यम् ॥२॥

उस चमड़े को गार्हपत्य के सामने, वेदि के भीतर, रोम वाले भाग को ऊपर की ओर, और गर्दन को पूर्व की ओर करके विछाता है। अब घी इस पर छिड़कता है। इस द्वारा चमड़े को शुद्ध और यज्ञ के योग्य करता है, घी निश्चय से शुद्ध और यज्ञ के योग्य होता है।

उद्यच्छन्त्येतां चितिम् ॥४॥

अब इस प्रथमाचिति को उठाते हैं, अर्थात् पहली चिति (चयन, तह) चिनना आरम्भ करते हैं।

अथाश्वँ शुक्लं पुरस्तान्नयन्ति।………असौ वा ऽआदित्य ऽएषो ऽश्वः। एतद्यजमान ऽएतेन वज्रेण पुरस्ताद्रक्षाँसि नाष्ट्रा ऽअपहत्याभये ऽनाष्ट्रे स्वस्ति समश्नुते। आगच्छन्त्य-ग्निं दक्षिणतः पुच्छस्य चितिमुपनिदधाति। उत्तरतो ऽश्व-माक्रमयन्ति ॥१०॥

अब श्वेत घोड़े को आगे-आगे ले जाते हैं। यह अश्व (घोड़ा) वह आदित्य है। यजमान इस वज्र के द्वारा आगे-आगे नाशक राक्षसों को मार कर या भगा कर भय रहित तथा विनाशक-राक्षसों से रहित स्थान में कल्याण को प्राप्त करता है। अब अग्नि की वेदि की ओर

आते हैं। वेदि की पुच्छ की दक्षिण की ओर चिति को स्थापित करता है। अश्व को वेदि के उत्तर से वेदि पर लाता है।

[श्वेत अश्व को वे वेदि के समीप लाते हैं, और वेदि की पूंछ के दक्षिण में इष्टकाओं का चयन कर अश्व को उत्तर की ओर से लाते हैं। श्वेत अश्व प्रतिनिधि है शुभ्र सूर्य का। सूर्य के प्रकाश और ताप द्वारा रोगजनक कीटाणु (राक्षस) नष्ट हो जाते हैं। अश्व को उत्तर की ओर से वेदि में लाते हैं। उत्तरायण के पश्चात् सूर्य, उत्तरायण से पूर्व की ओर, फिर दक्षिण की ओर, तदनन्तर पश्चिम, और तत्पश्चात् उत्तर की ओर गति करता है। इसी क्रम से अश्व को वेदि की भिन्न-भिन्न दिशाओं में ले जाते हैं। तत्पश्चात् उसे उत्तर-पूर्व की दिशा में विमुक्त करते हैं। सूर्य भी अपनी वार्षिक गति में उत्तर-पूर्व तक ही आता है जिसे कि North-solstice कहते हैं, इसे Summer-solstile भी कहा जाता है। यह स्थिति २१ जून को होती है, तथा दक्षिण-पूर्व में सूर्य की स्थिति लगभग २१ दिसम्बर में होती है। इसे Winter-solstice कहते हैं]।

अश्व को जब उत्तर से पूर्व, और पूर्व से दक्षिण, तत्पश्चात् पश्चिम में ले जाते हैं तब पश्चिम में पूर्व संचित इंटें उसे सुंघवाते हैं। अश्व है सूर्य और इष्टकाएँ हैं प्रजाएँ। मानों सूर्य जब पूर्व से पश्चिम की ओर जाता है तो वह प्रजाओं को सूंघता जाता है॥१२॥ [सायण ने सूंघने की व्याख्या में कहा है कि सूंघने का अभिप्राय है "सूर्य का प्रजाओं को छूना"। सूर्य निज रश्मियों द्वारा प्रजाओं को छूता है पश्चिम में अस्त होता हुआ]।

कां० ७। अध्याय ४। ब्राह्मण १। कं० १-४९

पुष्करपर्णमुप दधाति॥ ७।३।२।१७, तथा ७।४।१।७-६॥

अब बैल के चमड़े (खाल) पर पुष्कर पत्ता रखता[1] है। कारण यह कि पुष्कर है जल, और यह पृथिवी है, "पुष्कर अर्थात् जल का पत्ता"। जैसे पुष्करपर्ण जल पर रहता है वैसे यह पृथिवी जल[2] पर

---

१. वेदि के मध्य में।

२. पृथिवी के भीतरी भाग में जल विद्यमान है। यह जल कूओं और

ठहरी हुई है। यह पृथिवी अग्नि की योनि अर्थात् उत्पादिका है। इसी प्रकार पुष्करपर्ण के आधार पर अग्नि की चिति चिनी जाएगी, मानों पुष्करपर्णरूपी योनि से अग्नि उत्पन्न होगी ॥ (७।४।१।७, ८)

अथ रुक्ममुप दधाति। असौ वा ऽआदित्य ऽएष हीमाः सर्वाः प्रजा ऽअति रोचते। अमुमेवैतदादित्यमुप दधाति। स हिरण्मयो भवति, परिमण्डलः, एकविंशतिनिर्बाधः। अधस्तान्निर्बाधमुपदधाति, रश्मयो वा ऽएतस्य निर्बाधाः, अवस्ताद्‌ वा ऽएतस्य रश्मयः ॥१०॥ तं पुष्करपर्णे ऽउप दधाति ॥११॥

अब रुक्म अर्थात् स्वर्णाभूषण को स्थापित करता है। यह स्वर्णाभूषण है वह आदित्य, यह सब प्रजाओं पर चमकता है। मानो उस आदित्य को ही स्थापित करता है। वह रुक्म[1] स्वर्ण का होता है, गोल[2] होता है, २१ नोकों[3] दन्दानों वाला होता है। नोकें नीचे की ओर स्थापित करता है,—ये नोकें स्वर्णाभूषण की रश्मियां हैं,—क्योंकि सूर्य की रश्मियाँ नीचे की ओर [पृथिवी पर] चमकती हैं ॥१०॥

उस स्वर्णाभूषण को पुष्करपर्ण पर स्थापित करता है ॥११॥

[रुक्म अर्थात् स्वर्णाभूषण जिसे कि यजमान ने गर्दन पर डाला होता है (६।७।१।१)]।

अथ पुरुषमुप दधाति। स प्रजापतिः,······स हिरण्मयो भवति ॥१५॥

अब पुरुष को स्थापित करता है। वह प्रजापति है ·····वह स्वर्णनिर्मित होता है।

तꣳ रुक्म ऽउप दधाति। असौ वा ऽआदित्य ऽएष रुक्मो ऽथ

चष्मों आदि के रूप में प्रकट होता है। पृथिवी इस जल पर स्थित है।

१. रोचो ह वै तं रुक्म इत्याचक्षते। रुच् (दीप्तौ) + मक्। रुक्मः = स्वर्णाभूषण; रुक्मम् = स्वर्ण, सोना।

२. आदित्य भी गोल हैं। रुक्म अर्थात् स्वर्णाभूषण भी गोल होता है।

३. सूर्य की रश्मियों की प्रतिनिधि हैं रुक्म की नोकें।

य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः,[1] स ऽएष तमेवैतदुप दधाति ॥१७॥

उस हिरण्मय पुरुष को रुक्म अर्थात् स्वर्णाभूषण पर स्थापित करता है। रुक्म है वह आदित्य, और जो यह इस आदित्यमण्डल में पुरुष है वह यह हिरण्मय-पुरुष है, उस आदित्यस्थ-पुरुष को ही इस हिरण्मय-पुरुष के रूप में स्थापित करता है।

उत्तानमुप दधाति। ते ऽर्वाञ्चमन्यमुपादधुः पराञ्चमन्यꣳ स ऽएष रश्मिभिरर्वाङ् तपति रुक्मः, प्राणैरेष ऊर्ध्वः पुरुषः, प्राञ्चमुप दधाति प्राङ् ह्येषो ऽग्निश्चीयते ॥१८॥

हिरण्मय पुरुष को पीठ के बल रखता है, अर्थात् उसका मुख ऊपर की ओर करके। उन (देवों) ने इस ओर एक (रुक्म) को स्थापित किया, और दूसरे (हिरण्मय-पुरुष) को परली ओर मुख कर के स्थापित किया। यह रुक्म [आदित्य] रश्मियों द्वारा इधर को ताप देता है, और यह पुरुष प्राणों द्वारा ऊपर के लोकों को प्राणित करता है। हिरण्मय पुरुष को, पूर्व की ओर उसका सिर कर के स्थापित करता है, क्योंकि अग्नि का चयन पूर्व की ओर ही किया जाता है।[2]

द्वाभ्यामुप दधाति ॥२१॥

दो ऋचाओं द्वारा हिरण्मय-पुरुष को स्थापित करता है। "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे" (यजु० १३।४), तथा "द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्याम्" (यजु० १३।५) द्वारा, (श० ७।४।१।१९,२०)।

---

१. यथा "हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। यो ऽसावादित्ये पुरुषः, सो ऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म॥ (यजु० ४०।१७)। मन्त्र में हिरण्मय-पात्र=आदित्य; और आदित्यस्थ पुरुष=प्रजापति, ईश्वर।

२. हिरण्मय-पुरुष को पुरुषाकृति के स्वरूप में बनाया जाता है। इसलिये दो स्रुचों के रूप में इसकी दो बाहुएं भी कथित की गई हैं (३६)। तथा "तस्माद् कुर्यादेवैतस्य पुरुषस्य बाहू" (श० ७।४।१।४५), के अनुसार हिरण्मय पुरुष की दो बाहुएं भी बनाई जाती हैं। दो स्रुचों को वस्तुतः बाहू नहीं माना।

अथ साम गायति । एतद्वै देवा ऽएतं पुरुषमुपाधाय तमेतादृश-मेवापश्यन्यथैतच्छुष्कं फलकम् ॥२२॥

अब सामगान करता है। देवों ने इस हिरण्मय-पुरुष को स्थापित करके इसे ऐसा ही देखा जैसा कि यह सूखा फटा [लकड़ी का तख्ता] है।

ते ऽब्रुवन् । उप तज्जानीत यथा ऽस्मिन्पुरुषे वीर्यं दधामेति ॥२३॥

वे देव बोले कि उस उपाय को जानो जिस द्वारा कि इस हिरण्मय-पुरुष में वीर्य अर्थात् सामर्थ्य हम स्थापित करें।

ते चेतयमानाः । एतत्सामापश्यन्, तदगायन्, तदस्मिन्वीर्य-मदधुः । तथैवास्मिन्नयमेतद् दधाति । पुरुषे गायति पुरुषे तद् वीर्यं दधाति ।।२४।।

उन देवों ने सोच कर, इस साम को देखा, उसे गाया, इस प्रकार इस हिरण्मय-पुरुष में वीर्य स्थापित किया । उसी प्रकार इस हिरण्मय-पुरुष में यह यजमान इस वीर्य को स्थापित करता है। पुरुष के ऊपर गाता है, पुरुष में उस वीर्य को स्थापित करता है

अथ सर्पनामैरुप तिष्ठते।।२५।। त ऽएतानि सर्पनामान्यपश्यन्। तैरुपातिष्ठन्त ।।२६।।

अब [यजमान] सर्पनाम-मन्त्रों[1] द्वारा हिरण्मय-पुरुष के समीप

---

१. "सर्पनाम" मन्त्र ३ हैं (यजु० १३।६-८) । इनके लिये नमः हो । नमः=यज्ञ "यज्ञो वै नमः" (श० ७।४।१।३०) । अभिप्राय यह कि इन्हें अपने अनुकूल बनानें के लिये यज्ञ करने चाहियें। या इन द्वारा प्राप्त होने वाले कष्टों के निवारण के लिये यज्ञ करने चाहियें । इन तीन मन्त्रों में, सर्पपद द्वारा, सर्पण करने वाले लोक, तथा इन लोकों में सर्पण करने वाले विषैले सर्पजीव, — दोनों अर्थ अभिप्रेत हैं । यज्ञों द्वारा वायु शुद्ध होकर, लोक कष्टप्रद नहीं होते । सर्प के काटने पर भी यथोचित सर्पविषनाषक ओषधियों द्वारा यज्ञ करने से, यज्ञोत्थ धूम के सुंघने से, विष का प्रभाव हट जाता है। यज्ञोत्थ धूम सीधा फेफड़ों

खड़ा होता है, या उसका उपस्थान अर्थात् पूजा करता है। क्योंकि उन [देवों] ने इन सर्पनाम-मन्त्रों का साक्षात् किया। उन द्वारा उपस्थान किया।

यद्वेव सर्पनामैरुप तिष्ठते। इमे वै लोकाः सर्पाः। यद्धि किं च सर्पत्येष्वेव तल्लोकेषु सर्पति। तद्यत्सर्पनामैरुपतिष्ठते यैवैषु लोकेषु नाष्ट्रा यो व्यध्वरो या शमिदा तदेवैतत्सर्वꣳ शमयति ॥२७॥

सर्पनाम मन्त्रों द्वारा उपस्थान करने का यह भी कारण है कि सर्प हैं, ये लोक। जो कोई (पदार्थ) सर्पण करता है इन्हीं लोकों में वह सर्पण करता है। तो वह जो सर्पनाम-मन्त्रों द्वाराउपस्थान करता है, उस द्वारा इन लोकों में जो ही नाशक तत्त्व हैं, जो व्यध्वर हैं, जो यज्ञियकर्मों और जो सुखशान्ति के विनाशक हैं, उन सबकी ही शान्त करता है।

[नाष्ट्रा=नाशिका। व्यध्वरः=वि+अध्वरः (यज्ञनाम, निघं० ३।१७); अध्वरः=ध्वरति हिंसाकर्मा. तत्प्रतिषेधः "(निरु० १। ३।८), अर्थात् जो अहिंसामय यज्ञों का विरोधी है। शमिदा=शम् (सुख, शान्ति)+दा(दाप् लवणे, दो अवखण्डने),सुख-शान्ति की जड़ काटने वाली या उसे खण्डित करने वाली। अथवा शमी (कर्मनाम' २।१ निघं०)+दाप् (लवणे) अर्थात् यज्ञ कर्म विघातिका]।

सर्पनाम मन्त्रः—

नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु। ये अन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः॥ (यजु० १३।६)॥ या इषवो यातुधानानां ये वा वनस्पतीꣳरनु। ये वा ऽवटेषु शेरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः॥ (यजु० १३।७)॥ ये वामी रोचने दिवो ये वा सूर्यस्य रश्मिषु। येषामप्सु सदस्कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः[1]॥ यजु० १३।८)॥

अथैनमुप विश्यामि जुहोति, आज्येन पञ्चगृहीतेन॥३२॥

में जाकर रक्त में मिल जाता है, और औषध मिला रक्त विष के प्रभाव को शीघ्र नष्ट कर देता है।

१. द्र० पूर्व पृष्ठ ६६ टिप्पणी १।

अब बैठकर इस हिरण्मय-पुरुष पर घृत की पांच आहुतियां देता है।

[प्रतिसर नामक पांच मन्त्र हैं (यजु० १३।९-१३)। प्रत्येक मन्त्र से एक-एक आहुति देता है। पांच आहुतियां देता है, क्योंकि अग्नि पञ्चचितिक है, पांच चयनों वाली है। वह इसके सब ओर घूम-घूम कर इन मन्त्रों से आहुतियां देता है, इसलिये इन पांच-मन्त्रों को प्रतिसर कहते हैं, अर्थात् पुरुष के चारों ओर घूम-घूम कर आहुतियां देने के मन्त्र।

[हिरण्मय-पुरुष का स्थापन (१५, १६), दो मन्त्रों के उच्चारण-पूर्वक स्थापन (१९,२०), उसे लक्ष्य करके उस पर सामगान (२२) उसे शुष्कफण्क जानकर सामगान द्वारा उसमें वीर्यस्थापन (२३,२४), सर्पनाम मन्त्रों द्वारा उपस्थान (२५), तथा हिरण्मय-पुरुष पर आज्याहुतियां (३२)—क्या मूर्तिस्थापन, उसकी स्तुति में गान, उसमें वीर्य-स्थापन द्वारा प्राणप्रतिष्ठा तथा उपस्थान, और आज्याहुतियांरूप नैवेद्य-चढ़ाना मूर्ति-पूजा का आरम्भिक स्वरूप नहीं? हिरण्मय-पुरुष आदित्यस्थ-पुरुष अर्थात् ओ३म्, खं ब्रह्मस्वरूप ईश्वर का, प्रतिमा-रूप ही तो है]।

> अथ स्रुचा ऽउपदधाति। बाहू वै स्रुचौ, बाहू ऽएवास्मिन्नेतत्प्रति दधाति। द्वे भवतो द्वौ हीमौ बाहू, पार्श्वत उपदधाति पार्श्वतो हीमौ बाहू ॥३६॥

अब दो स्रुचों को वेदि में स्थापित करता है। दो स्रुच् दो बाहुएँ हैं, इस वेदि में इस प्रकार दो बाहुओं को स्थापित करता है स्रुच् दो होतीं हैं, दो ही ये बाहुएँ होती है। इन में एक को वामपार्श्व में और दूसरी को दाएँ पार्श्व में स्थापित करता है, पार्श्वों में ही ये दो बाहुएँ होती हैं। [इस पक्ष का प्रतिवाद अगली कण्डिका में है] यथा,—

> स वै कुर्यादिवैतौ वा ऽअस्य बाहू ऽ्वेते स्रुचावथो ऽएतौ पक्षावथो यान्येतस्मिन्नग्नौ रूपाण्युपधास्यन् भवति यान्त्स्तोमान्यानि पृष्ठानि यानिच्छन्दाꣳस्येतयोरेव सा संस्कृतिरेतयोर्वृद्धिस्तस्मादु कुर्यादिवैतस्य पुरुषस्य बाहू ॥४५॥

वह सुवर्ण-पुरुष की दो वाहुएं वनाए ही, क्योंकि ये दो स्रुच् तो दो वाहुओं का अनुकरण मात्र हैं, वास्तविक नहीं। साथ ही दो स्रुच् अग्नि के दो पक्ष रूप हैं। और इस अग्नि में जो-जो रूप रखेगा अर्थात् जिन स्तोमों अर्थात् मन्त्रों के गेय-रूपों को, जिन पृष्ठों (साम-गान के स्वरूपों) को, जिन छन्दों को रखेगा,—वे सब इन्हीं दो की ही संस्कृति है, इन दोनों की वृद्धिरूप है। इसलिये इस सुवर्ण-पुरुष की दो वाहुएँ अवश्य वनाए ॥

[दो या दोनों का अभिप्राय है अग्निचयन की अग्नि, और सुवर्ण-पुरुष, अर्थात् जैसे दो स्रुच् अग्नि की दो वाहुएँ है, वैसे सुवर्ण-पुरुष की भी दो वाहुएँ होनी ही चाहियें। तथा जैसे साम-स्तोम आदि अग्नि के लिये होते हैं, वैसे साम-स्तोम आदि सुवर्ण-पुरुष के लिये भी होने ही चाहियें। पृष्ठानि = मुख्य साम के स्वरूप में जव उसके साथ उस के संवादी अन्य साम को मिला कर गाया जाता है तो यह मिश्रित स्वरूप "पृष्ठ" कहलाता है]।

कां० ७। अध्याय ४। ब्राह्मण २

स्वयमातृण्णामुप दधाति। इयं वै स्वयमातृण्णेमामेवैतदुप दधाति, तामनन्तर्हितां पुरुषादुप दधाति, अन्नं वै स्वयमातृण्णेयं वै स्वयमातृण्णेयमु वा अन्नमस्याँ हि सर्वमन्नं पच्यते ॥१॥

स्वयमातृण्णा[1] इष्टका को स्थापित करता है। यह पृथिवी स्वयमातृण्णा है, इस ही को इस प्रकार स्थापित करता है। उसे इस प्रकार रखता है कि वह विना व्यवधान हिरण्मय-पुरुष के ऊपर स्थित हो। क्योंकि स्वयमातृण्णा अन्न है, वस्तुतः यह पृथिवी भी स्वयमातृण्णा है और अन्न है, क्योंकि इस पृथिवी पर ही सव अन्न पकता है [अन्न जीवनप्रद होता है, न कि वोझीला, अतः इसे पुरुष पर रखना उसके लिये कष्टप्रद नहीं]।

---

१. स्वभावतः छिद्रों वाली इष्टका अर्थात् पत्थर। पृथिवी भी स्वयमातृण्णा है, इसमें छिद्र स्वभावतः हैं। तभी इस पर पड़ा जल इन छिद्रों द्वारा इस में लीन हो जाता है।

[स्वयमातृण्णा इष्टका पृथिवीरूप है, और पृथिवी अन्नों का आधार होने से अन्नरूप है। इसलिये पुरुष के समीप अन्न को रखता है]।

प्राणो वै स्वयमातृणा, प्राणो ह्येवैतत्स्वयमात्मान आतृन्ते, प्राणमेवैतदुप दधाति ॥२॥

स्वयमातृण्णा प्राण है, क्योंकि प्राण अर्थात् प्राणवायु स्वयं[1] ही शरीर से मानो फूट[1] कर निकलती रहती है। इस प्रकार वह प्राण को ही पुरुष में स्थापित करता है।

[स्वयमातृण्णा-इष्टका प्राण है, इसलिये इसे पुरुष पर रखने से पुरुष दब नहीं जाता]।

अथ दूर्वेष्टकामुप दधाति ॥१०॥ प्राणो ह्येष रसः, एतामुप दधत्सर्वा ऽओषधीरुप दधाति ॥१२॥

अब दूब-घास को स्वयमातृण्णा पर स्थापित करता है। यह दूब-घास प्राणरूप और रसीला होता है। इस दूब[2]-घास को स्वयमातृ-ण्णारूप पृथिवी पर स्थापित कर मानो समग्र ओषधियों को स्थापित करता है।

[शतपथ ब्राह्मण का अध्ययन करते समय इस सच्चाई को भूलना न चाहिये कि याज्ञिक अर्थों में तत्सम्बन्धी प्रत्येक कर्म,—किसी न किसी आध्यात्मिक, सामाजिक, राजनैतिक या आधिदैविक तत्त्व का प्रतिनिधिरूप है। जैसे कि कण्डिका १०,१२ में दूर्वा (दूब=घास) के स्थापन द्वारा यह दर्शाया है कि पृथिवी में दूब-घास प्राण और रस का प्रतिनिधि है। दूब-घास से केवल घास न समझ कर उसे प्राण और रसरूप समझना चाहिये]।

तामनन्तर्हिताँ स्वयमातृण्णाया ऽउप दधाति। इयं वै स्वय-

---

१. स्वयम्+आतृन्ते।

२. इसे ही खाकर दूध देने वाले पशु दूधरूपी रस प्रदान करते हैं, जिस के पीने से प्राण स्थिर रहते हैं। दूब-घास को इष्टका कहा है। इष्टका का अर्थ है ईंट। परन्तु दूब-घास ईंट नहीं। अतः इष्टका="इष्टं करोति सम्पादयति" इस अर्थ में इष्टका शब्द प्रयुक्त है।

मातृण्णा,अनन्तर्हितास्तदस्या ऽओषधीर्दधाति, उत्तराम्, उत्त-रास्तदस्या ऽओषधीर्दधाति। सा स्यात्समूला साग्रा कृत्स्नायै, यथा स्वयमातृण्णायामुपहिता[1] भूमिं प्राप्नुयादेवमुप दध्याद-स्यांँ ह्येवैता जायन्त ऽइमामनु प्ररोहन्ति ॥१३॥

उस दूर्वेष्टका को स्वयमातृण्णा पर, विना व्यवधान के, स्थापित करता है। स्वयमातृण्णा यह पृथिवी है। अतः ओषधियों को, व्यव-धान के विना, इस पृथिवी के ऊपर स्थापित करता है। वह दूर्वेष्टका (दूव-घास) मूलसहित तथा अग्रभाग सहित होनी चाहिये, पूर्णता के लिये। जिस प्रकार कि यह दूर्वा स्वयमातृण्णा पर रखी हुई भूमि[1] तक पहुंच सके इस प्रकार इसे स्थापित करे। क्योंकि इस भूमि पर ही ये ओषधियां पैदा होती हैं, और इस पर ही अङ्कुरित होती हैं।

द्वाभ्यामुप दधाति ॥१५॥

दो मन्त्रों द्वारा दूर्वेष्टका स्थापित करता है(यजु० १३।२०,२१)।

[दूर्वा-ओषधी यतः प्राण और रसरूप है, इसलिये भूमि पर इसे उत्पन्न करने का निर्देश कण्डिका १२-१५ में किया है]।

अथ द्वियजुषमुप दधाति।······यजमानो द्वियजुषमुप दधाति ···· तत्कर्म कृत्वा स्वर्गं लोकमयानीति······यद्वेव द्वियजुष-मुप दधाति यजमानो वै द्वियजुः ॥१६॥

अव द्वियजुः इष्टका को स्थापित करता है।···यजमान द्वियजुः इष्टका को स्थापित करता है···उस कर्म को करके स्वर्गलोक को मैं प्राप्त करूँ, इस निमित्त। वह जो द्वियजुः इष्टका को स्थापित करता है [वह यजमान अपने आप को स्थापित करता है, क्योंकि] द्वियजुः इष्टका यजमान ही है।

[द्वियजुः इष्टका को, स्वयंतृण्णा तथा दूर्वेष्टका के पूर्व में, स्था-पित करता है। ये दोनों इष्टकाएँ हिरण्मय-पुरुष पर स्थापित की जा

---

१. दूर्वा का मूल अर्थात् जड़ स्वयमातृण्णा पर रखता है, और उसके अग्र-भाग को भूमि पर, अर्थात् उसका अग्रभाग इतना लम्बा होना चाहिये कि वह झुक कर यज्ञस्थली की भूमि को छूता रहे।

चुकी हैं। इस प्रकार यजमान, जो कि स्वयम् द्वियजुः इष्टका रूप है, अपने आप को, हिरण्मय पुरुष के समीप स्थापित करता है]।

तदाहुः। यदसावेव यजमानो यो ऽसौ हिरण्मयः पुरुषो ऽथ कतमदस्येदँ रूपमिति। दैवो वा ऽअस्य स ऽआत्मा, मानुषो ऽयम्। तद्यत्स हिरण्मयो भवत्यमृतं वा ऽअस्य तद्रूपं देवरूपममृतँ हिरण्यम्। अथ यदिदं 'मदः-कृता' भवति मानषँ ह्यस्येदँ रूपम् ॥१७॥

इस पर प्रश्न करते हैं कि यदि द्वियजुः यजमान ही है, तो जो हिरण्मय पुरुष है वह इस यजमान का कौन सा रूप है। इसका उत्तर यह है कि वह हिरण्मय पुरुष इसका दैवी रूप है, और यह मानुषरूप है। अतः वह यजमान जव हिरण्मय हो जाता है तो वह इस यजमान का अमृतरूप होता है, अर्थात् देवरूप, क्योंकि हिरण्य अमृत है। और जो मिट्टी से वनाई गई इष्टका है। वह इसका मानुषरूप है।

[अभिप्राय यह कि यजमान के दो रूप हैं, एक मृद्-रूप और दूसरा अमृतरूप। मिट्टी की बनी इष्टका के रूप में तो वह मृन्मय शरीर रूप है, और प्राण[1] तथा रस को पा कर जब वह हिरण्मय-पुरुष के सान्निध्य को प्राप्त कर लेता है तो वह भी हिरण्मय-पुरुष के सदृश अमृतरूप हो जाता है। हिरण्मय-पुरुष का अमृतत्व तो सनातन है; और यजमान का अमृतत्व काल सीमित है]।

द्वियजुः=यजमान को द्वियजुः इसलिये कहा है कि यह यजुर्वेद के दो मन्त्रों द्वारा इन्द्र[2] और अग्नि की स्तुति करता है।

दो मन्त्र यथाः—

यास्ते, अग्ने सूर्य रुचो दिवमातन्वन्ति रश्मिभिः।
ताभिर्नो अद्य सर्वाभी रुचे जनाय नस्कृधि ॥ (यजु० १३।२२)

---

१. दूर्वेष्टका प्राण और रस रूप है (१३)। इसके स्थापन के अनन्तर वह द्वियजुः को स्थापित करता है। मानो प्राण और रस पाकर यजमान अपने आप को हिरण्मय-पुरुष के सान्निध्य में स्थापित कर हिरण्मय के सदृश अमृत हो जाता है।

२. इन्द्र=आदित्य। अग्नि=पार्थिवाग्नि।

या वो देवाः सूर्ये रुचो गोष्वश्वेषु या रुचः ।
इन्द्राग्नी ताभिः सर्वाभी रुचं नो धत्त बृहस्पते॥(यजु० १३।२३)॥

["द्वियजुः" के लिये कहा है कि "सा यद् द्विजुर्नाम द्वे ह्येतां देवते ऽपश्यताम्" (श० ७।४।२।१६), अर्थात् इस इष्टका का नाम "द्वियजुः" इसलिये भी है कि दो देवताओं (इन्द्र[1] और अग्नि) ने इस इष्टका को देखा था] ।

अथ रेतःसिचा ऽउप दधाति । इमौ वै लोकौ रेतःसिचौ । इमौ ह्येव लोकौ रेतः सिञ्चतः । इतो वा ऽअयमूर्ध्वᳪ रेतः सिञ्चति धूमᳪ सा ऽमुत्र वृष्टिर्भवति, तामसावमुतो वृष्टिम्। तदिमा ऽअन्तरेण प्रजाः प्रजायन्ते, तस्मादिमौ लोकौ रेतः-सिचौ ॥२२॥

अब रेतःसिच् नाम वाली दो इष्टकाओं को [द्वियजुः इष्टका के पूर्व में, उसके] समीप स्थापित करता है । ये दो लोक रेतःसिच् हैं। ये दोनों लोक रेतस् [जल] को सींचते हैं । यह पृथिवी लोक यहां से ऊपर की ओर रेतस् अर्थात् धूम्र को सींचता है, जो कि वहां अर्थात् द्युलोक में वृष्टिरूप होता है, उसे फिर वह द्युलोक वहां से वृष्टि करता है । उन दोनों लोकों के बीच में प्रजाएँ पैदा होती हैं, अतः ये दो लोक रेतःसिच् हैं ।

[रेतस्=उदकनाम (निघं० १।१२) । धूमम्=यज्ञोत्थ धूम या वाष्प । यथा "धूम्र ज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः" (कालिदास) रेतःसिच् नामी दो इष्टकाएँ प्रतिनिधि हैं पृथिवी लोक और द्युलोक की] ।

नानोप दधाति, नाना हीमौ लोकौ, सकृत्सादयति समानं तत्करोति, तस्मादु हानयोर्लोकयोरन्ताः समायन्ति ॥२३॥

दो रेतःसिच् इष्टकाओं को अलग-अलग तथा परस्पर के सामीप्य में स्थापित करता है, क्योंकि ये दो लोक [पृथिवी, द्यौः] अलग-अलग परन्तु परस्पर समीप स्थित हैं । दोनों इष्टकाओं को एक साथ स्थापित करता है। इस प्रकार इनमें एकता या समन्वय पैदा करता है,

---

१. इन्द्र=आदित्य । अग्नि=पार्थिवाग्नि ।

इसीलिये इन दोनों लोकों के अन्त परस्पर मिले हुए हैं।

[देखने पर क्षितिज पर, भूलोक और द्यु लोक के अन्त मिले हुए प्रतीत होते हैं]।

यद्द्वेव रेतःसिचावुप दधाति। आण्डौ वै रेतःसिचौ, यस्य ह्याण्डौ भवतः स एव रेतः सिञ्चति।......नानोपदधाति नाना हीमावाण्डौ, सकृत्सादयति समानं तत्करोति, तस्मात् समानसम्बन्धिनौ ते। अनन्तर्हिते द्वियजुषः ऽउप दधाति, यजमानौ वै द्वियजुः, अनन्तर्हितौ तद् यजमानादण्डौ भवतः ॥२४॥

जिस कारण दो रेतःसिच् इष्टकाओं के समीप में स्थापित करता है वह यह है कि रेतस् (वीर्य) के सींचने वाले दो अण्ड (Testicles) होते हैं। जिस के दो अण्ड होते हैं वह ही वीर्य सींचता है। रेतःसिच् दो इष्टकाओं को अलग-अलग परन्तु परस्पर समीप स्थापित करता है, क्योंकि अलग-अलग परन्तु परस्पर समीप दो अण्ड होते हैं। एक साथ दोनों इष्टकाओं को स्थापित करता है, इस प्रकार इन दो में समन्वय पैदा करता है, अतः ये दोनों परस्पर सम्बद्ध हैं। दोनों इष्टकाओं को व्यवधान से रहितरूप में द्वियजुः के समीप स्थापित करता है, क्योंकि द्वियजुः है यजमान, दो अण्ड यजमान की समीपता में ही स्थित होते हैं।

[यजमान के दो अण्डों के प्रतिनिधि, दो रेतःसिच् इष्टकाएँ हैं। इस प्रकार दो रेतःसिचों को अध्यात्म रूप में, दो अण्डों के प्रतिनिधि-रूप दर्शाया है]।

अथ विश्वज्योतिषमुप दधाति। अग्निर्वै प्रथमा विश्वज्योतिः, अग्निर्ह्यस्मिंल्लोके विश्वं ज्योतिः, अग्निमेवैतदुप दधाति। तामनन्तर्हिताᳮ रेतः सिग्भ्यामुप दधातीमौ वै लोकौ रेतः-सिचावनन्तर्हितं तदाभ्यां लोकाभ्यामग्निं दधाति, अन्तरेवोप दधाति, अन्तरेव हीमौ लोकावग्निः ॥२५॥

अब "विश्वज्योतिः" इष्टका को समीप में स्थापित करता है। पहली[१] विश्वज्योतिः अग्नि है, अग्नि ही इस लोक (पृथिवी) में विश्व-

---

१. स्वयमातृण्णा इष्टकाएं तीन होती हैं, विश्वज्योतिः इष्टकाएं भी

ज्योतिः है, अग्नि को ही समीप में स्थापित करता है। रेतःसिच् इष्टकाओं के भीतर, विना व्यवधान के, उसे स्थापित करता है; रेतःसिचः हैं ये दो लोक (पृथिवी और द्युलोक), इन दो लोकों के भीतर विना व्यवधान के, अग्नि को स्थापित करता है, रेतःसिच् दो इष्टकाओं के भीतर, उनके समीप स्थापित करता है क्योंकि इन दो लोकों के भीतर ही पार्थिव अग्नि है।

[पहली विश्वज्योतिः-इष्टका पार्थिव-अग्नि की प्रतिनिधि है]।

यद्वेव विश्वज्योतिषमुप दधाति। प्रजा वै विश्वज्योतिः प्रजा ह्येव विश्वं ज्योतिः, प्रजननमेवैतदुप दधाति। तामनन्तर्हिताᳪं रेतःसिग्भ्यामुपदधाति। आण्डौ वै रेतःसिचावनन्तर्हिताᳪं तदाण्डाभ्यां प्रजातिं दधाति। अन्तरेव ह्याण्डौ प्रजाः प्रजायन्ते ॥२६॥

विश्वज्योतिः-इष्टका को इसलिये भी स्थापित करता है कि विश्वज्योतिः है प्रजा अर्थात् सन्तानें; क्योंकि सन्तानें ही हैं विश्वज्योति। अतः प्रजनन अर्थात् वीर्य को ही इस प्रकार समीप स्थापित करता है। उस विश्वज्योतिः-इष्टका को, विना व्यवधान के, रेतःसिच् दो इष्टकाओं के समीप स्थापित करता है, क्योंकि रेतःसिच् अर्थात् वीर्य सेचक हैं दो अण्डे, अतः प्रजाति अर्थात् वीर्य को, विना किसी व्यवधान के, अण्डों में स्थापित करता है। अण्डों के बीच में ही प्रजा अर्थात् प्रजोत्पादक वीर्य पैदा होता है।

[अध्यात्म दृष्टि से विश्वज्योतिः हैं सन्तानें। गृहस्थ जीवन की निराशा और असहाय की भावनारूपी अन्धकार को सन्तानरूपी ज्योतियां दूर करती हैं। ये प्रजनन अर्थात् वीर्य से उत्पन्न होती हैं, अतः सन्तानें वीर्यरूप हैं। वह विश्वज्योतिः-इष्टका को रेतःसिच् इष्टकाओं के बीच रखता है, क्योंकि प्रजा अर्थात् प्रजा का कारणरूप वीर्य अण्डों के भीतर होता है]।

अथर्तव्ये ऽउप दधाति। ऋतव ऽएते यदृतव्ये ऽऋतूनेवैतदुप

तीन होती हैं। पहली, तीसरी और पांचवीं चिति में एक-एक विश्वज्योतिः इष्टका स्थापित की जाती है।

दधाति । मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू ऽइति नाम्नी । एनयोरेते नामभ्यामेवैतदुप दधाति । द्वे ऽइष्टके भवतो द्वौ हि मासावृतुः, सकृत्सादयति, एकं तदृतुं करोति ॥२६॥

अब दो ऋतव्य-इष्टकाओं को समीप में स्थापित करता है। ऋतव्य दो इष्टकाएँ, ऋतुरूप हैं; मानो ऋतुओं को ही समीप स्थापित करता है। मधु और माधव नामक दो मास वसन्त सम्वन्धी ऋतु हैं। इन दो नामों द्वारा दो इष्टकाओं को स्थापित करता है। इष्टकाएँ दो होती हैं, क्योंकि दो मासों की ऋतु होती है। एक साथ दोनों इष्टकाओं को स्थापित करता है, इस प्रकार दो मासों को एक ऋतुरूप करता है।

[विश्वज्योतिः हैं सन्तानें। विश्वज्योतिः के समीप ऋतव्य इष्टकाओं के स्थापन द्वारा सन्तानों का सम्वन्ध, माता की ऋतु-अवस्था को सूचित किया प्रतीत होता है। चैत्र में मधु पैदा हो जाता है, साथ ही यह मास मधुर प्रतीत होता है। अतः मधु पद द्वारा चैत्रमास निर्दिष्ट किया है, और तत्सम्वन्धी वैशाख को माधव कहा है]।

अषाढामुप दधाति ।········ तां पूर्वार्ध ऽउप दधाति ॥३२॥

अव अषाढा-इष्टका को समीप में स्थापित करता है। उसे वेदि के आधे भाग में स्थापित करता है।

यद्वेवाषाढामुप दधाति। वाग्वा ऽअषाढा, वाचैव तद् देवा ऽअसुरान्त्सपत्नान् भ्रातृव्यानस्मात्सर्वस्मादसहन्त, तथैवैतद् यजमानो वाचैव द्विषन्तं भ्रातृव्यमस्मात् सर्वस्मात्सहते, वाचमेव तद् देवा ऽउपादधत, तथैवैतद् यजमानो वाचमेवोपधत्ते ॥३४॥

अषाढा नामवाली इष्टका को स्थापित करता है। अषाढा है, वाक्। वाक् द्वारा ही देवों ने भ्रातृव्यों अर्थात् शत्रुभूत असुरों को पराभूत कर इस संसार से निकाल दिया था, उसी प्रकार ही यजमान वाक् के द्वारा ही, द्वेषी भ्रातृव्य को, इस अपने समग्र जीवन से, पराभूत कर निकाल देता है। अतः देवों ने वाक् को ही स्थापित किया, उसी प्रकार ही यजमान वाक् को ही स्थापित करता है।

[अषाढा का अर्थ है "पराभूत न होने वाली।" अषाढा-इष्टका

को वेदि के पूर्व में स्थापित करता है। अषाढा-इष्टका को वाक् का प्रतिनिधि माना है। इस प्रकार वाक् को पूर्व में स्थापन करने का अभिप्राय है "निज जीवनरूपी-यज्ञ में" मनरूपी यज्ञशाला या वेदि में; वाक् को सदा अपनी दृष्टि के सामने रखना।" यह वाक् है वेदवाणी।

देव और असुर हैं प्राजापत्य अर्थात् प्रजापति के पुत्र । यथा "द्वेवाश्चासुराश्चोभये प्राजापत्याः" (श० ६।८।१।१) देव तो दिव्यकर्मों वाले हुए और असुर आसुरी कर्मों वाले। देव हुए परोपकारी और असुर[1] हुए "स्वप्राणों के पोषण में तत्पर"। विचारभेद और कर्मभेद के कारण ये एक-दूसरे से स्पर्धा करने लगे "अस्पर्धन्त" (श० प० ६। ८।१।१)। अन्त में देवों को विजय प्राप्त हुई, और असुर पराजित हुए । निज दुर्गुणों अर्थात् इन्द्रिय-परायणता के कारण असुर देवों के साथ द्वेष करने लगे। असुर और देव भाई-भाई ही तो थे, क्योंकि दोनों प्रजापति-परमेश्वर की सन्तानें थीं। परन्तु असुर यतः द्वेष-भावना आदि द्वारा दूषित हो गए, अतः भ्रातृव्य अर्थात् भ्रातृ-सन्तान-रूपी असुरों को देवों ने शत्रुरूप जाना। [इस प्रकार भ्रातृव्य का अर्थ सपत्न अर्थात् शत्रु हो गया]।

देवों ने वाक् अर्थात् वेदवाणी का आश्रय लिया, तदनुसार अपने जीवनों को ढाला, वे देव बन गये, दिव्यगुणी हो गए। परन्तु असुर वेदवाणी से पराङ्मुख रहे। इसलिये देव विजयी हुए और उन्होंने जीवनों से असुरों को निकाल दिया। अध्यात्म दृष्टि से यह संग्राम है 'अध्यात्म देवासुर संग्राम'। २६,२६ और ३२ कण्डिकाओं में कथानकों द्वारा वेदवाणी का महत्त्व दर्शाया है। विश्वज्योतिः-इष्टका, ऋतव्य दो इष्टकाएँ, तथा अषाढा-इष्टका,—क्रमशः, प्रजा अर्थात् सन्तान, माता के ऋतुधर्म, और अपराभवनीया वेदवाणी की प्रतिनिधि हैं। अतः उत्तम सन्तान के लिये, ऋतुधर्म का ध्यान रखते हुए, वेदवाणी के आदर्शों को जीवनों में ढालने का निर्देश हुआ है।

कण्डिका में अध्यात्म तथा आधिभौतिक,— दोनों दृष्टियों से देवासुर संग्राम का वर्णन हुआ है। आधिभौतिक दृष्टि में,वेद विरुद्ध आचरण करने वाली आसुरी जनता को,वेदानुकूल करने वाले दिव्यगुणी प्रजा-जन परास्त कर देते हैं; यह भावना है। तथा अध्यात्म दृष्टि में मन-

१. असुराः=असुरताः (निरुक्त ३।२,८), अर्थात् प्राणपोषणपराः ।

रूपी प्रजापति की द्विविध सन्तानें हैं आसुर-भाव तथा दैवभाव। प्रारम्भ में आसुर-भाव दिव्यभावनाओं को दबाए रखते हैं। परन्तु दैव-भाव जब प्रबल हो जाते हैं तब आसुर-भाव पराजित हो जाते हैं]।

तथा

त ऽएते सर्वे प्राणा[1] यदषाढा। तां पूर्वार्ध ऽउपदधाति पुरस्तात्तत्प्राणान् दधाति। तस्मादिमे प्राणाः पुरस्तात् ॥३६॥

यह जो अषाढा-इष्टका है, वह सब प्राण हैं। उन्हें पूर्वार्ध में स्थापित करता है। मानो प्राणों को सबके सम्मुख स्थापित करता है। इसलिये ये प्राण सम्मुख में हैं, यतः प्राण लेने की नासिका सम्मुख ही है।

अपस्याः पञ्च पुरस्तादुप दधाति। अन्नं वा ऽआपो ऽनपिहिता वा ऽअन्नेन प्राणाः ॥३७॥

पांच अपस्या-इष्टकाओं को अषाढा के सम्मुख में समीप स्थापित करता है। आपः (जल) हैं, अन्न। अन्न द्वारा अषाढारूपी प्राण ढके नहीं जाते।

[प्राणों का आधार है, अन्न। अतः प्राणों के समीप अन्न स्थापित करने से प्राण कष्ट प्राप्त नहीं करते, अपितु अन्न द्वारा प्राण परिपुष्ट ही होते हैं। कण्डिका (३६) में अषाढा-इष्टका को प्राणों का भी प्रतिनिधि कहा है। इस अषाढा के सम्मुख अपस्या इष्टकाओं का स्थापन करना मानो प्राणों के समीप अन्न स्थापन करना है]।

कां० ७। अध्याय ५। ब्राह्मण १

कूर्ममुप दधाति।···—स ऽएष इमे ऽएव लोकाः ॥१॥

---

१. कण्डिका (३४) में अषाढ़ा को वाक् का प्रतिनिधि कहा है, और कण्डिका (३६) में उसे प्राणों का प्रतिनिधि भी कहा है, तथा कण्डिका (३७) में अषाढा के साथ अन्न का भी सम्बन्ध दर्शाया है। प्राणों की सत्ता के कारण ही मानुषी और वैदिकी वाणी बोली जाती हैं। तथा अन्न के विना प्राण की सत्ता नहीं हो सकती। इस प्रकार वाक्, प्राण और अन्न में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध द्योतित किया है।

कर्म[1] (कछुआ) को समीप स्थापित करता है।......यह कूर्म है, ये लोक, अर्थात् कूर्म इन तीन लोकों का प्रतिनिधि है।

तस्य यदधरं कपालम्। अयं वै स लोकः, तत्प्रतिष्ठितमिव भवति प्रतिष्ठित ऽइव ह्ययं लोकः। अथ यदुत्तरँ सा द्यौः, तद् व्यवगृहीतान्तमिव भवति व्यवगृहीतान्तेव द्यौः। अथ यदन्तरा तदन्तरिक्षँ स ऽएष ऽइम ऽएव लोका ऽइमामेवैतल्लोकामुप दधाति ॥२॥

उस (कूर्म) का जो नीचे का कपाल है वह है यह लोक (पृथिवी), वह कपाल निश्चल सा होता है, यह लोक (पृथिवी) भी निश्चल[2]

---

१. शतपथ ब्राह्मण का आङ्गल भाषा में अनुवाद करने वाले "जूलियस एग्गलिङ्ग" ने कूर्म (tortoise) पद के पूर्व, कोष्ठ में living पद दिया हैं, जिस का अभिप्राय है जीवित कूर्म। परन्तु शतपथ में ऐसा कोई पद नहीं।

२. पृथिवी गतिशील अनुभूत नहीं होती इसलिये इस लोक को निश्चल सा कहा है, वस्तुतः पृथिवीलोक गतिशील हैं। परन्तु पृथिवी है जड़, इसे परमेश्वर गतिशील कर रहा है, सम्भवतः कूर्म भी मृत हो जिसे कि ऋत्विक् चलाता है। "अथैनमेजयति" (९)। अर्थात् वह कूर्म स्वयं नहीं चलता, अपितु हाथ में पकड़ कर इसे चलाता है। कूर्म का अन्य वर्णन शतपथ ब्राह्मण (कां० १।६।२।३) में इस प्रकार मिलता है। "ते ऽर्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुः। श्रमेण ह स्म वै तद् देवा जयन्ति यदेषां जय्यमास ऽर्षयश्च। तेभ्यो देवा वैव प्ररोचयाञ्चक्रुः, स्वयं वैव दधिरे। प्रेत तदेष्यामा यतो देवाः स्वर्गं लोकँ समाश्नुवते हि। ते किं प्ररोचते, किं प्ररोचते ऽइति चेरुः। एतत्पुरोडाशमेव कूर्मं भूत्वा प्रसर्पन्तं ते ह सर्वं ऽएव मेनिरे ऽयं वै यज्ञ इति।" अर्थात् वे (ऋषि) अर्चना करते हुए और परिश्रम करते हुए विचरने लगे। श्रम द्वारा ही देवों ने उसे जीता, जिसे कि उन्होंने जीतना था। (ऋषियों को) देवों ने प्रेरणा की या उन्होने स्वयं संकल्प किया, कि चलो उसे ढूंडें, जिस द्वारा कि देवों ने स्वर्ग पाया। तुझे क्या ठीक प्रतीत होता है, तुझे क्या रुचता है,—इस प्रकार परस्पर पूछते हुए विचरे। इस पुरोडाश को ही, कूर्मरूप हो कर सरकते हुए को, उन सबने ही माना कि यह (पुरोडाश) निश्चय से यज्ञ है, अर्थात् यज्ञ का साधन है। इस प्रकार हविर्यज्ञों के प्रकरण में पुरोडाश को कूर्म कहा है, क्योंकि पुरोडाश कूर्म

सी होती है और जो ऊपर का कपाल (खोपड़ी) होता है वह द्युलोक है, ऊपर के कपाल के किनारे नीचली ओर से झुके हुए से होते हैं। तथा जो बीच का भाग है वह है अन्तरिक्ष। वह कूर्म ये लोक रूप ही हैं, कूर्म को स्थापित करता हुआ मानों इन ही लोकों को स्थापित करता है।

स यत्कूर्मो नाम। एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा ऽअसृजत, यदसृजताकरोत्, तद्यदकरोत्तस्मात्कूर्मः। कश्यपो वै कूर्मस्त-स्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य ॥५॥

वह (प्रजापति) कूर्म है। क्योंकि यह अर्थात् कूर्मरूप करके प्रजापति ने प्रजाएँ सृजीं, "सृजीं" का अभिप्राय है "कीं", उत्पन्न कीं। यतः उत्पन्न "कीं", इस से वह कूर्म नाम वाला हुआ। कूर्म है कश्यप।

के सदृश ऊपर से गोल और प्रान्त भागों में नीचे की ओर झुका हुआ होता है, जैसे कि भटूरा। पुरोडाश की आहुति भी दी जाती है, और इसे खाया भी जाता है। दधि, मधु तथा घृत से चुपड़ा जा कर पुरोडाश स्वादु बन जाता है। इस पुरोडाश को—जो कि चावलों तथा जौं की पीठी द्वारा बनाया जाता है, और पकाया जाता है,——पशु भी कहा है। यथा "पशूह वा ऽएष आलभ्यते यत् पुरोडाशः" (श० १।२।३।५)। यह पुरोडाश पशुरूप है,—यह जताने के लिये पुरोडाश के अङ्गों का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है। यथा—"यदा पिष्टान्यथ लोमानि भवन्ति। यदाप आनयत्यथ त्वग्भवति, यदा संयौत्यथ माꣳसं भवति। सन्तत इव हि स तर्हि भवति। [यदा श्रितं तदा ऽस्थि भवति] दारुणमिति। अथ यदुद्वासयिष्यन्नभिघारयति तं मज्जानं दधाति। एषो सा सम्पदाहुः पाँक्तः पशुरिति। (श० १।२।३।८), अर्थात्—चावल या जौं जब पीसे जाते हैं तो इनके अलग-अलग दानें सूक्ष्म लोम हैं। जब उनमें पानी डालता है तब वह त्वचा हो जाती है। जब उसे गूंधा जाता है तो वह मांस होता है, क्योंकि वह उस समय मांस की तरह फैला हुआ सा होता है। और जब कठोर हो जाता है तब यह हड्डी है। और जब आग पर से उसे उतारा जाता है और उस पर घी डालता है तो मानो उस पर मज्जा (marrow) डालता है। इस प्रकार पुरोडाश पाँच अङ्गों वाला पशु है। इस दृष्टि से कूर्म अर्थात् पुरोडाश पशु कहलाता है।

इसलिये कहते हैं कि सब प्रजाएँ कश्यप की सन्तानें हैं। कूर्मः=करोतीति कूर्मः।

[रूप और आकृति में भेद है। प्रजाओं को "करने" अर्थात् रचने के कारण प्रजापति का रूप कूर्म हुआ, कूर्म सदृश गोल-आकृति के कारण नहीं। कूर्म शब्द का वास्तविक अभिप्राय दर्शाने के लिये "अकरोत्" पद दिया है, अर्थात् प्रजाओं को "करने" के कारण प्रजापति कूर्म नाम वाला हुआ। अकरोत् और कूर्म,—दोनों पद "कृ" धातु से निष्पन्न हैं। अतः प्रजाओं के "करने" उत्पन्न करने के कारण प्रजापति की संज्ञा कूर्म हुई, न कि कूर्माकृति के कारण। प्रजाओं को करने के लिये प्रजापति का "कूर्मावतार" नहीं हुआ। सम्भवतः ऐसे प्रकरणों को देख कर कूर्मावतार की कल्पना की गई हो। कण्डिका में कूर्म (कछुआ) को, प्रजापति का रूप या प्रतिनिधि कहा है]।

दक्षिणतो ऽषाढायै। स यः सः कूर्मो ऽसौ स आदित्यः ॥६॥

कूर्म को अषाढा के दक्षिण में स्थापित करता है। वह जो कूर्म है, वह आदित्य है।

[अषाढा जब वाक् अर्थात् वेदवाणी है, तो उसके दक्षिण में कूर्म अर्थात् प्रजापति (ईश्वर) को स्थापन करने का अभिप्राय यह है कि वेदवाणीरूपी माता का दक्षिण हस्त प्रजापति है, अर्थात् वेदवाणी का मुख्य प्रतिपाद्य प्रजापति है। श्रेष्ठ व्यक्ति को अपने दक्षिण भाग में ही बैठाना चाहिये, न कि वाम भाग में।

इस कण्डिका ६ में कूर्म को आदित्य का भी प्रतिनिधि माना है। यथा "स यः सः कूर्मो ऽसौ स आदित्यः"। अतः आदित्य, कूर्म का आधिदैविक रूप है। कण्डिका (७) में "प्राणः कूर्मः" द्वारा प्राण को कूर्म का अध्यात्म रूप दर्शाया है। इस प्रकार कूर्म है तीनों लोकों का रूप (कण्डिका १); तथा प्रजापति का रूप (५); आदित्य का रूप (६); और प्राणों का रूप (७)]।

यद्वेव कूर्ममुप दधाति। प्राणः कूर्मः,प्राणो हीमाः सर्वाः प्रजाः करोति,प्राणमेवैतदुप दधाति। तं पुरस्तात्प्रत्यञ्चमुप दधाति, पुरस्तात्तत्प्रत्यञ्चं प्राणं दधाति,तस्मात्पुरस्तात् प्रत्यङ् प्राणो धीयते। पुरुषमभ्यावृत्तम्, यजमाने तत्प्राणं दधाति····॥७॥

कूर्म को जो [स्वर्ण-पुरुष के] समीप स्थापित करता है उसका कारण यह है कि प्राण है कूर्म; प्राण ही इन सब प्रजाओं को करता अर्थात् बनाता है,अतः प्राण को ही इस प्रकार स्वर्ण-पुरुष के समीप में स्थापित करता है। उस कूर्म को सामने तथा पश्चिम की ओर मुख करके स्थापित करता है, चूँकि सामने से पीछे की ओर प्राण गति करता है,इसीलिये सामने से पीछे की ओर प्राण स्थापित किया जाता है। स्वर्ण-पुरुष की ओर रखता हैं, इस प्रकार यजमान में प्राण स्थापित करता है।

[(१) स्वर्ण-पुरुष यद्यपि आदित्यस्थ ईश्वर-पुरुष का प्रतिनिधि है, परन्तु इसे यजमान का ध्येय या लक्ष्य जानकर इसे यजमान का रूप भी माना गया हैं। आत्मत्वेन ये दोनों समानरूप हैं। शरीर में प्राणवायु की गति भी सामने से पीछे अर्थात् शरीर की ओर नासिका द्वारा होती है,इसलिये प्राणरूपी कूर्म को सामने की ओर स्थापित कर उसका मुख पश्चिम की ओर रखता है]।

अथैनमेजयति ॥९॥ त्रिभिरुप दधाति, त्रिभिरभ्यनक्ति, अवका ऽअधस्ताद् भवन्त्यवका ऽउपरिष्टात्, आपो वै अवका ऽअपामेवैनमेतन्मध्यतो दधाति ॥११॥

अब इस कूर्म को चलाता है ॥९॥ तीन मन्त्र पढ़कर,अन्तिम मन्त्र द्वारा इसे वेदि में स्थापित करता है। तीन मन्त्रों द्वारा इसे चुपड़ता हैं। कूर्म के नीचे अवका "काई" होती है, और ऊपर भी अवका "काई"। अवका (काई) जल में पैदा होती है इसलिये जलरूप है, मानों जलों के मध्य में कूर्म को स्थापित करता हैं।

[त्रिभिरुपदधाति (यजु० १३।३०-३२), [श० ७।५।१।११]। त्रिभिरभ्यनक्ति (यजु० १३।२७-२९), [श० ७।५।१।११]। तथा दधि, मधु, घृत द्वारा कूर्म को चुपड़ता है (श० ७।५।१।३)। इन दो त्रिचों के मन्त्रार्थों को परिशिष्ट १. मन्त्र संख्या ९ से १४ में देखो। [यजुर्वेद में न तो कूर्म का वर्णन है, और न इसे दधि, मधु तथा घृत द्वारा चुपड़ने का]।

अथोलूखलमुसले ऽउप दधाति ॥१२॥ ते रेतःसिचोर्वेलयोरुप दधाति, उत्तरे, अरत्निमात्रे ॥१३॥

अब उलूखल (ओखली) और मुसल को स्थापित करता है ॥ ॥१३॥ उन्हें दो रेतःसिच्-इष्टकाओं के उत्तर में अरत्नि भर दूर स्थापित करता है।

[अरत्निः=बद्धमुष्टिकरो रत्निः, अरत्निः सकनिष्ठिका। अर्थात् मुष्टिबन्ध हाथ है रत्नि, और कोहनी से छोटी अङ्गुली की नोक तक का विस्तार है अरत्नि। ऊखल के निचले भाग को वेदि में गाड़ कर ऊपर के मुख को खुला रखता है, और ऊखल की दाहिनी ओर मुसल को स्थापित करता है (कात्यायन), तथा "मुसलं दक्षिणत ऽउप दधाति]।

प्रादेशमात्रे भवतः ॥१४॥

ऊखल और मुसल एक बालिश्त भर ऊँचे होते हैं।

[प्रादेश=हाथ की अङ्गुलियों को फैला कर अङ्गूठे के किनारे और छोटी अङ्गुली के किनारे के बीच का विस्तार]।

औदुम्बरे भवतः, ऊर्ग्वै रस ऽउदुम्बरः, चतुः स्रक्तिर्भवति, मध्ये संगृहीतं भवति, उलूखलरूपतायै ॥१५॥

ऊखल और मुसल उदुम्बर की लकड़ी के होते हैं। उदुम्बर (गूलर वृक्ष) ऊर्ज और रस प्रधान है। उलूखल चौकोन होता है। परन्तु मध्यभाग में संकुचित, ताकि वास्तविक उलूखल की आकृति वाला यह हो सके।

[ऊखल और मुसल अन्नरूप हैं, क्योंकि इन द्वारा कूट कर अन्न निष्पन्न होता है। उदुम्बर ऊर्ज अर्थात् बल और प्राणरूप है (ऊर्ज बलप्राणनयोः), तथा रसरूप है। इस प्रकार अन्न, ऊर्ज (बल और प्राण), तथा रस,—ये परस्पर सहायक हो जाते हैं। यथा "तान्येतान्यन्योऽन्येन गृहीतानि" (२०), अर्थात् अन्न, ऊर्ज तथा रस, एक दूसरे के आश्रय पर स्थित होते हैं, और इन द्वारा सब प्राणी जीवित होते हैं (१६ से २०)]।

अथोखामुप दधाति। तामुलूखल ऽउपदधाति ॥२६॥

अब उखा को स्थापित करता है, उसे उलूखल में स्थापित करता है।

[उलूखल में उखा [छोटी अंगीठी] को थोड़े काल के लिये स्थापित कर, फिर उसे वहां से उठा कर अगला कर्म करते हैं] । यथाः—

अथोपशयां पिष्ट्वा, लोकभाजमुखां कृत्वा, पुरस्तादुखाया ऽउपनिवपति ॥२८॥

उपशया (मिट्टी) को पीस कर, और उखा को कुच्छ काल पुनः ऊखल पर रख कर, पिसी मिट्टी को उखा के सामने अर्थात् पूर्व में रख देता है ।

[उपशया=उखा के निर्माण के पश्चात् शेष बची मिट्टी; उपशेते इति उपशया] ।

अथैनामभि जुहोति, आज्येन जुहोति, स्रुवेण, स्वाहाकारेण, द्वाभ्यामाग्नेयीभ्यां गायत्रीभ्याम् ॥३२॥

अब इस उखा पर आहुति[1] देता है, घी द्वारा आहुति देता है, स्रुव से, स्वाहा का उच्चारण करके, अग्निदेवता वाली दो ऋचाओं द्वारा । [यजु० १३।३६, ३७]

कां० ७ । अध्याय ५ । ब्राह्मण २

पशुशीर्षाण्युप दधाति । पशवो वै पशुशीर्षाणि पशूनेवैतद् दधाति, तान्युखायामुप दधाति । इमे वै लोका उखा, पशवः पशु शीर्षाण्येषु तल्लोकेषु पशून् दधाति, तस्मादिम ऽएषु लोकेषु पशवः ॥१॥

पशुओं के सिरों को स्थापित करता है । पशुओं के सिर पशु ही हैं, इस प्रकार पशुओं को ही स्थापित करता है, उन्हें उखा में स्थापित करता है । उखा है ये लोक, और पशुओं के सिर हैं पशु, अतः इन लोकों में पशुओं को स्थापित करता है । इस कारण इन लोकों में ये पशु हैं ।

तान्पुरस्तात्प्रतीच ऽउप दधाति ॥४॥

---

१. उखा में प्रदीप्त अग्नि को गार्हपत्यकुण्ड में डालना है, इसलिये उखा में अग्नि प्रदीप्त की जाती है ।

उन सिरों को पूर्व भाग में इस प्रकार रखता है कि उनके मुख पश्चिम की ओर हों।

तद्वा ऽउखायाम्, उदरं वा उखा, उदरे तदन्नं दधाति ॥७॥

इस कारण उखा में सिरों को रखता है कि उखा है पेट, अतः पेट में मानो अन्न रखता है।

अथैषु हिरण्यशकलान् प्रत्यस्यति। प्राणा वै हिरण्यम्। तद्य-
द्धिरण्यशकलान् प्रत्यस्यति [1]प्राणानेवैष्वेतद् दधाति ॥८॥

अब इन पशुसिरों में स्वर्ण के टुकड़े डालता है। स्वर्ण है प्राण। जो स्वर्ण के टुकड़े डालता है इन द्वारा इन पशुसिरों में मानो प्राणों को स्थापित करता है। [सुवर्ण भस्म प्राणों को सबल करती है]।

सप्त प्रत्यस्यति। सप्त वै शीर्ष-प्राणास्तानस्मिन्नेतद् दधाति।
यदि पञ्च पशवः स्युः पञ्चैव कृत्वः सप्त सप्त प्रत्यस्येत्।
पञ्च वा ऽएतान्पशूनुपदधाति, सप्त सप्त वा ऽएकैकस्मिन्
पशौ प्राणास्तदेषु सर्वेषु प्राणान्दधाति ॥९॥

प्रत्येक पशु में सात-सात स्वर्ण-टुकड़े[2] डालता है। सिर में सात प्राण हैं, उन प्राणों को वह इस सिर में मानो रखता है। यदि पांच पशु हों तो पांच बार, एक-एक पशु में, सात-सात टुकड़े डाले। क्योंकि इन पांच पशुओं को [उखा में] स्थापित करता है, एक-एक पशु में सात-सात प्राण हैं। इस प्रकार इन सब पशुओं में प्राणों को स्थापित करता है।

यद्येकः पशुर्भवति...... एतस्मिन् वै पशौ सर्वेषां पशूनाꣳ
रूपं, तद्यदेतस्मिन् प्रत्यस्यति तदेवैषु सर्वेषु प्राणान्दधाति ॥
॥१०॥

यदि एक पशु होता है (श० ६।२।२।१-७),[3]...... तो इस एक

---

१. प्रजापति......प्राणेभ्य ऽएवाधि पशून् निरमिमीत, मनसः पुरुषं, चक्षुषो ऽश्वं, प्राणाद्गाꣳ श्रोत्रादविं, वाचो ऽजम् ((श० ७।५।२।६)।

२. अर्थात् पांच पशुओं में ५×७=३५ स्वर्ण टुकड़े।

३. यह एक है अज अर्थात् बकरा। अतः इसे एक के सिर में ७ हिरण्य-

ही पशु [अज] में सब पशुओं के रूप विद्यमान हैं (श० ६।२।२।१५)। अतः वह जब इस एक पशु में स्वर्ण के [सात] टुकड़े डालता है तो इस द्वारा अब ही पशुओं में प्राणों को स्थापित करता है।

मुखे प्रथमं प्रत्यस्यति ॥११॥

स्वर्ण टुकड़े को पहले मुख में डालता है [मन्त्रपूर्वक] यथाः—

सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः।
घृतस्य धारा अभि चाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्ये अग्नेः॥
(यजु० १३।३८)

तदनन्तर निम्नलिखित मन्त्रपदों द्वारा स्वर्ण=टुकड़े स्थापित करता है, एक-एक करके:—"ऋचे त्वा" (यजु० १३।३९) द्वारा दाहिने नासिका-छिद्र में, "रुचे त्वा" (यजु० १३।३९) द्वारा बाएँ नासिका छिद्र में, "भासे त्वा" (यजु० १३।३९) द्वारा दाहिनी आंख में, "ज्योतिषे त्वा" (यजु० १३।३९) द्वारा बाईं आंख में, "अभूदिदं विश्वस्य भुवनस्य वाजिनमग्ने वैश्वानरस्य च" (यजु० १३।३९) द्वारा दाहिने कान में, "अग्निर्ज्योतिषा ज्योतिष्मान् रुक्मो वर्चसा वर्चस्वान्" (यजु० १३।३९) द्वारा बायें कान में। इन मन्त्र पदों में 'विश्व' शब्द का अर्थ हैं कान। यथाः—"विश्वँ श्रोत्रम्" (७।५।२।१२)।

[यजु० १३।३८, ३९ मन्त्रों के अर्थ देखो "मन्त्रार्थ" परिशिष्ट (१), मन्त्र संख्या १५, १६ में]।

अथ पुरुषशीर्षमुद् गृह्णाति ॥१३॥

अब पुरुष के सिर को उठाता है।

अथैनानुप दधाति। पुरुषं प्रथमं, पुरुषं तद् वीर्येणात्यादधाति। मध्ये पुरुषमभित ऽइतरान्पशून्, पुरुषं तत्पशूनां मध्यतो ऽत्तारं दधाति, तस्मात्पुरुष ऽएव पशूनांमध्यतो ऽत्ता ॥१४॥

टुकड़े डालने पर पांचों पशुओं के सिरों में सात-सात टुकड़े डाले गए समझने चाहियें। कई याज्ञिक कहते हैं कि इस एक पशु के सिर में भी ५×७ अर्थात् ३५ टुकड़े डाल देने चाहियें। यथा "तद्धैके ऽपि। यद्येकः पशुर्भवति पञ्चैव कृत्वः सप्त-सप्त प्रत्यस्यन्ति" (७।५।२।१०)।

अब इन सब सिरों को स्थापित करता है। पहिले पुरुष के सिर को, इस से पुरुष को वीर्य से सम्पन्न करके, उसका आधान करता है, मध्य में पुरुष को और उसके चारों ओर अन्य पशुओं के सिरों को। इस प्रकार पशुओं के मध्य में पुरुष को "अत्ता" रूप में स्थापित करता है। इसलिये पुरुष ही, पशुओं में, "अत्ता" है।

अश्वं चाविं चोत्तरतः दधाति ॥१५॥

घोड़े और भेड़ को उत्तर की ओर स्थापित करता है।

गां चाजं च दक्षिणतः दधाति ॥१६॥

गौ को और बकरे को दक्षिण की ओर स्थापित करता है।

पयसि पुरुषमुप दधाति। पशवो वै पयो यजमानं तत् पशुषु प्रतिष्ठापयति। "आदित्यं गर्भं पयसा सम ङ्ग्धि"......द्वारा ॥१७॥ (यजु० १३।४१)।

पुरुष के सिर को दूध में स्थापित करता है। पशु हैं दूध। इस प्रकार पशुओं में यजमान को प्रतिष्ठा से युक्त करता है। कण्डिका (१७) के अनुसार। कण्डिका (१४) में "अत्ता" का अभिप्राय दुग्ध का अत्ता प्रतीत होता है, न कि पशुमांस का।

[उखा में दूध डाला होता है, उस पर पुरुष के सिर को स्थापित करता है। यजु० मन्त्र १३।४१ में "पयसा" शब्द देखकर इस विधि को कल्पित किया गया है। समग्र यजुर्वेद में ऐसा कोई मन्त्र नहीं दिया जिसके आधार पर पुरुष का सिर काटा जाय। यजु० मन्त्र १३।४१ में भी "माऽभिमंस्थाः" का अर्थ शतपथ (७।५।२।१७) में ही दिया है "मैनꣳ हिꣳ सीः", अर्थात् इसकी हिंसा न कर, अपितु "शतायुषं कृणुहि" इसे १०० वर्षों की आयु वाला कर। परन्तु फिर भी याज्ञिक-विधि के अनुसार पुरुष[1] का सिर काट कर वेदि में स्था-

---

१. पुरुष, अश्व, गौ, अवि तथा अज—इनके सिरों को काट कर वेदि में स्थापन करना, पुरुष के सिर पर आज्याहुति देना आदि का विधान यजुर्वेद के किसी मन्त्र में नहीं, अपितु यजु० १३।४१-४५ तथा ४७-५० तक में "माभि-मंस्थाः", और "मा हिंसी," द्वारा बार-बार इनकी हिंसा का निषेध होते हुए

पित किया जाता है। इस अनार्ष विधि के लिये आश्चर्य है। तथा (६।३।१।२४) में स्पष्ट कहा है कि "अनद्धापुरुषम्" अर्थात् "अवास्तविक अलीक" पुरुष। अलीक का अभिप्राय है मिट्टी या तिनकों द्वारा बनाया गया कृत्रिम पुरुष, न कि जीवित वास्तविक पुरुष। "अद्धा"=सत्यम् (निघं० ३।१०), अतः "अनद्धा है झूठा, अवास्तविक।

अथोत्तरतो ऽश्वम्। "वातस्यजूतिम्" (यजु० १३।४२)॥१८॥

अब उत्तर अर्थात् वेदि में बाईं ओर अश्व के सिर को स्थापित करता है "वातस्यजूतिम्" (यजु० १३।४२) मन्त्र द्वारा।

अथ दक्षिणतो गाम्। "अजस्रमिन्दुमरुषम्" (यजु० १३।४३) ॥१९॥

अब दक्षिण अर्थात् दाहिनी ओर गौ के सिर को रखता है, "अजस्रमिन्दुमरुषम्" (यजु० १३।४३) मन्त्र द्वारा।

अथोत्तरतो ऽविम् "वरूत्रीं त्वष्टुर्वरुणस्य नाभिम्" (यजु० १३।४४) ॥२०॥

अब उत्तर अर्थात् बाईं ओर भेड़ के सिर को रखता है, "वरूत्रीं त्वष्टुर्वरुणस्य नाभिम्" (यजु० १३।४४) मन्त्र द्वारा।

अथ दक्षिणतोऽजम्। "यो ऽग्निरग्नेरध्यजायत" (यजु० १३।४५) ॥२१॥

अब दक्षिण अर्थात् दाहिनी ओर अज अर्थात् बकरे के सिर को रखता है "यो ऽग्निरग्नेरध्यजायत" (यजु० १३।४५) मन्त्र द्वारा। [मन्त्रार्थ परिशिष्ट (१), मन्त्र संख्या १७ से २७ तक में देखो]।

[विशेषः—शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार "अज" का अर्थ है वाक्

भी इनकी हिंसा की जाती है। इससे मन्त्रों की आज्ञाओं और याज्ञिक कर्मों में विरोध ही प्रतीत होता है। इन मन्त्रों की व्याख्या मन्त्रार्थ परिशिष्ट (२) में देखो।

अर्थात् वाणी, न कि वकरा, यथा:—"वाग्वा ऽअजो, वाचो वै प्रजा विश्वकर्मा जजान" (श० ७।५।२।२१,३६)। पुरुष अर्थात् अनद्धा-पुरुष (श० ६।३।१।२४)। "अश्व, गौ, अवि",—ये तीन पशुरूप हैं, परन्तु अज है वाक् जिसमें कि शेष पशुओं का अन्तर्भाव दर्शाया है (६।२।२।१५)। अतः यह पशु प्रकरण, विशेष अभिप्राय वाला प्रतीत होता है। भूमिका में इस अभिप्राय को स्पष्ट किया गया है। अज=सम्भवतः नित्या वेदवाणी या वेद, (अ+ज) (जन्म से रहित)]।

अथ पुरुषशीर्षमभि जुहोति ॥२३॥ शीर्षस्तद् वीर्यं दधाति; आज्येन जुहोति; स्वाहाकारेण; त्रिष्टुभा ॥२४॥

अब पुरुष के सिर पर आहुति देता है (२३) इस द्वारा सिर में वीर्य (शक्ति) स्थापित करता है; आज्य (घी) से आहुति देता है। स्वाहा का उच्चारण करके, त्रिष्टुप् छन्द वाली ऋचा द्वारा (२४)।

[त्रिष्टुप् छन्द वाली ऋचा सम्भवतः यजु० १३।४६ अभिप्रेत हो। यथा—

"चित्रं देवानामुदगादनीकं, चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आप्रा द्यावापृथिवी ऽअन्तरिक्षꣳ सूर्य ऽआत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥
(यजु० १३।४६)]।

स वाऽअर्धर्चमनु द्रुत्य स्वाहाकरोति। अस्थि वा ऽऋगिदं तच्छीर्षकपालं विहाप्य यदिदमन्तरतः शीर्ष्णो वीर्यं तदस्मिन् दधाति ॥२५॥

आधी ऋचा (यजु० १३।४६) के पूर्वार्ध को शीघ्रता से उच्चारण करके "स्वाहा" का उच्चारण करता है। ऋचा है हड्डी। इस शीर्षकपाल अर्थात् सिर की खोपड़ी को फाड़ कर, इस सिर के अन्दर जो वीर्य है उसे इसमें स्थापित करता है।

[ऋचा (यजु० १३।४६) के प्रथम के दो पादों का शीघ्र उच्चारण करे। जैसे ऋचा को दो भागों में फाड़ा है, ऐसे सिर के कपाल को भी दो भागों में फाड़े। पुरुष के सिर को काटने पर सिर का वीर्य निकल गया था, उस क्षति की पूर्त्ति आज्यरूपी वीर्य की आहुति द्वारा करता है]।

अथोत्तरमर्धर्चमनु द्रुत्य स्वाहा करोति। इदं तच्छीर्षकपालꣳ संधाय यदिदमुपरिष्टाच्छीर्ष्णो वीर्यं तदस्मिन् दधाति ॥२६॥

अब ऋचा के अगले आधे भाग का शीघ्र उच्चारण करके, स्वाहा का उच्चारण करता है। इस प्रकार सिर की खोपड़ी को जोड़ कर, जो सिर की खोपड़ी का ऊपर का वीर्य था उसे इसमें स्थापित करता है।

[यजु० १३।४६ की ऋचा को अस्थि (हड्डी) कहा है। ऋचा के दो अर्धभाग कर, इस ऋचारूपी हड्डी को फाड़ कर, ऋचा के उत्तरार्ध भाग का शीघ्र उच्चारण कर, उसे ऋचा के पूर्वार्ध भाग के साथ जोड़ा है। इसी प्रकार सिर की हड्डी के दो भाग कर उन्हें जोड़ता है। शल्यक्रिया में कटे स्थानों को शीघ्र ही परस्पर जोड़ देना होता है। इस भावना को "अनुद्रुत्य" पद द्वारा दर्शाया है]।

अथोत्सर्गैरुपतिष्ठते। एतद्वै यत्रैतान् प्रजापतिः पशूनालिप्सत ते ऽआलिपचमाना ऽअशोचंस्तेषामेतैरुत्सर्गैः शुचं पाप्मानमपाᳫँहस्तथैवैषामयमेतदेतैरुत्सर्गैः शुचं पाप्मानमपहन्ति॥२८॥

अब [1]उत्सर्ग-मन्त्रों द्वारा [सिरों का] उपस्थान करता है। जब प्रजापति ने पशुओं का आलम्भन (पकड़ना) चाहा, तो पकड़े जाने के विचार से उन्हें [पशुओं को] शोक हुआ, उनके शोक को, पाप को, उन उत्सर्ग-मन्त्रों द्वारा उसने दूर किया या नष्ट किया। उसी

---

१. उत्सर्ग=छुड़ाना (शोक को छुड़ाना)। ये उत्सर्ग मन्त्र ५ हैं (यजु० १३।४७-५१)। इनमें से एक-एक मन्त्र का उच्चारण कर पुरुष, अश्व, गौ, भेड़ और बकरे में से प्रत्येक के मारे जाने के, शोक को दूर करता है। "जो मर गए, जिनके कि सिरों को वेदि में स्थापित किया हुआ है, उन सिरों में क्या अभी तक शोक वासना है जिसे कि दूर करना है"? इन उत्सर्गमन्त्रों की व्याख्या "मन्त्रार्थ परिशिष्ट (१)" में देखो। आलिप्सत=यह पद आ+लभ्+सन् (इच्छा) का रूप है। "आ+लभ्" का धात्वर्थ है लाभ अर्थात् प्राप्ति। मन्त्र संहिताओं में "आ+लभ्" हिंसार्थक नहीं। यथा "अक्षान् बभ्रूनालभे" (अथर्व० ७।१०९।७); अर्थात् जो भूरे अक्षों का मैं ग्रहण करता हूं। यहां "आलभे" का अर्थ है, ग्रहण करना; न कि वध करना। तथा "ये त्वा कृत्वालेभिरे" (अथर्व० १०।१।९) में "आलेभिरे" का अर्थ है, ग्रहण किया, अथर्ववेद के आङ्गलभाषानुवादक "ह्विटनी" ने अनुवाद किया है "Took hold of"

प्रकार यह यजमान, इन उत्सर्ग-मन्त्रों द्वारा, इनके शोक को, पाप को, दूर करता या नष्ट करता है।

अपस्या ऽउप दधाति। आप ऽएता यदपस्या ऽथ वा ऽएतेभ्यः पशुभ्यः ऽआप ऽउत्क्रान्ता भवन्ति, तद्यदपस्या ऽउप दधाति, एष्वेवैतत्पशुष्वपो दधाति, अनन्तर्हितास्तत्पशुभ्यो ऽपो दधाति। पञ्च पञ्चोप दधाति, पञ्च ह्येते पशवः; सर्वत ऽउप दधाति ॥४०॥

अब अपस्या-इष्टकाओं को स्थापित करता है। अपस्या हैं जल। इन पशुओं से जल निकल गया था, इसलिये अपस्या-इष्टकाओं की स्थापना करता है ताकि इन पशुओं में जल स्थापित हो जाय, विना व्यवधान के पशुओं के समीप जल स्थापित करता है। पांच-पांच अपस्या-इष्टकाओं को प्रत्येक पशु के सिर के समीप स्थापित करता है, क्योंकि पांच ही ये पशु हैं। इष्टकाओं को प्रत्येक दिशा में एक-एक इष्टका करके स्थापित करता हैं।

[जब पांच पशुओं का हनन किया, तब "रक्त-रस-रूप-आपः" अर्थात् जल इनसे निकल गए थे, उन जलों को अपस्या-इष्टकाओं के रूप में स्थापित कर, मानों उन जलों को उनमें स्थापित करता हैं। अपस्याः=आपः अर्थात् जल की प्रतिनिधिरूप-इष्टकाएँ। (७।४।२।३७) में भी अपस्या पांच इष्टकाओं का वर्णन हुआ है, वहां इन्हें अन्न रूप कहा है]।

तद्याः पञ्चदश पूर्वाः, ता ऽअपस्याः ॥४१॥ अथ याः पञ्चोत्तराः ताः छन्दस्याः ॥४२॥

उनमें से प्रथम वर्णित अपस्याः-इष्टकाएँ १५ होती हैं ॥४१॥ तथा जो उत्तर वर्णित ५ इष्टकाएँ हैं वे छन्दस्याः कही जाती हैं॥४२॥ कण्डिका ४०, ४१,४२ की स्पष्टता के लिये यजुर्वेद १३।५३ का मन्त्र निम्नरूप है,—

अपां त्वेमन्त्सादयाम्यपां त्वोद्मन्त्सादयाम्यपां त्वा भस्मन्त्सादयाम्यपां त्वा ज्योतिषि सादयाम्यपां त्वायने सादयाम्यर्णवे त्वा सदने सादयामि समुद्रे त्वा सदने सादयामि सरिरे त्वा

सदने सादयाम्यपां त्वा क्षये सादयाम्यपां त्वा सधिषि साद-याम्यपां त्वा सदने सादयाम्यपां त्वा सधस्थे सादयाम्यपां त्वा योनौ सादयाम्यपां त्वा पुरीषे सादयाम्यपां त्वा पाथसि सादयामि गायत्रेण त्वा छन्दसा सादयामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि जागतेन त्वा छन्दसा सादयाम्यानुष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि पाङ्क्तेन त्वा छन्दसा सादयामि ।।

इस मन्त्र के दो भाग जानने चाहियें पूर्वभाग और उत्तरभाग । उत्तरभाग में छन्दः शब्दों वाले ५ मन्त्र खण्ड हैं, और पूर्वभाग में "अपां त्वेमन्त्सादयामि" आदि 'अपाम्' शब्दों वाले १५ मन्त्र खण्ड हैं। इन दो भाग के २० मन्त्र खण्डों द्वारा २० (१५+५) इष्टकाओं का स्थापन प्रथमा चिति में होता है । पूर्व भाग की १५ इष्टकाओं को अपस्याः कहा है, (४१) और उत्तरभाग की ५ इष्टकाओं को छन्दस्याः कहा है (४२) । पूर्वभाग की १५ इष्टकाओं "पूर्वाः" अर्थात् प्रथम वर्णित, तथा उत्तरभाग की ५ इष्टकाओं को "उत्तरा," अर्थात् उत्तरभाग में वर्णित कहा है ।]

[अग्निचयन की वेदि के चित्र के मध्य, चौकोन में, दो प्रकार की रेखाएँ निर्दिष्ट की हैं । एक "E=Eeast=पूर्व" से W=West= पश्चिम की ओर, और दूसरी N=North उत्तर से S=South= दक्षिण की ओर । ये दो रेखाएँ मध्य में परस्पर काटती हैं । इन दो रेखाओं को अनूक (Sapins) कहते हैं, और इनके प्रान्त भागों को अनूकान्त कहते हैं । पूर्वीय अनूकान्त पर पहिले, मन्त्र के पूर्वभाग के प्राथमिक ५ मन्त्र खण्डों के एक-एक मन्त्र-खण्ड का उच्चारण करके एक-एक इष्टका स्थापित की जाती है । इस प्रकार पूर्वीय अनूकान्त पर ५ इष्टकाएँ स्थापित कर, दक्षिण और पश्चिम दो अनूकान्तों पर शेष १० मन्त्रखण्डों द्वारा पांच-पांच इष्टकाएँ स्थापित की जाती हैं । ये १५ इष्टकाएँ १५ अपस्याः हैं । मन्त्र में ५ मन्त्रखण्ड अवशिष्ट हैं, जिनमें "छन्दसा" शब्द ५ वार पठित है । इन ५ मन्त्रखण्डों द्वारा ५ इष्टकाएँ उत्तर अनूकान्त पर स्थापित की जाती हैं । इन्हें छन्दस्याः कहते हैं] ।

काण्ड ७ सम्पूर्ण

काण्ड ८

अध्याय १। ब्राह्मण १

प्राणभृत ऽउप दधाति। प्राणा वै प्राणभृतः प्राणानेवैतदुप दधाति, ताः प्रथमायां चिता ऽउप दधाति, पूर्वार्ध ऽएषो ऽग्नेर्यत्प्रथमा चितिः, पुरस्तात्तत् प्राणान् दधाति, तस्मादिमे पुरस्तात्प्राणाः ॥१॥

प्राणभृत्-इष्टकाओं को स्थापित करता है। प्राणभृत् हैं प्राण। इस प्रकार प्राणों को ही इष्टकाओं के रूप में स्थापित करता है। उन इष्टकाओं को पहली-चिति (चयन, तह) में स्थापित करता है। पहली-चिति अर्थात् पहली तह, अग्नि (वेदि) का पूर्व का भाग है। अतः प्राणों (इष्टकाओं) को वह वेदि के पूर्व के भाग में स्थापित करता है। इसीलिये ये प्राण, प्राणियों के आगे या सामने में होते हैं।

[शरीर में प्राण आगे या सामने की ओर ही होते हैं, नासिका द्वारा प्राण-अपान अर्थात् श्वासोच्छ्वास क्रिया सामने की ओर से ही होती है। वेदि की पहली-तह को "पूर्वार्ध" चिति द्वारा सूचित किया है]।

ता दश-दशोप दधाति। दश वै प्राणाः। पञ्चकृत्वो दश[1]-दशोप दधाति। पञ्च वा ऽएतान् पशूनुप दधाति। दश-दश

---

१. यजुर्वेद १३।५४-५८ के ५ मन्त्रों में से प्रत्येक मन्त्र के १० मन्त्रखण्ड करके, प्रत्येक मन्त्रखण्ड द्वारा एक-एक करके दस-दस प्राणभृत् इष्टकाओं को ५ दिशाओं में स्थापित किया जाता है। प्रथमाचिति में चयन किये गए ५ पशुओं में से प्रत्येक के सिर में प्राणधारण के निमित्त, प्रत्येक सिर के समीप दस-दस इष्टकाएं स्थापित की जाती हैं। ये सब मिलकर ५×१०=५० इष्टकाएं होती हैं। यह यह याज्ञिक विधि, मूर्ति में पौराणिक प्राण प्रतिष्ठा को अनुरूप है।

वा ऽएकैकस्मिन् पशौ प्राणाः। तदेषु सर्वेषु प्राणान् दधाति। अतन्तर्हिताः पशुभ्य ऽउप दधाति, सर्वत ऽउप दधाति ॥३॥

उन प्राणभृत्-इष्टकाओं को दस-दस करके स्थापित करता है। प्राण दस ही होते हैं। दस-दस प्राणेष्टकाओं को पांच वार स्थापित करता है, क्योंकि पांच पशुओं को स्थापित करता है। एक-एक पशु में दस-दस प्राण हैं। इस प्रकार इन सब पशुओं में प्राणों को स्थापित करता है। पशुओं से चिपका कर ही प्राणेष्टकाओं को स्थापित करता है। सब ओर स्थापित करता है।

स पुरस्तादुप दधाति "अयं पुरो भुव" इति ॥४॥

"अयं पुरोभुवः" (यजु० १३।५४) द्वारा वेदि के सामने अर्थात् पूर्व में १० इष्टकाओं को स्थापित करता है।

वसिष्ठ ऽऋषिरिति। प्राणो वै वसिष्ठ ऽऋषिर्यद्वै नु श्रेष्ठस्तेन वसिष्ठो ऽथो यद्वस्तृतमो वसति तेनो ऽएव वसिष्ठः। नानोप दधाति, सकृत्सादयति॥६॥

वसिष्ठ ऋषिः (यजु० १३।५४)। प्राण ही वसिष्ठ ऋषि है। यतः प्राण श्रेष्ठ है इसलिये यह वसिष्ठ है। तथा यतः यह अन्य शक्तियों में सर्वमुख्य होकर शरीर में वस रहा है, इसलिये भी यह वसिष्ठ है [अभिप्राय यह कि शरोर में नासिका, चक्षु, कान आदि किसी शक्ति के अभाव में भी प्राणी जीवित रह सकता है, परन्तु प्राण के अभाव होते ही तत्काल मृत्यु हो जाती है], अतः प्राण वसिष्ठ तथा वस्तृतम है। इष्टकाओं को अलग-अलग स्थापित करता हैं, और एक वार में ही स्थापित करता है॥

[१० इष्टकाएँ १० प्राणों की प्रतिनिधि हैं। १० प्राण हैं "प्राण अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कूकर या कृकल, देवदत्त, धनञ्जय" (सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास, महर्षि दयानन्द)]।

अथ दक्षिणतः (यजु० १३।५४)। अयं वै वायुर्विश्वकर्मा यो ऽयं पवते। एष हीदꣳ सर्वं करोति। तद् यत् तमाह दक्षिणेति तस्मादेष दक्षिणैव भूयिष्ठं वाति। मनो ह वायुर्भूत्वा दक्षिणतस्तस्थौ ॥७॥

यह वायु विश्वकर्मा हैं जो कि यह बहता है। यह वायु ही इस सब की रचना करता है। इस वायु को कहा है दक्षिणा, इसलिये वायु दक्षिण में ही अधिक बहता है। वायु मन होकर दक्षिण में स्थित है। विश्वकर्मा:=विश्व (सब को)+कर्मा (करनेवाला, रचने वाला)।

[भूखण्ड के दक्षिण में समुद्र है। वहां जब सूर्य की गर्मी अधिक पड़ती है तब समुद्र का जल वाष्परूप होकर वायु में संचित होता रहता है, और वर्षाकाल में मानसून वायु के रूप में वेग प्राप्त कर दक्षिण से उत्तर-भूखण्ड की ओर प्रवाहित होता है। वह प्रवाह मन के वेग के सदृश होता है। अतः उस वायु प्रवाह को मन कहा है। भूखण्ड में ओषधियों, वनस्पतियों, जलों, अन्नों तथा अन्न से उत्पन्न रेतस् (वीर्य) से प्राणि-सृष्टि की रचना होती है। इसलिये वायु को विश्व-कर्मा कहा है। साथ ही पृथिवी को घेरे हुआ वायु भी प्राण शक्ति प्रदान द्वारा सब को जीवित कर रहा है। यह वायु भी सदा गतिशील है, चञ्चल है, मन के सदृश। अतः इस वायु को भी मन कहा है। वायु यतः सदा गतिशील है इसलिये इसे "सदागति" कहते हैं। मन भी सदा गतिशील है। जागते-सोते मन की गति होती ही रहती है]।

> भरद्वाज ऋषिः। मनो वै भरद्वाज ऽऋषिः। अन्नं वाजो, यो वै मनो बिभर्ति सो ऽन्नं वाजं भरति, तस्मान्मनो भरद्वाज ऽऋषिः। नानोप दधाति, सकृत्सादयति ॥६॥

भरद्वाज ऋषि है मन। वाज का अर्थ है अन्न। जो कोई मन को धारण करता है वह वाज अर्थात् अन्न को धारण करता है अर्थात् खाता है। इसलिये भरद्वाज ऋषि है मन। प्राणभृत्-इष्टकाओं को अलग-अलग स्थापित करता है, एक ही वार में स्थापित करता है, (मन्त्र यजु० १३।५५) द्वारा। [भरद्वाज=भरत् (धारण करताहै)+ वाजम् (अन्न को)]।

कां० ८। अध्याय १। ब्राह्मण २

अथ पश्चात्। "अयं पश्चाद् विश्वव्यचा ऽइत्यसौ वा ऽआदित्यो विश्वव्यचा यदा ह्येवैष ऽउदेत्यथेदꣳ सर्वं व्यचो भवति।

तद्यत्तमाह पश्चादिति तस्मादेतं प्रत्यञ्चमेव यन्तं पश्यन्ति; चक्षुर्हादित्यो भूत्वा पश्चात्तस्थौ ॥१॥

अब वेदि के पश्चिम से **"अयं पश्चाद् विश्वव्यचा"** इत्यादि (यजु० १३।५६) मन्त्र द्वारा दस प्राणभृत्-इष्टकाओं को स्थापित करता है। विश्वव्यचाः है वह आदित्य। जब ही यह उदित होता है तब यह सब जगत् को रश्मियों द्वारा व्यक्त कर देता है। इसलिये उस आदित्य को विश्वव्यचाः कहते हैं। आदित्य का पश्चात् अर्थात् पश्चिम दिशा के साथ सम्बन्ध कहा है। आदित्य जब पूर्व से पश्चिम की ओर गति करता है तभी लोग इसे देख पाते हैं। वस्तुतः आदित्य चक्षु होकर पश्चिम में जा स्थित होता है। आदित्य के प्रकाश के अभाव में अन्धकार हो जाने पर चक्षु कुच्छ देख नहीं पाती, इसलिये मानो आदित्य रूपी-चक्षुः, अस्त हो गई है।

जमदग्निर्ऋषिरिति। चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदेनेन जगत्पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः। नानोप दधाति, सकृत्सादयति ॥३॥

जमदग्नि ऋषि है चक्षु, क्योंकि इस द्वारा मनुष्य जगत् को देखता है, और तत्पश्चात् मनन करता है। अतः चक्षु जमदग्नि ऋषि है। दस प्राणभृत्-इष्टकाओं को **"अयं पश्चाद् विश्वव्यचाः"** इत्यादि मन्त्र (यजु० १३।५६) द्वारा वेदि के पश्चिम में स्थापित करता है, अलग-अलग स्थापित करता है, एक वार में स्थापित करता है। जमदग्निः= ज (जगत्) + मत् (मनुते), + अग्नि जिस अग्नि द्वारा देखा जाता है वह है चक्षः। चक्षु में आग्नेय प्रकाश है, इसलिये चक्षु द्वारा जगत को देख कर, पश्चात् दृश्यसम्बन्धी मनन होता है।

अथोत्तरतः। "इदमुत्तरात्स्वः" इति। दिशो वा ऽउत्तरात्, तद्यत्ता आहोत्तरादित्युत्तरा ह्यस्मात्सर्वस्माद्दिशः, अथ यत्स्वरित्याह स्वर्गो हि लोको दिशः। श्रोत्रँ ह दिशो भूत्वोत्तरतस्तस्थौ ॥४॥

अब वेदि के उत्तर में **"इदमुत्तरात्स्वः"** इत्यादि (यजु० १३।५७) मन्त्र द्वारा दस प्राणभृत्-इष्टकाओं को स्थापित करता है। दिशाएँ हैं ऊपर। इसलिये उन दिशाओं के सम्बन्ध में कहता है "उत्तरात्" क्यों

कि दिशाएँ इन सबसे ऊपर की ओर हैं, और जो कहता है "स्वः," वह इसलिये कि ऊपर की दिशाओं में स्वर्ग लोक है। श्रोत्र दिशा रूप होकर उत्तर में स्थित है।

[वेदि के उत्तर में १०प्राणभृत्-इष्टकाओं को स्थापित कर'उत्तर' शव्द की व्याख्या में "उत्तर" का अर्थ "ऊपर की ओर" भी दर्शाया है। तथा ऊपर की ओर स्वर्गलोक की स्थिति कही है। निरुक्त में भी "स्वः" (यजु० १३।५७) की स्थिति ऊपर की ओर कही है। यथा "स्वरादित्यो भवति। एतेन द्यौ व्याख्याता" (निरुक्त २:४।१४)। अतः निरुक्त की दृष्टि में "स्वः" है आदित्य और द्यौः। ये दोनों ऊपर की ओर हैं। शतपथ में स्वः को स्वर्गलोक कहा है।

द्युलोक में भी प्राणी रहते हैं। यथा "अथ द्यौः संस्पृष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च," तथा "अथ द्यौराविष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च" (व्याख्या, पृश्निः और विष्टप्, निरुक्त २।४। १४)। इन पुण्यकृत्-व्यक्तियों द्वारा सम्भवतः उत्पादित शव्दों को दिव्य-श्रोत्र (योग ३।४९) सुन सकते हैं, इसलिये श्रोत्र का सम्वन्ध भी ऊपर की दिशा के साथ दर्शाया गया है। सत्यार्थप्रकाश ८म समुल्लास के अनुसार लोक लोकान्तरों में भी मनुष्य सृष्टि है]।

विश्वामित्र ऋषिरिति। श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऽऋषिर्यदेनेन सर्वतः शृणोत्यथो यदस्मै सर्वतो मित्रं भवति, तस्मात् श्रोत्रं विश्वामित्र ऽऋषिः। नानोपदधाति, सकृत्सादयति ॥६॥

श्रोत्र है विश्वामित्र ऋषि। क्योंकि इस श्रोत्र द्वारा सव ओर से व्यक्ति सुनता है, और तदनन्तर इस व्यक्ति के लिये सव ओर मित्र हो जाते हैं। अभिप्राय यह कि व्यक्ति निज श्रोत्र द्वारा सव के कथनों को जव सहानुभूतिपूर्वक सुनता है, तव सव इसके मित्र वन जाते हैं। मित्र वनाने वाला है श्रोत्र। इसलिये श्रोत्र विश्वामित्र ऋषि है। ऋषिकोटि का व्यक्ति सवकी वात सहानुभूतिपूर्वक सुनता है। अलग अलग १० प्राणभृत्-इष्टकाओं को स्थापित करता है, एक वार में सव को स्थापित करता है।

अथ मध्ये। "इयमुपरि मतिरिति", चन्द्रमा वा ऽउपरि, तद्य-त्तमाहोपरीत्युपरि हि चन्द्रमा ऽअथ यन्मतिरित्याह वाग्वै

मतिः, वाचा हीदꣳ सर्वं मनुते, वाग्घ चन्द्रमा भूत्वोपरिष्टात् तस्थौ ॥७॥

अब वेदि के मध्य अर्थात् केन्द्र में "इयमुपरि मतिः" इत्यादि मन्त्र (यजु० १३।५८) द्वारा दस प्राणभृत्-इष्टकाओं को स्थापित करता है। चन्द्रमा निश्चय से ऊपर है। मन्त्र जो चन्द्रमा के सम्बन्ध में कहता है कि वह ऊपर है, वास्तव में चन्द्रमा ऊपर ही है। तथा जो कहता है कि मति, वस्तुतः मति है वाक् (वाणी)। वाक् द्वारा ही मनुष्य इस सब का मनन (मतिः) करता है, वाक् ही चन्द्रमा होकर ऊपर स्थित है। चन्द्रमा, पृथिवी और द्यौः के मध्यान्तराल में स्थित है, अतः वेदि के मध्य में इष्टकाओं का स्थापन कहा है।

[वेदि के मध्यस्थल में १० प्राणभृत्-इष्टकाओं को स्थापित करता है। ये इष्टकाएँ चन्द्रमा सम्बन्धी हैं। चन्द्रमा पृथिवी और द्यौः के मध्य-अन्तराल अन्तरिक्ष का स्थानी है। चन्द्रमा को कहा है, मति अर्थात् मनन; और मति अर्थात् मनन को कहा है, वाक्। मति और वाक् में तादात्म्य का कथन किया है, इसलिये चूँकि मानसिक विचार (मति), और मानसिक वाणी का परस्पर नित्य सम्बन्ध है। मानसिक प्रत्येक विचार, मानसिक् वाक् द्वारा अनुस्यूत है, सम्पृक्त है। मानसिक विचार, मानसिक वाणी के विना, असम्भव हैं। चन्द्रमा को जो मति अर्थात् वाक् कहा है,—इसका अभिप्राय यह भी प्रतीत होता है कि चन्द्रमा और वाक् अर्थात् वर्षाकालीन मेघीय वाक्, या वायु के माध्यम द्वारा श्रूयमान वाक् का, परस्पर सम्बन्ध है। चन्द्रमा और यह द्विविधा वाक्, दोनों अन्तरिक्ष स्थानी हैं। मेघ भी अन्तरिक्ष स्थानी है और वायु भी। स्थानैकत्व की दृष्टि से चन्द्रमा और मति अर्थात् वाक् में गौणरूप से तादात्म्य कहा है। "वाक् ह चन्द्रमा भूत्वोपरिष्टात्तस्थौ" का अभिप्राय सम्भवतः शतपथ (६।१।२।४,१०) में कुच्छ स्पष्ट हुआ है। यथा "सो ऽकामयत......ततश्चन्द्रमा ऽसृज्यत" तथा "आदित्यान् दिवि, विश्वेदेवाꣳश्चन्द्रमसं तान् दिक्षूपादधात्।,, प्रजापति की कामनामयी वाक् से चन्द्रमा की उत्पत्ति दर्शाई है। इसलिये चन्द्रमा को "वाक् कहा प्रतीत होता है। चन्द्रमा की वास्तविक स्थिति अन्तरिक्ष में है। परन्तु उसकी गति नक्षत्रों में प्रतीत होती है इसलिये

द्यौः के साथ भी उसका सम्बन्ध कहा है। इसी दृष्टि से कहा है कि "चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः" (अथर्व० ५।२४।१०)]।

तथा आध्यात्मिक दृष्टि में "कोहरा, धूम, अर्क (सूर्य), अग्नि, वायु, प्रकाश में चमकते तारे या जुगनु", विद्युत्, स्फटिक और शशि (चन्द्रमा),—ये रूप, योग में, ब्रह्म की अभिव्यक्ति से पहिले दृष्टि-गोचर[1] होते हैं, अर्थात् चित्त में दीखते हैं।" चित्त है मन। शतपथ ण्डिका (७) में "मति" पद मनन परक है। योगाभ्यास के प्रकर्ष में चित्त में "शशि अर्थात् चन्द्रमा का भी भान होता है। मति या मनन शब्दानुस्यूत होता है। शब्द 'वाक्-रूप' है। किसी प्रकार का भी मनन हो वह मानसिक वाक् से सर्वदा संवलित होगा। इस प्रकार चित्त में मति (मनन), तथा वाक् और चन्द्रमा की एक-काल में विद्यमानता हो जाती है। इस कालिक-एकता के कारण मति (मनन), वाक् और चन्द्रमा में तादात्म्य कहा जा सकता है। कालिक-एकता है एक काल में विद्यमानता तथा परस्पर साहचर्य। कालिक-एकता के साथ-साथ,— मति, वाक् और चन्द्रमा[1] में स्थानकृत-एकता भी है, एकचित्त या मन में ये युगपत् भासित हो रहे होते है।

विश्वकर्म ऽऋषिरिति। वाग्वै विश्वकर्मर्षिः, वाचा हीद७ँ सर्वं कृतम्[2]। तस्माद् वाग् विश्वकर्मर्षिः। वाचमुपरिष्टात्

---

१. श्वेताश्वतरोपनिषद् (अध्या २, कण्डिका ११)। इस कण्डिका में शशि अर्थात् चन्द्रमा का वर्णन सबसे उत्तरत्र अर्थात् अन्त में किया है। सम्भवतः शशिदर्शन ब्रह्माभिव्यक्ति में अव्यवहित पूर्वरूप होता हो। चन्द्रमा शीत प्रकाश वाला है, जो सात्त्विक तथा निर्मल चित्त का प्रतिनिधि है। सत्त्व प्रधान चित्तः परमेश्वराभिव्यक्तियों में साधनरूप है ही। तथा चन्द्रमा और मन का परस्पर सम्बन्ध यजुर्वेद में दर्शाया है 'चन्द्रमा मनसो जातः" (यजु० ३१। १२), मन उपरि अर्थात् शरीर के ऊपर के भाग सिर में स्थित है। वाक् भी सिर में स्थित है।

२. "वाचा हीद७ँ सर्वं कृतम्" में वाक् द्वारा त्रिवृत् अर्थात् त्रिविधा वेदवाणी अभिप्रेत है। मनुस्मृति के अनुसार सृष्टि आरम्भिक काल में "सब के नामों, कर्मों तथा पृथक्-पृथक् संस्थाओं की कृति अर्थात् निर्माण, वेदशब्दों के अनुसार ही किये गये थे। इसलिये कहा है कि "वाक् द्वारा ही यह सब

प्रापादयत, नानोप दधाति, सकृत्सादयति सैषा त्रिवृ-दिष्टका ॥६॥

वाक् हैं विश्वकर्मा ऋषि। वाक् द्वारा ही यह सब कार्य हुआ है। और अस्मदादि के सब कार्य सम्पन्न होते हैं। इसलिये वाक् है विश्वकर्मा ऋषि। वाक् को ऊपर से रखता है। अलग-अलग दस प्राणभृत्-इष्टकाओं को स्थापित करता है, एक वार में स्थापित करता है। यह त्रिवृदिष्टका' हैं, तीन रेखाओं से अंकित इष्टका (इष्ट सम्पादिका) है।

सारांश

[यजु० १३।५४-५८ मन्त्रों में कहा है कि वसिष्ठ ऋषि है प्राण; भरद्वाज ऋषि है मन; जमदग्नि ऋषि है चक्षु; विश्वामित्र ऋषि है श्रोत्र; विश्वकर्मा ऋषि है वाक्। यजुर्वेद के अनुसार ये ऋषि मनुष्य-रूप नहीं, अपितु प्राण और इन्द्रियरूप हैं। अतः वेदमन्त्रों में जहां-जहां इन ऋषियों के नाम उपलब्ध होते हैं वहां-वहां प्राण आदि शक्तियों वाले सामान्य मनुष्यों का ग्रहण करना चाहिये, न कि विशेष विशेष कालों में उत्पन्न व्यक्ति विशेष। अर्थात् ये ऋषिनाम संज्ञा नहीं, अपितु गुणकर्मानुरूप हैं।

तथा "सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे" (यजु० ३४।५५) में सात ऋषियों की सत्ता शरीर में मानी है। ये सात ऋषि हैं "षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तम्यात्मनि [शरीरे] (निरु० १२।४।३८)।

तथा अथर्व० (१०।८।९) में भी सात ऋषियों को मस्तिष्क में स्थित कहा है। तथा बृहदारण्यकोपनिषद् अ० २। ब्रा० २। कण्डिका

किया गया"। इन इष्टकाओं पर तीन-तीन रेखाएं होती हैं, जो कि वाक् के त्रैविध्य को प्रकट करती है, ऋक्, साम और यजुः रूपी त्रिविध रचना को। मनु का श्लोक,—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥

१. द्र० पृष्ठ ९९ टि० २।

४। निम्नलिखित है। इसमें भी ऋषि नामों की शारीरिक इन्द्रियों के लिये प्रयुक्त किया है यथा—"इमावेव गोतमभरद्वाजौ, अयमेव गोतमोऽयं भरद्वाजः। इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी, अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरिति। इमावेव वसिष्ठकश्यपौ, अयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यपः। वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यते ऽत्ति ह वै नामैतद् यदत्रिरिति॥

मन्त्रों (१३।५४-५८) में दिशाओं[1], वसन्तादि ऋतुओं, गायत्री आदि छन्दों, गायत्रादि सामगानों, त्रिवृत् आदि स्तोमों, रथन्तर आदि पृष्ठों, वसिष्ठ आदि ऋषियों, तथा प्राण आदि में परस्पर सम्बन्ध[1] दर्शाया है। परस्पर सम्बन्धी पदों की सहायता द्वारा मन्त्रों के अर्थों के जानने में सुविधा मिल सकती है। यथा,—यदि मन्त्र गायत्री छन्द का है, तो गायत्री छन्द के सम्बन्धी पदों का स्मरण कर उन द्वारा मन्त्रार्थों में यथासम्भव सुविधा मिल सकती है। इन सम्बन्धी पदों को संलग्न चार्ट में दर्शाया है]।

लोकम्पृणे ऽउप दधाति, पुरीषं निवपति॥ (८।१।२।१०)॥

प्रथमा चिति पर अन्त में दो लोकम्पृणा इष्टकाओं को स्थापित करता है, और प्रथमा चिति पर मिट्टी बिछाता है। [पुरीषम्=मिट्टी]।

१. दिशा=पुरः (पूर्व), दक्षिणा, पश्चात्, उत्तरात्, उपरि। ऋतुएं=वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त। छन्दः=गायत्री, त्रिष्टुप, जगती, अनुष्टुप्, पंक्ति। साम (गान) अर्थात् ऋचाओं पर गान=गायत्र, स्वार, ऋक्सम, ऐड, निधनवत्। स्तोम (गोप ऋचाएं)=त्रिवृत् (३ ऋचाओं का समूह), पञ्चदश (१५ ऋचाओं का समूह), सप्तदश (१७ ऋचाओं का समूह), एकविंश (२१ ऋचाओं का समूह), त्रिणव, त्रयस्त्रिंश (२७ और ३३ ऋचाओं का समूह। पृष्ठ=(आधारभूत साम में संवादी स्वर वाले दूसरे साम का प्रवेश करना)=रथन्तर, बृहद्, वैरूप, वैराज, शाक्वर, रैवत।

साम=स्वर (Tune), गीति, राग। स्वार=स्वार साम, इस साम में "निधन" नहीं होता अपितु इसमें अन्तिम "स्वर" स्वरित होता है। इसलिये स्वार साम को स्वरनिधन भी कहते हैं। "ऋक्सम" साम=केवल ऋचा का उच्चारण। ऐड साम=इस सामगान में "इडा" पद का प्रयोग होता है। सामगान के पाँच अवयव होते है,—हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार तथा निधन।

पुरः;	भुवः; (अग्निः)	प्राणः,	वसन्तः,	गायत्री,	गायत्रम्,	उपांशुः,	त्रिवृत्,	रथन्तरम्,	वसिष्ठ	ऋषिः	(मन्त्र १३।५४)
दक्षिणा,	विश्वकर्मा, (वायुः)	मनः,	ग्रीष्मः,	त्रिष्टुप्,	स्वारम्,	अन्तर्यामः,	पंचदशः,	बृहद्,	भरद्वाज	ऋषिः	(मन्त्र १३।५५)
पश्चात्,	विश्वव्यचाः, (आदित्यः)	चक्षुः,	वर्षा,	जगती,	ऋक्समम्,	शुक्रः,	सप्तदशः,	वैरूपम्,	जमदग्निः	ऋषिः	(मन्त्र १३।५६)
उत्तरात्,	स्वः (स्वर्गः)	श्रोत्रम्,	शरद्,	अनुष्टुप्,	ऐडम्,	मन्थी,	एकविंशः,	वैराजम्,	विश्वामित्रः	ऋषिः	(मन्त्र १३।५७)
उपरि,	मतिः,	वाक्,	हेमन्तः,	पंक्तिः,	निधनवत्,	आग्रयणम्,	त्रिणव- त्रयस्त्रिंशौ,	शाक्वर, रैवत,	विश्वकर्मा	ऋषिः	(मन्त्र १३।५८)

प्रथमा चिति का आंशिक चित्र

THE CENTRAL PART OF THE FIFTH LAYER.
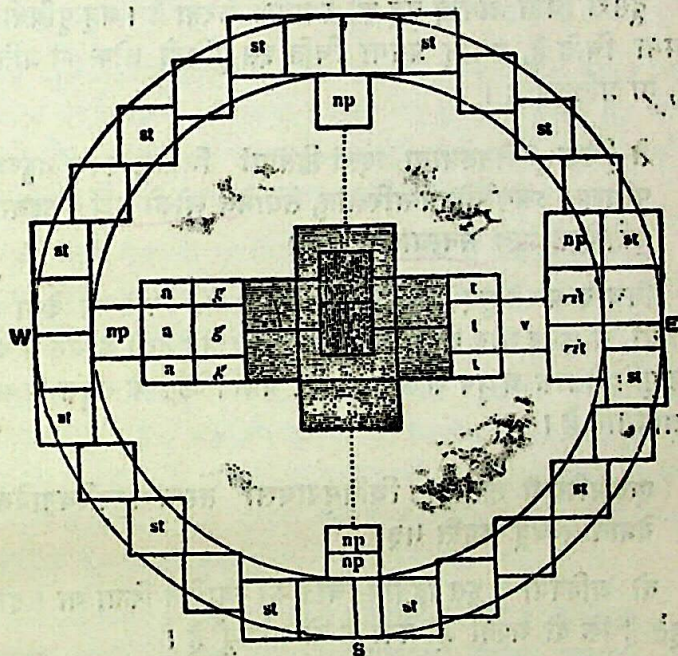
इन इष्टकाओं का वर्णन,—

E=पूर्व से W=पश्चिम की ओर। A=अषाढा इष्टका। RIT=२ ऋतव्या इष्टकाएं। V=विश्वज्योतिः इष्टका १। R=दो रेतःसिच् इष्टकाएं। DV=द्विःयजुः इष्टका एक। S=स्वयमातृण्णा इष्टका एक। P=प्राणभृत् इष्टकाएँ दस।

प्रथमा चितिः सम्पूर्णा,

कां० ८ । अध्याय २ । ब्राह्मण १

द्वितीयां चितिमुप दधाति । अयं वै लोकः प्रथमा चितिः॥१॥

दूसरी चिति अर्थात् तह को स्थापित करता है । यह पृथिवी लोक प्रथमा चिति है, अर्थात् प्रथमा चिति इस पृथिवी लोक की प्रतिनिधि है, या प्रतिरूप है ।

ते [देवाः] चेतयमाना ऽएतां द्वितीयां चितिमपश्यन् यदूर्ध्वं पृथिव्या ऽअर्वाचीनमन्तरिक्षात्, तेषामेष लोको ऽध्रुव ऽइवाप्रतिष्ठित ऽइव मनस्यासीत् ॥२॥

विचार करते हुए उन देवों ने इस द्वितीय-चिति को देखा जोकि पृथिवी से ऊपर और अन्तरिक्ष से नीचे है । उन देवों के मन में था कि यह पृथिवीलोक अध्रुव के सदृश और अप्रतिष्ठित के सदृश है अर्थात् चलायमान है ।

एतामश्विनौ द्वितीयां चितिमुपाधत्तां तस्मादाहुरश्विनावेव देवानामध्वर्यू ऽइति ॥३॥

दो अश्वियों ने इस द्वितीय-चिति को स्थापित किया था । इसलिये कहते हैं कि दो अश्वी ही देवों के दो अध्वर्यु हैं ।

[निरुक्त में अश्विनौ के चार अर्थ दर्शाए हैं, (१) द्यावापृथिव्यौ, (२) अहोरात्रौ, (३) सूर्याचन्द्रमसौ, (४) राजानौ पुण्यकृतौ (१२।१।१) । इस प्रकरण में अश्विनौ द्वारा "द्यावापृथिव्यौ" अर्थ उपयुक्त प्रतीत होता है । "द्यावा" से अभिप्राय द्युतिमान् सूर्य का है, सूर्य द्युलोक का ही अङ्ग है । पृथिवी सूर्य से फटकर अलग हुई है । जब पृथिवी सूर्यरूप थी उस समय अन्तरिक्ष तथा वायु की सत्ता न थी । क्योंकि उस समय सौर-परिवार की विद्यमानता न थी जब पृथिवी सूर्य से फटी, तो फटने के कारण ही अन्तरिक्ष और वायु की सत्ता हुई । कण्डिका (२) के अनुसार द्वितीय-चिति है—पृथिवी और अन्तरिक्ष का मध्यवर्ती स्थान अर्थात् वायुमण्डल । इस स्थान के प्रतिनिधि रूप में प्रथमा चिति पर द्वितीय-चिति का चयन होता है । इसीलिये

कण्डिका (३) में कहा है कि द्वितीय-चिति का चयन अश्विनौ ने किया अर्थात् द्यावापृथिव्यौ ने किया]।

स ऽउपदधाति। "ध्रुवक्षितिर्ध्रुवयोनिर्ध्रुवासीति"। अश्विनाऽध्वर्यू सादयतामिह त्वेत्यश्विनौ ह्यध्वर्यू ऽउपाधत्ताम् ॥४॥

वह "ध्रुवक्षितिर्ध्रुवयोनिर्ध्रुवासि" इत्यादि मन्त्र (यजु० १४।१) का उच्चारण करके पहली अश्विनी-इष्टका का स्थापन करता है, और कहता है कि हे इष्टके! दो अश्वी-अध्वर्यु, तुझे यहां स्थापित करें क्योंकि अश्वियों ने ही इसको प्रथम स्थापित किया था।

"कुलायिनी घृतवती पुरन्धिरिति"। पृथिवी वै प्रथमा चितिः, तस्यै शिवे स्योने सीद सदने, इत्येतदश्विनाऽध्वर्यू सादयतामिह त्वेत्यश्विनौ ह्यध्वर्यू ऽउपाधत्ताम् ॥५॥

"कुलायनी घृतवती पुरन्धिः" इस मन्त्र (यजु० १४।२) का उच्चारण करके दूसरी अश्विनी-इष्टका का स्थापन करता है। पृथिवी प्रथमा चिति (तह) है, इसके कल्याणकारी तथा सुखदायी तह पर बठ। और कहता है कि हे इष्टके! दो अश्वी-अध्वर्यु तुझे यहां स्थित करें, क्योंकि दो अश्वी-अध्वर्युओं ने तुझे स्थापित किया था।

"स्वैर्दक्षैर्दक्षपितेह सीदेति। स्वेन वीर्येणेह सीदेति। इत्येतदश्विना ऽध्वर्यू सादयतामिह त्वेत्यश्विनौ ह्यध्वर्यू ऽउपाधत्ताम् ॥६॥

"स्वैर्दक्षैर्दक्षपितेह सीद" इत्यादि मन्त्र (यजु० १४।३) पढ़ कर तीसरी अश्विनी-इष्टका को स्थापित करता है, और कहता है कि हे इष्टके! दो अश्वी-अध्वर्यु तुझे यहां स्थापित करें, क्योंकि दो अश्वी-अध्वर्युओं ने ही तुझे स्थापित किया था।

"पृथिव्याः पुरीषमसि"। पृथिवी वै प्रथमा चितिः, तस्या ऽएतत्पुरीषमिव यद् द्वितीया। इत्येतदश्विनाऽध्वर्यू सादयतामिह त्वेत्यश्विनौ ह्यध्वर्यू ऽउपाधत्ताम् ॥७॥

"पृथिव्याः पुरीषमसि" इत्यादि मन्त्र (यजु० १४।४) पढ़कर चौथी इष्टका को स्थापित करता है। पृथिवी प्रथमा चिति (तह) है।

जो द्वितीया चिति है वह इस प्रथमा चिति का पुरीष अर्थात् मिट्टी का ढकना है। वह कहता है कि इस मन्त्र द्वारा दो अश्वी=अध्वर्यु यहां तुझे स्थापित करें, क्योंकि दो अश्वी-अध्वर्युओं ने ही तुझे स्थापित किया था।

ता ऽएता दिशः। ता रेतःसिचोर्वलयोरुप दधातीमे वै रेतःसिचावनयोस्तद् दिशो दधाति। तस्मादनयोर्दिशः। सर्वत ऽउपदधाति, सर्वतः समीचीः, ता नानोप दधाति, नाना सादयति ॥८॥

वे चार अश्विनी-इष्टकाएँ ये दिशाएँ हैं, इन दिशाओं की प्रतिनिधि हैं। उन्हें दो रेतःसिच् इष्टकाओं के सीमान्तों पर स्थापित करता है, क्योंकि रेतःसिच् इष्टकाएँ हैं ये दो लोक, पृथिवी लोक और द्युलोक, उन दोनों में वह दिशाओं को स्थापित करता है। क्योंकि दिशाएँ इन दो लोको में हैं। वह प्रथमाचिति पर चारों ओर इन चार इष्टकाओं को स्थापित करता है, सब ओर एक दूसरे के संमुख। उन्हें अलग-अलग स्थापित करता है, अलग-अलग जमाता है।

अथ पञ्चमीं दिश्यामुप दधाति। ऊर्ध्वा ह सा दिग्। सा या सोर्ध्वा दिगसौ स ऽआदित्योऽमुमेवैतदादित्यमुप दधाति। तामन्तरेण दक्षिणां दिश्यमुप दधाति ॥९॥

अब पांचवीं, दिशासम्बन्धी, अश्विनी-इष्टका को स्थापित करता है। यह ऊर्ध्वदिशा है। वह जो ऊर्ध्वदिशा है वह है आदित्य। उस ही आदित्य को, मानो पांचवीं अश्विनी-इष्टका के रूप में स्थापित करता है। दिशा सम्बन्धी उस इष्टका को पूर्व-दक्षिण की अवान्तर दिशा में स्थापित करता है।

[इस अवान्तर[1] दिशा तक, आदित्य दक्षिण की ओर जाता है]।

अदित्यास्त्वा पृष्ठे सादयामीति। इयं[2] वा ऽअदितिरस्यामेवैनमेतत्प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति। विश्वकर्मा ते ऽऋषिरिति।

---

१. अवान्तरदिशा=winter sollstice. यह मकर-राशि का स्थान है। इस पर सूर्य २१ दिसम्बर में होता है। २. अदितिः पृथिवीनाम (निघं० १।१)।

प्रजापति र्वै विश्वकर्मा, प्रजापतिसृष्टासीत्येतदश्विनाऽध्वर्यू सादयतामिह त्वेत्यश्विनौ ह्यध्वर्यू ऽउपाधत्ताम् ॥१०॥

"अदित्यास्त्वा पृष्ठे सादयामि" इत्यादि मन्त्र (यजु० १४।५) पढ़कर अदिति अर्थात् पृथिवी में पांचवीं अश्विनी इष्टका को स्थापित करता है। यह पृथिवी अदिति है, इस आधाररूप पृथिवी में इसे स्थिर करता हैं। हे आदित्यरूपी इष्टके! विश्वकर्मा अर्थात् विश्व का कर्त्ता तेरा ऋषि है (यजु० १४।५), विश्वकर्मा है प्रजापति (प्रजाओं का स्वामी)। प्रजापति द्वारा हे आदित्यरूप इष्टके! तू रची गई है,—दो अश्वी-अध्वर्यु तुझे यहां स्थिर करें, क्योंकि दो अश्वी-अध्वर्युओं ने ही तुझे स्थापित किया था।

[द्वितीयाचिति है वायुमण्डल की प्रतिनिधि। वायुमण्डल में आदित्य निज रश्मिरूपी पैरों द्वारा स्थित होता है। इसलिये द्वितीया चिति में आदित्य की प्रतिनिधिभूत पांचवीं इष्टका को स्थापित करता है। मुख्य दिशाएँ हैं चार। पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर। ऊर्ध्व-दिशा द्वारा आदित्य सूचित किया है। इन ५ की प्रतिनिधि हैं ५ आश्विनी इष्टकाएँ]।[1]

अथऽर्तव्ये ऽउपदधाति। ऋतव ऽएते यदृतव्ये ऽऋतूनेवैतदुप दधाति "शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू ऽइति" नामनी। द्वे ऽइष्टके भवतो द्वौ हि मासावृतुः सकृत्सादयति, एकं तदृतुं करोति ॥१६॥

अब वह ऋतुसम्बन्धी दो इष्टकाओं को स्थापित करता है। ये दो ऋतव्या नामक इष्टकाएँ ऋतु हैं, इस प्रकार मानो इस द्वारा ऋतुओं को ही द्वितीयचिति में स्थापित करता है। वह "शुक्र" और शुचि"[2] इन नामों द्वारा (यजु० १४।६)—जो कि ग्रीष्मऋतुरूप हैं—स्थापित करता है। ये दो इष्टकाएँ होती हैं, क्योंकि दो मासों की ऋतु होती है। एक बार में दोनों को स्थापित करता है, इससे एक ऋतु का रूप बनाता है।

---

१. द्र० पूर्व पृष्ठ १०६ की टिप्पणी २।

२. शुक्र (ज्येष्ठ), शुचि (आषाढ़)।

[यजुर्वेद में मासों के नाम, मासों के गुणों की दृष्टि से हैं। यथा "मधुश्च[1] माधवश्च वासन्तिकावृतू" (यजु० १३।२५) क्योंकि वसन्त के ये दो मास मधुरूप होते हैं। इनमें सूर्य का प्रकाश आदि दृश्य मधुर स्वभाववाले होते हैं, तथा मधु (शहद) की सत्ता भी इन्हीं मासों में होती है। इसी प्रकार "शुक्रश्च[2] शुचिश्च ग्रैष्मावृतू" (यजु० १४।६) द्वारा ग्रीष्म ऋतु के दो मासों को शुक्र और शुचि कहा है, क्योंकि इन दो मासों में सूर्य अधिक चमकता है (शुक्र), और सूर्य की रश्मियां भू भाग को पवित्र करती हैं (शुचि)। "नभश्च[3] नभस्यश्च वार्षिकावृतू" (यजु० १४।१५) द्वारा वर्षाऋतु को सूचित किया है। नभस्=मेघ। तथा "इषश्चोर्जश्च[4] शारदावृतू" (यजु० १४।१६) द्वारा शरद् ऋतु को सूचित किया है। इष=अभीष्ट अन्न,और ऊर्ज= वल और प्राणशक्ति। तथा "सहश्च[5] सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू" (यजु० १४।२७) द्वारा हेमन्त ऋतु को सूचित किया है। सहः=वलकारी (महर्षि दयानन्द) तथा सहः-बलम् (निघं० २।९)। हेमन्त ऋतु में शारीरिक वल बढ़ता है। "तपश्च[6] तपस्यश्च शैशिरावृतू' (यजु०

---

१. मधु (चैत्र), माधव (वैशाख)। २. द्र० पू० पृ० १०७ की टि० २।

३ नभः (श्रावण), नभस्य (भाद्रपद)।

४. इष (आश्विन), ऊर्जः (कार्तिक)।

५. सहः (मार्गशीर्ष), सहस्य (पौष)।

६. तपः (माघः), तपस्य (फाल्गुन)। "तपः" पद तप ऐश्वर्ये (दिवादि) से निष्पन्न है। (अथर्व० १४।१।१३) के अनुसार माघ मास में विवाह के वचन दिये जाते हैं, और फाल्गुन में विवाह कृत्य होता है। यथा "मघासु हन्यन्ते (प्रेर्यन्ते) गावः (वचनानि, गौः वाङ्नाम (निघं० १।११), फल्गुनीषु व्युह्यते"। यदि "तपः" पद की निष्पत्ति "तप सन्तापे" (भ्वादि) या तप दाहे (चुरादि) से अभीष्ट हो तब इस मास में शैत्याधिक्य के कारण तापार्थ अग्नि की आवश्यकता होने से सन्ताप तथा दाह अर्थ भी सार्थक हो सकते हैं। विवाह ऐश्वर्यरूप है, इसलिये ऐश्वर्यार्थक तप धातु से तपः की निष्पत्ति ग्राह्य है। अथवा दक्षिण की ओर सूर्य की गति २१ दिसम्बर तक होती रहती है। तत्पश्चात् सूर्य उत्तराभिमुख हो जाता है। अतः स्वभावतः उत्तराभिमुख सूर्य का ताप उत्तर की ओर बढ़ने लगता है। इसलिये सम्भवतः शिशिर ऋतु के

१५।५७) । यजुर्वेद के इन मन्त्रों में नाक्षत्र मासों अर्थात् चैत्र, वैशाख आदि का वर्णन नहीं] ।

कां० ८ । अध्याय ३ । ब्राह्मण २

अथ वैश्वदेवीरुप दधाति ॥१॥

अब विश्वदेवों की प्रतिनिधिरूप इष्टकाओं को स्थापित करता है।

यद्वेव वैश्वदेवीरुप दधाति, ता ऽएताः सर्वाः प्रजाः । ता रेतः-सिचोर्वेलयोरुप दधाति, इमे वै रेतःसिचावनयोस्तत्प्रजा दधाति तस्मादनयोः प्रजाः । सर्वत उप दधाति. सर्वतस्तत्प्रजा दधाति, तस्मात्सर्वतः प्रजाः, दिश्या ऽअनूप दधाति, दिक्षु तत्प्रजा दधाति, तत्मात्सर्वासु दिक्षु प्रजाः ॥४॥

जो वह वैश्वदेवी[1] नाम वाली इष्टकाओं को स्थापित करता है, वे इष्टकाएँ हैं ये सब प्रजाएँ । उन्हें दो रेतःसिच् इष्टकाओं की पंक्ति में स्थापित करता है । पृथिवी और द्युलोक रेतःसिच् हैं (रेतः=उदक, निघं० १।१२) । पृथिवी द्युलोक की ओर वाष्परूप में उदक सींचती है, और द्युलोक वर्षारूप में पृथिवी पर उदक सींचता है । इन्हीं दो में उस द्वारा प्रजाओं को स्थापित करता है,इसलिये इन दो में प्रजाएँ वास करती हैं। वेदि के सब ओर इन इष्टकाओं को स्थापित करता है, अतः सब ओर प्रजाओं को स्थापित करता है । दिश्या नाम वाली (श० ८।२।१।९) इष्टकाओं के पास-पास वैश्वदेवीः इष्टकाओं को स्थापित करता है, अतः दिशाओं में, उस द्वारा, प्रजाओं को स्थापित करता है । इसलिये सब दिशाओं में प्रजाएं हैं ।

सजूर्विश्वैर्देवैरित्युपरिष्टात्तद् विश्वान्देवान्प्राजनयत् ॥६।

"सजूर्विश्वैर्देवैः" (यजु० १४'७) यह उच्चारण करके प्रजापति ने विश्वदेवों को ऊपर अर्थात् द्युलोक में उत्पन्न किया ।

दो मासों को "तप, तपस्य" कहा हो । तप,=माघ=जनवरी-फरवरी, और तपस्य=फाल्गुन=फरवरी,-मार्च ।

१. विश्वदेव=द्युलोकस्थ तारागण;तथा प्रजाएं, तत्सम्बन्धिनी इष्टकाएं।

[ये विश्वदेव द्युलोकस्थ तारागण हैं, जिन की प्रतिनिधि वैश्वदेवी:इष्टकाएँ हैं, और विश्वदेव हैं पृथिवी में स्थित प्रजाएँ भी]। वैश्वदेवी:इष्टकाएँ ५ होती हैं। विश्वदेवा: अर्थात् तारागण ५ प्रकार के हैं। चार दिशाओं में विभक्त चार प्रकार के, ऊर्ध्वादिशा में पांचवें प्रकार के। इन पांच दिशाओं के विभाग की दृष्टि से विश्वदेव ५ कहे जाते हैं[1]।

कां० ८। अध्याय २। ब्राह्मण ३

अथ प्राणभृत ऽउप दधाति। देवा······वायुमेव चितिमपश्यँस्तामस्मिन्नदधु:, तथैवास्मिन्नयमेतद् दधाति ॥१॥

अब प्राणभृत्-इष्टकाओं को स्थापित करता है। देवों ने वायु को ही चितिरूप में देखा, उन्होंने उसे इस प्रथमाचिति पर (द्वितीया चितिरूप में] स्थापित किया। उसी प्रकार यह यजमान इस प्रथमा चिति पर इस वायुरूप चिति को स्थापित करता है।

प्राणभृत ऽउप दधाति। प्राणो वै वायुर्वायुमेवास्मिन्नेतद् दधाति। रेत:सिचोर्वेलयेमे वै रेत:सिचावनयोस्तद्वायुं दधाति तस्मादनयोर्वायु:, सर्वत ऽउप दधाति सर्वतस्तद्वायुं दधाति; तस्मात्सर्वतो वायु:; सर्वत: समीची:, सर्वतस्तत्सम्यञ्चं वायुं दधाति, तस्मात् सर्वत: सम्यङ् भूत्वा सर्वाभ्यो दिग्भ्यो वाति। दिश्या ऽअनूप दधाति, दिक्षु तद्वायुं दधाति, तस्मात्सर्वासु दिक्षु वायु: ॥२॥

वह प्राणभृत्-इष्टकाओं को स्थापित करता है। वायु है प्राण। वायु को ही इस प्रथमा चिति में प्राणभृत्-इष्टकाओं के रूप में स्थापित करता है। रेत:सिच् दो इष्टकाओं की पंक्ति में स्थापित करता है। ये पृथिवी और द्युलोक रेत:सिच् हैं, इन दो के बीच में वायु को स्थापित करता है, अत: इन दो के बीच में वायु है। सब ओर प्राणभृत्-इष्टकाओं को स्थापित करता है, मानो सब ओर वायु को स्थापित करता है, इस कारण वायु सब ओर है। सब ओर एक ही ओर

---

१. प्रजाएं भी पंचविध हैं, गाव:, अश्वा:, पुरुषा:, अजा: अवय:। (अथर्व० ११।२।९)।

मुख करके। मानो हर तरफ एक ही ओर मुख करके वायु को स्थापित करता है, इसलिये सब ओर सम्यक्रूप में सब दिशाओं से वायु बहती है। दिश्या नामक इष्टकाओं (श० ८।२।१।६) के पास-पास प्राणभृत्-इष्टकाओं को स्थापित करता है, मानो दिशाओं में वायु को स्थापित करता है, इसलिये सब दिशाओं में वायु है। प्राण ५ हैं,— प्राण, अपान, व्यान, चक्षुः, श्रोत्र (यजु० १४।८), अतः ५ हैं प्राणभृत्-इष्टकाएँ।

[वायु की गति जिस प्रकार होती है, और वायु की स्थिति जहां है, उसके प्रदर्शन के लिये, वायु की प्रतिनिधिरूप प्राणभृत्-इष्टकाओं को द्वितीय चिति (तह) में स्थापित करने का विधान इस कण्डिका में किया है]।

अपस्या ऽउप दधाति । आपो वै वृष्टिर्वृष्टिमेवास्मिन्नेतद् दधाति; रेतःसिचोर्वेलयेमे वै रेतःसिचावनयोस्तद् वृष्टिं दधाति, तस्मादनयोर्वर्षति; सर्वत ऽउप दधाति सर्वतस्तद् वृष्टिं दधाति, तस्मात्सर्वतो वर्षति; सर्वतः समीचीः, सर्वतस्तत्समीचीं वृष्टिं दधाति; तस्मात्सर्वतः सम्यङ् भूत्वा सर्वाभ्यो दिग्भ्यो वर्षति; वायव्या अनूप दधाति, वायौ तद्वृष्टिं दधाति। तस्माद् यां दिशं वायुरेति तां दिशं वृष्टिरन्वेति।५।

अपस्या-इष्टकाओं को स्थापित करता हैं। वृष्टि है अप् अर्थात् जल, मानो वृष्टि को ही इस द्वितीय चिति (तह) में स्थापित करता है। रेतः सिच् की दो इष्टकाओं की पंक्ति में स्थापित करता है, पृथिवी और द्युलोक रेतःसिच् हैं, इन दोनों के बीच में, मानो वृष्टि को स्थापित करता है, इसलिये इन दोनों के बीच में वर्षा होती है। सब ओर अपस्या-इष्टकाओं को स्थापित करता है, मानो सब ओर वृष्टि को स्थापित करता हैं, इसलिये सब ओर वर्षा होती हैं। सब ओर, एक ओर मुख करके, इन इष्टकाओं को स्थापित करता है, मानो सब ओर एक ही रुख से वर्षा को स्थापित करता है, इसलिये सब ओर सम्यक्रूप में सब दिशाओं के लिये या सब दिशाओं से वर्षा होती हैं। वायव्य इष्टकाओं के पास-पास स्थापित करता है, मानो वायु में वृष्टि को स्थापित करता है। इसलिये जिस दिशा की ओर

वायु बहता है उस दिशा में वृष्टि भी होती है। अपस्याः=अप् अर्थात् जल सम्बन्धी या वर्षा सम्बन्धी इष्टकाएँ।

यद्वेवापस्या ऽउप दधाति "अपः पिन्वौषधीर्जिन्व" ॥६॥

"अपः पिन्वौषधीर्जिन्व" (यजु० १४।८) मन्त्र पढ़कर ५ अपस्या-इष्टकाओं को स्थापित करता है ॥६॥

[मन्त्र १४।८ द्वारा ५ वस्तुओं की प्रार्थना हुई है। अतः अपस्याः ५ हैं]।

अथ छन्दस्या ऽउप दधाति ॥७॥ पशवो वै छन्दाꣳसि, पशूनेवास्मिन्नेतद् दधाति, अपस्या अनूप दधाति, अप्सु तत्पशून् प्रतिष्ठापयति, तस्माद यदा वर्षत्यथ पशवः प्रतितिष्ठन्ति ॥८॥

अब छन्दस्या-इष्टकाओं को स्थापित करता है। छन्दांसि हैं पशु, पशुओं को ही इस द्वितीया चिति में स्थापित करता है। अपस्या-इष्टकाओं के पास-पास स्थापित करता है, मानो जलों के समीप पशुओं को स्थित करता है, इसलिये जब वर्षा होती है तब पशु परिपुष्ट होते हैं। छन्दस्याः-इष्टकाएँ १९ होती हैं। इन्हें वयस्याः भी कहते हैं।

प्रजापतेर्विस्रस्तात्पशव ऽउदक्रामंश्छन्दाꣳसि भूत्वा, तान् गायत्री छन्दो भूत्वा वयसा ऽऽप्नोत्, एतद्धि छन्द ऽआशिष्ठꣳ सा तद् भूत्वा प्रजापतिरेतान् पशून् वयसा ऽऽप्नोत्[2] ॥९॥

अथ लोकम्पृणे ऽउप दधाति, अस्यां स्रक्त्याम्। पुरीषं निवपति ॥ ॥२०॥ (श० ८।२।४।२०)

अब दो लोकम्पृणा इष्टकाओं को स्थापित करता है इस दक्षिण-पश्चिम के कोने में। तत्पश्चात् द्वितीया चिति पर मिट्टी जमाता है।

---

१. अपः पिन्व; ओषधीर्जिन्व; द्विपादव; चतुष्पात् पाहि; दिवो वृष्टिमेरय।

२. शिथिल हुए प्रजापति से पशु, छन्द बनकर, भाग निकले। गायत्री ने छन्दोरूप बनकर उन्हें, अपनी शक्ति से पकड़ा। गायत्री ने इसलिये पकड़ लिया चूंकि गायत्री सबसे तेज छन्द है। इस प्रकार प्रजापति ने गायत्री छन्द हो कर इन पशुओं को शक्ति से पकड़ा। इस कथानक में छन्दों और पशुओं का परस्पर सम्बन्ध दर्शाया है। अतः छन्दः द्वारा पशुओं को सूचित किया है।

द्वितीया चिति का संक्षिप्त वर्णन:—

अथ द्वितीया । पञ्चाश्विन्यो, द्वे ऋतव्ये, पञ्च वैश्वदेव्यः, पञ्च प्राणभृतः, पञ्चापस्याः, एकया न विंशतिर्वयस्याः । ता ऽएक चत्वारिंशत्, द्वितीया चितिः । (श० १०।४।३।१५)

अब द्वितीया चिति । पांच अश्विनी इष्टकाएँ, दो ऋतव्य इष्टकाएँ, पांच वैश्वदेवी इष्टकाएँ, पांच प्राणभृत् इष्टकाएँ, पांच अपस्या इष्टकाएँ, १९ वयस्या इष्टकाएँ। वे सब ४१ इष्टकाएँ हैं, द्वितीया चिति । वयस्याः १९ इष्टकाओं को छन्दस्याः इष्टकाः भी कहते हैं। (यजु० १४।९,१०) इन दो मन्त्रों के १९ खण्ड करके प्रत्येक खण्ड द्वारा एक-एक इष्टका का स्थापन किया जाता है । प्रत्येक खण्ड में वयः और छन्दः शब्द प्रयुक्त हैं। इसलिये इन १९ इष्टकाओं को "वयस्याः तथा छन्दस्याः" इन दो नामों द्वारा सूचित किया जाता है ।

द्वितीय चिति का आंशिक चित्र

THE CENTRAL PART OF THE FOURTH LAYER.

(Seventeen *srishti* and two *ritavyâ*.)
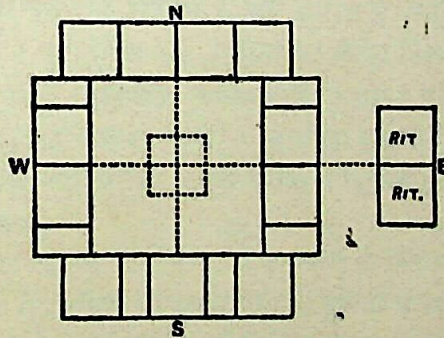
इन इष्टकाओं का वर्णन—

RIT=ऋतव्या इष्टकाएँ दो। A=अश्विनी इष्टकाएँ पांच। A=अपस्या इष्टकाएँ पांच । U=वैश्वदेवी इष्टकाएँ पांच ।

P=प्राणभृत् इष्टकाएँ पांच। इनसे अतिरिक्त द्वितीया चिति में १९ वयस्या इष्टकाएँ होती हैं जिन्हें चित्र में नहीं दर्शाया। ये मध्यवर्ती वृत्त की परिधि पर छूने वाली, परस्पर कांटती हुईं, दो विन्दु-रेखाओं (जिन्हें कि अनूक कहते हैं) के चार किनारों पर स्थापित की जाती हैं। देखो उत्तरवेदि का चित्र कां० ७।३।१।४४, तथा पृष्ठ ६१ पर देखें।

द्वितीया चिति सम्पूर्णा

कां० ८ । अध्याय ३ । ब्राह्मण १ । कं० १-१४

तृतीया चिति

तृतीयां चितिमुप दधाति ॥१॥ ते (देवाः) अन्तरिक्षमेव[1] बृहतीं तृतीयां चितिमपश्यन् तेभ्य ऽएष लोको ऽच्छदयत् ॥२॥ तद्यैषा मध्यमा स्वयमातृण्णा, एतदस्य तदात्मनः। तद्यदेतामत्रोप दधाति, यदेवास्यैषाऽऽत्मनस्तदस्मिन्नेतत्प्रति दधाति, तस्मादेतामत्रोप दधाति ॥७॥

तृतीया चिति को स्थापित करता है ॥१॥ उन देवों (इन्द्र,अग्नि, विश्वकर्मा) ने अन्तरिक्ष को ही महती तृतीया चिति के रूप में देखा। उन देवों को यह अन्तरिक्ष लोक अच्छा लगा ॥२॥ तो यह जो मध्यमा स्वयमातृण्णा इष्टका है वह इस प्रजापति का वह अपने शरीर का मध्यम भाग है। अतः इस इष्टका को जो वह स्थापित करता है, उस द्वारा इस प्रजापति का जो निज शरीर का भाग था उसे ही, इस

---

१. आधिदैविक पाँच चितियों के प्रतिनिधिरूप में याज्ञिक पाँच चितियां चिनी जाती हैं। आधिदैविक पांच चितियों का निर्देश निम्न रूप है। यथा—

> 'अयं वै लोकः (पृथिवी) प्रथमा चितिः। यदूर्ध्वं पृथिव्या ऽअर्वाचीनमन्तरिक्षात् द्वितीया चितिः। अन्तरिक्षं तृतीया चितिः। यदूर्ध्वमन्तरिक्षादर्वाचीनं दिवः चतुर्थी चितिः। दिवमेव विराजं पञ्चमीं चितिमपश्यन्।

इस प्रकार ब्रह्माण्ड को तीन लोकों के स्थान में पाँच लोकों में,इस प्रकरण में बाण्टा गया है। पृथिवी को प्रथमाचिति। पृथिवी से ऊपर की ओर अन्तरिक्ष के नीचे के स्थान को द्वितीया चिति कहा है, अर्थात् वायु जहां तक ऊर्ध्व दिशा में फैली हुई है वह भाग द्वितीया चिति है। अन्तरिक्ष इससे और ऊपर प्रतीत होता है, जिसमें भिन्न प्रकार की वायु है। वह वायु 'तेजःपुञ्ज' रूप है, जिसे कि "Ionic sphere कह सकते हैं। सूर्य से निकले तेजस्कणों का यह समूहरूप है। महाव्यापी होने से अन्तरिक्ष को बृहती चिति कहा है।

में, इस इष्टका द्वारा पुनः स्थापित करता है, इसलिये इस इष्टका को यहां स्थापित करता है ॥७॥

[तृतीया चिति=अन्तरिक्ष। द्वितीया चिति है, वायु। अतः तृतीया चिति प्रतीत होती है,—वायु के ऊपर की ओर फैला हुआ आकाश। स्वयमातृण्णा=स्वभावतः सच्छिद्र प्राकृतिक-पत्थर]।

इन्द्राग्नी अव्यथमानामिष्टकां दृँहतं युवम्।
पृष्ठेन द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं च विबाधसे ॥(यजु० १४।११)

इस मन्त्र को पढ़कर स्वयमातृण्णा इष्टका को स्थापित करता है। ॥(८)॥

तथा "विश्वकर्मा त्वा सादयतु" इत्यादि मन्त्र (यजु० १४।१२) द्वारा स्वयमातृण्णा को दृढ़रूप में स्थित कर देता है ॥६॥

प्राणो वै स्वयमातृण्णा, सर्वस्मा ऽउ वा ऽएतस्मै प्राणाः प्रतिष्ठायै चरित्राय। इमे वै लोकाः स्वयमातृण्णा ॥१०॥

स्वयमातृण्णा है, प्राण। प्राण हैं इस सबके लिये,—इस सबकी स्थिति के लिये तथा इस सबके विचरने के लिये। ये लोक स्वयमातृण्णा हैं [ये लोक स्थिति तथा विचरने के लिये हैं]।

अथ दिश्या उप दधाति। दिशो वै दिश्या, दिश ऽएवैतदुप दधाति। तद्याभिरदो वायुर्दिग्भिरनन्तर्हिताभिरुपैत्ता ऽएता ऽएवैतदुप दधाति। ता अनन्तर्हिताः स्वयमातृण्णाया ऽउप दधाति, अन्तरिक्षं वै मध्यमा स्वयमातृण्णा ऽनन्तर्हितास्तदन्तरिक्षाद् दिशो दधाति। उत्तरा ऽउत्तरास्तदन्तरिक्षाद् दिशो दधाति। रेतःसिचोर्वेलयेमे वै रेतःसिचावनयोस्तद् दिशो दधाति। सर्वत ऽउप दधाति, सर्वतः समीचीः ॥११॥

अब दिशा-सम्बन्धी इष्टकाओं को स्थापित करता है। दिश्या दिशाएँ हैं, इस प्रकार दिशाओं को ही स्थापित करता है, परस्पर सटी हुई। जिन दिशाओं के साथ वह वायु चिपट कर चलता है उन्हीं दिशाओं को दिश्या इष्टकाओं के रूप में स्थापित करता है। उन्हें स्वयमातृण्णा इष्टका के समीप-समीप स्थापित करता है, मध्यमा स्वयमातृण्णा है अन्तरिक्ष, अतः अन्तरिक्ष से चिपट कर दिशाओं को

स्थापित करता है। उत्तरोत्तर अर्थात् अन्तरिक्ष के साथ-साथ,तथा उत्तर-दिशा में दिशाओं को स्थापित करता है? दो रेतःसिच् इष्टकाओं की पंक्ति में दिश्या इष्टकाओं को स्थापित करता है, ये दो पृथिवीलोक और द्युलोक हैं रेतःसिच्, इन्हीं दो में, इस प्रकार वह दिशाओं को स्थापित करता है। सब दिशाओं में दिश्या इष्टकाओं को स्थापित करता है। सब ओर इष्टकाओं को इस प्रकार रखता है ताकि वे एक दूसरे के आमने-सामने स्थित हों, जैसे कि दिशाएँ एक-दूसरे के आमने सामने स्थित हैं।

[दिश्या इष्टकाएँ ५ होती हैं। इनके नाम हैं राज्ञी, विराट्, सम्राट्, स्वराट् तथा अधिपत्नी। इन्हें यथाक्रम पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर तथा बृहती दिशा में अलग-अलग स्थापित करता है। (श० ८।३।१।१४); (यजु० १४।१३)]।

कां० ८ । अध्याय ३ । ब्राह्मण २

अथ विश्वज्योतिषमुप दधाति। वायुर्वै मध्यमा विश्वज्योतिः, वायुर्ह्येवान्तरिक्षलोके विश्वं ज्योतिः, वायुमेवैतदुप दधाति। तामनन्तर्हितां दिश्याभ्य उपदधाति, दिक्षु तद् वायुं दधाति ॥१॥

अब "विश्वज्योतिः" इष्टका को स्थापित करता है। बीच की विश्वज्योतिः है वायु। और [विशेष प्रकार की] वायु ही अन्तरिक्ष लोक में विश्वज्योतिः है, इसलिये इस इष्टका के स्थापन द्वारा वह इस वायु को ही स्थापित करता है। विश्वज्योतिः को दिशा-सम्बन्धी इष्टकाओं से चिपटा कर अर्थात् उनके समीप स्थापित करता है, अतः दिशाओं में इस प्रकार वायु को स्थापित करता है।

[बीच की अर्थात् अन्तरिक्ष से पूर्ववर्ती विश्वज्योति है वायु, जिस द्वारा कि श्वास प्रश्वास की क्रिया होती है। यह वायु स्वनिष्ठ विद्युत् के कारण ज्योति है। अन्तरिक्ष में भी वायु है, यह ज्योतिर्मयकणों का समूहरूप है, अतः ज्योतिः है]।

विश्व ज्योति इष्टका को "विश्वकर्मा त्वा सादयतु" (यजु० १४।१४) मन्त्र पढ़कर स्थापित करता है (३) ॥

अन्तरिक्षस्थ विशेष वायु के सम्बन्ध में कहा है कि "अन्तरिक्षस्थ ह्ययं पृष्ठे ज्योतिष्मान् वायुः" अर्थात्—अन्तरिक्ष की पीठ पर समाप्ति पर यह विश्वज्योतिः वायु अर्थात् ज्योतिर्मय कणसमूह [Ionic sphere] व्याप्त है ॥(३); तथा (यजु० १४।१४) ।

अथ ऽर्तव्या ऽउप दधाति । ऋतव ऽएते यदृतव्या ऋतूनेवैतदुप दधाति "नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू ऽइति । द्वे ऽइष्टके भवतो द्वौ हि मासावृतुः, सकृत्सादयति, एकं तदृतुं करोति । अवकासूप दधात्यवकाभिः प्रच्छादयत्यापो वा ऽअवका ऽअपस्तदे तस्मिन्नृतौ दधाति, तस्मादेतस्मिन्नृतौ भूयिष्ठं वर्षति ॥५॥

अब दो ऋतव्य-इष्टकाओं[1] को स्थापित करता है। ऋतव्य-इष्टकाएँ मानो ऋतु हैं, अतः ऋतुओं को ही स्थापित करता है। "नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू" (यजु० १४।१५) मन्त्र उच्चारण कर स्थापित करता है । ये इष्टकाएँ दो होती हैं, क्योंकि दो मासों की ऋतु होती है। दोनों को एक साथ स्थापित करता है, इस प्रकार दो मासों को एक ऋतुरूप करता है । अवका अर्थात् जल की काई पर ऋतव्य इष्टकाओं को स्थापित करता है और काई द्वारा ढक देता है । अवका जलरूप है, मानो इस द्वारा इस ऋतु (वर्षा) में जलों को स्थापित करता हैं। इसलिये इस ऋतु में जल बहुत बरसता है।

अथोत्तरे । "इषश्चोर्जश्च शारदावृतू" इति । अनयोरेतेनाम-भ्यामेवैने ऽएतदुप दधाति । द्वे ऽइष्टके भवतो द्वौ हि मासा-वृतुः, सकृत्सादयति, एकं तदृतुं करोति। अवकासूप दधा-त्यापो वा ऽअवका ऽअपस्तदेतस्यऽर्तोः पुरस्तादुप दधाति, तस्मादेतस्यऽर्तोः पुरस्ताद् वर्षति, नोपरिष्टात्प्रच्छादयति, तस्मान्न तथैवोपरिष्टाद्वर्षति ॥६॥

अब अगली दो ऋतव्या-इष्टकाएँ । "इषश्चोर्जश्च शारदावृतू" (यजु० १४।१६) मन्त्र उच्चारण करके इन दो इष्टकाओं को, इष

---

१. ऋतव्या इष्टकाएं चार होती हैं। दो का वर्णन कण्डिका (५) में हुआ हैं, और शेष दो का कण्डिका (६) में ।

और ऊर्ज नामों द्वारा स्थापित करता है। ये इष्टकाएँ दो होती हैं, क्योंकि दो मास ही एक-ऋतु होते हैं। दोनों इष्टकाओं को एक साथ रखता है, इस से दो मासों को एक-ऋतु कर देता है। काई पर इन इष्टकाओं को स्थापित करता है। अवका (काई) है जल, अतः जल को इस शरद् ऋतु से पहिले स्थापित करता है। इसलिये इस शरद् ऋतु से पहिले वर्षा होती है। इन इष्टकाओं को ऊपर से आच्छादित नहीं करता। क्योंकि इस ऋतु के पश्चात् वर्षा नहीं होती।

ता वा ऽएताः। चतस्र ऽऋतव्यास्तासां विश्वज्योतिः पञ्चमी, पञ्च दिश्यास्तद् दश। ता ऽअनन्तर्हिताः स्वयमातृण्णाया ऽउप दधाति, प्राणो वै स्वयमातृण्णा ऽनन्तर्हितं तत्प्राणादन्नं दधाति ॥१३॥

वे ऋतव्यां-इष्टकाएँ चार होती हैं। इनमें विश्वज्योति पांचवीं इष्टका है। पांच दिश्या इष्टकाएँ हैं। ये १० हुईं। इन्हें स्वयमातृण्णा इष्टका के समीप स्थापित करता है। स्वयमातृण्णा है प्राण। इसलिये प्राण के समीप, अर्थात् व्यवधान के विना, अन्न को स्थापित करता है।

अथ प्राणभृतः ऽउप दधाति। प्राणा वै प्राणभृतः, प्राणानेवैत-दुप दधाति, ता दश भवन्ति, दश वै प्राणाः, पूर्वार्धं ऽउप दधाति, पुरस्ताद्धीमे प्राणाः। "आयुर्मे पाहि ज्योतिर्मे यच्छेति। अनन्तर्हिता ऽऋतव्याभ्य ऽउप दधाति, प्राणो वै वायुर्ऋतुषु तद्वायुं प्रतिष्ठापयति ॥१४॥

अब प्राणभृत्-इष्टकाओं को समीप में स्थापित करता है। प्राण-भृत् हैं प्राण, मानो प्राणों को समीप में स्थापित करता है। वे इष्ट-काएँ १० होती हैं, प्राण भी १० हैं। इष्टकाओं को आगे की ओर स्थापित करता है, ये प्राण शरीर के आगे की ओर ही हैं, "आयुर्मे पाहि ज्योतिर्मे यच्छ" (यजु० १४।१७) मन्त्र द्वारा कहता है कि "मेरी आयु की रक्षा कर, ज्योति मुझे प्रदान कर"। ऋतव्या-इष्ट-काओं के पास-पास प्राणभृत्-इष्टकाओं को स्थापित करता है। प्राण है वायु। इस प्रकार ऋतुओं में वायु की स्थापना करता है।

कां० ८ । अध्याय ३ । ब्राह्मण ३

अथ छन्दस्या ऽउप दधाति ॥१॥ ता द्वादश-द्वादशोप दधाति ॥३॥

अब छन्दस्या-इष्टकाओं को स्थापित करता हैं ॥१॥ बारह-बारह करके स्थापित करता है ॥३॥

[इन इष्टकाओं को छन्दस्या इसलिये कहते हैं कि इनका स्थापन "छन्दः" पद बोल कर किया जाता है। (यजु० १४।१८) मन्त्र "मा छन्दः" इत्यादि में १२ बार "छन्दः" पद पठित है।(यजु० १४।१९) मन्त्र "पृथिवी छन्दः"इत्यादि में भी "छन्दः" पद १२ बार पठित है। (यजु० १४।२०) मन्त्र "अग्निर्देवता" इत्यादि में १२ देवताओं के नाम पठित हैं। इस प्रकार १२+१२+१२=३६ की प्रतिनिधि इष्टकाएँ भी ३६ होती हैं]।

ता अनन्तर्हिताः प्राणभृद्भ्य ऽउप दधाति। अनन्तर्हितं तत्प्राणेभ्यो ऽन्नं दधाति ॥४॥

उन छन्दस्याः इष्टकाओं को प्राणभृत् (१०) इष्टकाओं के समीप स्थापित करता है, विना व्यवधान के। इस प्रकार व्यवधान के विना प्राणों के समीप अन्न को स्थापित करता है।

[छन्दस्याः इष्टकाओं को पशु भी कहा है। यथा "पशवो वै छन्दाᳬसि", तथा पशुओं को अन्न भी कहा है। यथा "अन्नं पशवः" (श० ८।३।३।२)। इसलिये प्राणों के साथ अन्न का सम्बन्ध दर्शाया है। पशु उपकारी हैं, हमारे जीवनों में सहायक हैं, इसलिये पशुओं को अन्न कहा है, पशु अन्न के सदृश उपकारी हैं]।

तानि वा ऽएतानि त्रीणि द्वादशान्युप दधाति, तत् षट् त्रिᳬशत् ॥८॥

वे सब इष्टकाएँ बारह-बारह करके तीन बार स्थापित करता है। वे ३६ इष्टकाएँ हैं।

ता अनन्तर्हिता ऽऋतव्याभ्य ऽउप दधाति। ऋतुषु तत्सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठापयति ॥१२॥

उन छन्दस्या-इष्टकाओं को ऋतव्या-इष्टकाओं के समीप स्थापित करता है, मानो सब भूतों को ऋतुओं में स्थापित करता है [प्राणियों और अप्राणियों की सत्ता कालाश्रित है, ऋतुएँ कालरूप ही हैं]।

कां० ८। अध्याय ३। ब्राह्मण ४

अथ वालखिल्या ऽउप दधाति। प्राणा वै वालखिल्याः प्राणानेवैतदुप दधाति। ता यद् वालखिल्या नाम यद्वा ऽउर्वरयोरसम्भिन्नं[1] भवति खिल ऽइति वै तदाचक्षते, वालमात्रादु हेमे प्राणा ऽअसम्भिन्नास्ते यद् वालमात्रादसम्भिन्नास्तस्माद् वालखिल्याः ॥१॥

अब वालखिल्या नाम वाली इष्टकाओं को समीप में स्थापित करता है। वालखिल्य हैं प्राण। प्राणों को ही इष्टकाओं के रूप में समीप स्थापित करता है। दो उपजाऊ खेतों के बीच में जो अनजुती भूमि होती है उसे "खिल" कहते हैं। ये प्राण भी वालमात्र ही एक दूसरे से पृथक् हैं। वे प्राण वालमात्र से चूँकि एक दूसरे से पृथक्-पृथक् हैं, इसलिये ये वालखिल्य हैं।

[वालखिल्य प्राण १४ होते है। और प्राणभृत प्राण १० होते हैं, यथा——प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकर और धनञ्जय। और १४ वालखिल्य प्राण हैं शरीर के १४ अङ्ग रूप, जिनमें कि प्राणों की सत्ता होती हैं। १४ में से ७ तो ऊपर की ओर और ७ नीचे की ओर, या ७ आगे, और ७ पीछे की ओर होते हैं। मनुष्य में ऊपर और नीचे की ओर, तथा पशुपक्षी में आगे और पीछे की ओर सात-सात प्राणस्थान होते हैं। इन १४ स्थानों के १४ प्राणों को वालखिल्य कहते हैं]।

यद्वेव सप्त पुरस्तादुप दधाति। सप्त वा ऽइमे पुरस्तात्प्राणाः चत्वारि दोर्बाहवाणि शिरो ग्रीवा यदूर्ध्वं नाभेः तत् सप्तमम्। अङ्गे ऽङ्गे हि प्राणः। एते वै सप्त पुरस्तात्प्राणास्तानस्मिन् एतद् दधाति ॥४॥

---

१. सम्भिन्न=हल चला कर जोती गई, भेदि गई भूमि। असम्भिन्न—न जोती गई, न भेदी गई भूमि, अर्थात् दो जुते गए खेतों के मध्यवर्ती, सीमान्त भूमि।

सात वालखिल्य इष्टकाओं को चिति में आगे की ओर स्थापित करता है। क्योंकि आगे की ओर ७ प्राण स्थान हैं। अर्थात् [पशु में] चार तो अगली दो टांगों के ऊपर और नीचे के अङ्ग अर्थात् दो ऊरु और दो जङ्घाएँ, तथा दो सिर और गर्दन, और नाभि के ऊपर की छाती (४+२+१=७)। प्रत्येक अङ्ग में प्राण होता है। ये सात हैं आगे के प्राणस्थान। इष्टकाओं के रूप में इन ७ प्राणों को चिति में स्थापित करता है।

अथ याः सप्त पश्चात्। सप्त वा ऽइमे पश्चात्प्राणाः। चत्वार्यूर्वष्ठीवानि, द्वे प्रतिष्ठे, यदर्वाङ् नाभेस्तत्सप्तमम्। अङ्गे-अङ्गे हि प्राणः। एते वै सप्त पश्चात्प्राणास्तानस्मिन् एतद् दधाति ॥५॥

तथा जो सात पीछे के हैं। सात हैं ये पीछे के प्राणस्थान। चार तो [पशु की] दो पिछली टांगों की दो जङ्घाएँ [legs] तथा दो घुटनों-समेत पिण्डलियां [thighs] दो पैर तथा नाभि के पीछे का भाग अर्थात् पेट सातवां। प्रत्येक अङ्ग में प्राण हैं। ये सात हैं पीछे के प्राण स्थान। इन्हें ही इष्टकाओं के रूप में चिति के पश्चात् भाग में स्थापित करता है। [पुरुष में भी नाभि के उपरि तथा अधोभाग में सात-सात प्राणस्थान हैं]।

अथ लोकम्पृणे ऽउप दधाति, अस्यां स्रक्त्याम्। पुरीषं निवपति ॥१५॥

अब चिति के इस कोने में अर्थात् उत्तर-पश्चिम में दो लोकम्पृणा (खाली स्थानों को भरने वाली) इष्टकाओं को स्थापित करता है, और मिट्टी बिछाता है।

तीसरी चिति संक्षेप में:—

अथ तृतीया। स्वयमातृण्णा, पञ्च दिश्याः, विश्वज्योतिः, चतस्र ऽऋतव्याः, दश प्राणभृतः, षट् त्रिँशच्छन्दस्याः, चतुर्दश वालखिल्याः, एक सप्ततिरतृतीया चितिः ॥(श० १०।४।३।१६)॥

तृतीयचिति का आंशिक चित्र

THE CENTRAL PART OF THE THIRD LAYER.
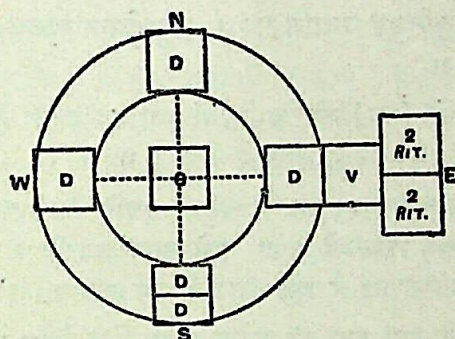
RIT=ऊपर तथा नीचे के वर्ग में दो-दो ऋतव्या इष्टकाएँ, कुल चार। V=विश्वज्योति इष्टका एक। D=दिश्या इष्टकाएँ पांच। S=स्वयमातृण्णा एक। इनसे अतिरिक्त इष्टकाएँ चित्र में नहीं दिखाईं। यथा प्राणभृत् इष्टकाएँ पांच, छन्दस्या ३६, वालखिल्या १४, लोकम्पृणा।

तृतीया चिति सम्पूर्णा

चतुर्थी चिति

चतुर्थीं चितिमुप दधाति ॥१॥ यदूर्ध्वमन्तरिक्षाद् अर्वाचीनं दिवः ॥२॥

चौथी चिति (तह) को समीप में स्थापित करता हूँ ॥१॥ जोकि अन्तरिक्ष से ऊपर और द्युलोक से नीचे है ॥२॥

ते ऽत्र ब्रह्मोपादधत। ब्रह्म वै चतुर्थी चितिस्तस्मादाहुर्ब्रह्मणा द्यावापृथिवी विष्टब्धे ऽइति स्तोमानुप दधाति। प्राणा वै स्तोमाः, प्राणा ऽउ वै ब्रह्म ब्रह्मैवैतदुप दधाति ॥३॥

उन देवों ने यहां ब्रह्म को समीप में स्थापित किया। ब्रह्म निश्चय से चौथी चिति (तह) है। इसलिये कहते हैं कि ब्रह्म द्वारा द्यौ और पृथिवी थामे हुए हैं। अब स्तोमों को स्थापित करता है। स्तोम हैं प्राण। ब्रह्म ही निश्चय से प्राण हैं। ब्रह्म को ही इन स्तोमों के रूपों में स्थापित करता है।

[स्तोम का अभिप्राय है "गेय ऋचाओं का समूह"। गेय तीन ऋचाओं के समूह को त्रिवृत्-स्तोम कहते हैं। जैसे-जैसे गेय-ऋचाओं की संख्या बढ़ती जाती है उस संख्यानुसार स्तोमों के नाम होते है। चौथी चिति में, इन स्तोमों के प्रतिनिधिरूप में, इष्टकाओं का स्थापन करता है। इन स्तोमों को प्राण कहा है। और कहा है कि ब्रह्म ही वस्तुतः प्राण हैं, अतः स्तोम की प्रतिनिधि इष्टकाओं को स्थापित करता हुआ मानो ब्रह्म को ही स्थापित करता है। इसी ब्रह्म द्वारा द्यौ और पृथिवी थामे हुए हैं। स्तोमों द्वारा ब्रह्म सम्बन्धी गान गाए जाते हैं, अतः स्तोमों को ब्रह्म कहा है। स्तोमों का मूलाधार हैं ऋचाएँ। ऋचाएँ मुख्यरूप में ब्रह्म का ही प्रतिपादन करती हैं। यथा "यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति" (ऋ० १।१६४।३९), कि ऋचाओं का पाठ या गान करके जो उसे नहीं जानता उसे ऋचाओं से क्या लाभ हुआ। संसार के प्रत्येक पदार्थ में अपना-अपना विशिष्ट प्राण होता है, जिस द्वारा उस

का स्वरूप बना रहता है। इन सब प्राणों का मूलभूत प्राण ब्रह्म है। इसलिये ब्रह्म को प्राण कहा है]।

स्तोमानुप दधाति। प्राणा वै स्तोमाः, प्राणा ऽउ वै प्रजापतिः, प्रजापतिमेवैतदुप दधाति।।४।।

वह स्तोमों की प्रतिनिधिरूप इष्टकाओं को समीप में स्थापित करता है। स्तोम हैं प्राण। प्रजापति है प्राण। प्रजापति को ही इष्टकाओं के रूप में समीप में स्थापित करता हैं।

[कण्डिका (३) में ब्रह्म को स्थापित करने का विधान किया हैं, और कण्डिका (४) में प्रजापति को स्थापित करने का विधान है। यह परस्पर विरोध नहीं। ब्रह्म ही जब सृष्टि की रचना की कामना करता है तो सृष्टिरचना के काल में वह प्रजापति संज्ञक हो जाता है]।

यद्वेव स्तोमानुप दधाति। ये वै ते प्राणाऽऋषय ऽएतां चतुर्थीं चितिमपश्यन्, य एतेन रसेनोपायन्, त एते, तानेवैतदुप दधाति। स्तोमानुप दधाति, प्राणा वै स्तोमाः प्राणा ऽउ वा ऽऋषयः। ऋषीनेवैतदुप दधाति।।५।।

वह स्तोमों को समीप में स्थापित करता है। कारण यह कि वे जो प्राण ऋषि हैं, जिन्होंने कि चौथी चिति को देखा, और जो इस रसरूप ब्रह्म के सम्पर्क में आए, वे हैं ये ऋषि। अतः उन प्राण-ऋषियों को ही इस प्रकार स्थापित करता है, स्तोमों को स्थापित करता है। स्तोम हैं प्राण। और ऋषि भी हैं प्राण। अतः ऋषियों को ही इस प्रकार स्थापित करता है।

[प्राण-ऋषियों का वर्णन कण्डिका (५) में हुआ है। इन्हें स्तोम कहा है। और स्तोमरूप प्राण-ऋषियों की, प्रतिनिधिरूप इष्टकाओं का, स्थापन चतुर्थ-चिति में करना है। जीवित मनुष्य के प्राण जब ऋषिरूप हो कर, परमेश्वर सम्बन्धी स्तोमों पर सामगान करने लगते हैं तब वे रसरूप ब्रह्म का रसास्वादन करने लगते हैं। ब्रह्म रसरूप है, ब्रह्म के द्रष्टाओं के लिये। वे इस रस का आस्वाद पा कर सांसारिक ऐन्द्रियिकरसों को हेय समझने लगते हैं। ब्रह्म रसरूप है। यथा 'रस

वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वा ऽऽनन्दी भवति" (तै० उप० ब्रह्मानन्द वल्ली ७) । कण्डिका में "रसेनोपायन्" का अभिप्राय यह है कि ऋषि लोग ब्रह्मरस को प्राप्त करने की भावना समेत, चौथी चिति को प्राप्त हुए, क्योंकि चौथी चिति है ब्रह्मचिति, इसमें ब्रह्म को ही स्थापित करना है । 'प्राणा ऋषयः'(६।१।१।१)]।

तद्या ऽएता ऽअष्टादश प्रथमाः । एतदस्य तदात्मनः, तद्यदेता ऽअत्रोप दधाति यदेवास्यैता ऽआत्मनस्तदस्मिन्नेतत्प्रति दधाति । स्तोमानुप दधाति, प्राणा वै स्तोमाः ॥८॥

अतः जो पहली ये १८ इष्टकाएँ हैं, ये इष्टकाएँ इस ब्रह्म या प्रजापति के निज स्वरूप-सम्बन्धी हैं । जो इन इष्टकाओं को इस चौथी चिति में स्थापित करता है, मानो जो ही इस ब्रह्म या प्रजापति के निज स्वरूप सम्बन्धी तत्त्व है उसे ही इस प्रकार इस चौथी चिति में स्थापित करता है । स्तोमों को इष्टकारूप में स्थापित करता है, स्तोम हैं प्राण । (वह मानो प्राणों को ही स्थापित करता है, प्राणों का प्राण है ब्रह्म या प्रजापति । अतः प्राणरूपी ब्रह्म या प्रजापति को ही स्थापित करता है)। [चौथी चिति इन १८ इष्टकाओं के चयन से आरम्भ होती है] ।

स पुरस्तादुप दधाति । आशुः त्रिवृदिति, भान्तः पञ्चदश ऽइति, व्योमा सप्तदश ऽइति, धरुण ऽएकविंश इति, प्रतूर्तिरष्टादश ऽइति, तपो नवदश ऽइति, अभीवर्तः सविंश ऽइति, वर्चो द्वाविंश ऽइति, सम्भरणस्त्रयोविंश ऽइति, योनिश्चतुर्विंश ऽइति, गर्भाः पञ्चविंश ऽइति, ओजस्त्रिणव ऽइति, क्रतुरेकत्रिंश ऽइति, प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिंश ऽइति, ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रिंश ऽइति, नाकः षट्त्रिंश ऽइति, विवर्तोऽष्टाचत्वारिंश ऽइति, धर्त्रं चतुष्टोम ऽइति॥श० ८।४।१।२६॥ (यजु० १४।२३) । चतुष्टोम=चार-स्तोमों का समूह ।

[इन १८ मन्त्रखण्डों द्वारा १८ इष्टकाओं को चौथी चिति में आगे की ओर स्थापित करता है । "आशुः त्रिवृत्" आदि १८ स्तोमों अर्थात् "गेय ऋक्-संख्या" की प्रतिनिधि, ये १८ इष्टकाएँ हैं । स्तोमों के नामों द्वारा "गेय ऋचाओं" की संख्या जाननी चाहिये । यजुर्वेद

१४।२३ द्वारा यह प्रतीत होता है कि "त्रिवृत्" आदि के पूर्व जो "आशुः" आदि पद पठित हैं वे ब्रह्म या प्रजापति के गुणों को सूचित करते हैं, जो कि तत्तत् स्तोत्रों में निर्दिष्ट है। यथा—आशुः=शीघ्र-कार्य कर्त्ता प्रजापतिः। प्रजापति केवल निज ईक्षण तथा कामना द्वारा प्रकृति को प्रेरित कर, उसे जगदुत्पादनोन्मुख कर देता है, यही शीघ्रता है।

भान्त=ब्रह्म सबको निज दीप्ति द्वारा दीप्त करता है। "तमेव भान्तमनु भाति सर्वम्। तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (मुण्ड० उप० २।२।१०)।

व्योमा=ब्रह्म[1] या प्रजापति आकाशवत् व्यापक है, और सब की रक्षा करता है (व्योम=आकाश), तथा वि+ओम् (अव रक्षणे)।

धरुणः=वह सबका आधार तथा आश्रय है।

प्रतूर्तिः=ब्रह्माण्ड तथा ब्रह्माण्ड के घटक सब अवयव गतिमान् हैं, इनमें गति के प्रदाता होने के कारण ब्रह्म या प्रजापति को "प्रतूर्तिः" कहा है। प्रतूर्तिः=प्र+त्वरा (गति)। गति के कारण ब्रह्माण्ड को "जगती" तथा ब्रह्माण्ड के घटक अवयवों को "जगत्" कहते हैं "यत्किंच जगत्यां जगत्" (यजु० ४०।१)। जगती और जगत् गम्-धातु से निष्पन्न हैं। गम्=गतौ।

तपः="यस्य ज्ञानमयं तपः" (मुण्डक १।१।९)। प्रजापति या ब्रह्म का तपः है ज्ञानमय, न कि क्रियामय।

अभीवर्तः=सबके संमुख वर्तमान या सर्वविजयी।

वर्चः=वर्चस्वी।

सम्भरणः=सबका भरण-पोषण करने वाला।

योनिः=जगत् की योनि "जगद्योनित्वात्"।

गर्भाः=वह मातृगर्भों भी वर्तमान हुआ सर्वोत्पादक है, या हिरण्य-गर्भरूप है "हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे"।

---

१. 'सर्वतो बृहत' होने से वह ब्रह्म है; तथा उत्पन्न जगत् के उत्पादक, स्वामी और रक्षक होने से वह प्रजापति है। देखो (यजु० ३२।१)।

ओजः=ओजस्वितम ।

क्रतुः=सब जगत् का कर्त्ता है। या प्रज्ञावाला है। क्रतुः प्रज्ञा (निघं० ३।९) ।

प्रतिष्ठा=जगत् की उत्पत्ति में नींवरूप तथा आधार ।

ब्रध्नस्य विष्टपम्=ब्रध्नः=सूर्यः (उणा० ३।५, महर्षि दयानन्द)। विष्टपम्=विशन्ति यत्र (उणा० ३।१४५, महर्षि दयानन्द), अर्थात् समग्र सूर्य जिसमें प्रविष्ट हुए-हुए हैं[1] ।

नाकः=नहि तत्र गताय कस्मै चनाकं भवति, प्रजापति को प्राप्त हुए किसी को भी दुःख नहीं होता, अतः प्रजापति नाक है। नाकः=न+अकम् (दुःखम्) । या प्रजापति दुःखों से रहित है, सदा आनन्द-स्वरूप है।

विवर्त्तः=उसी प्रजापति में विविध जगत् वर्तमान है। तथा वह विविध जगत् में वर्तमान है।

धर्त्रम्=सर्वाधार।

इन स्तोमों के लिये, ऐसी ऋचाओं का ही चुनाव करना चाहिये जिन में कि प्रजापति के इन स्तोमों-सम्बन्धी गुणों का वर्णन हो।

मन्त्र खण्डों में अन्वय निम्न प्रकार से करना चाहिये। यथा "प्रजापतिः आशुः (तस्य स्तोमः) त्रिवृत्" तथा "प्रजापतिः भान्तः (तस्य स्तोमः) पञ्चदशः" इत्यादि।

कां० ८ । अध्याय ४ । ब्राह्मण २

अथ स्पृत ऽउप दधाति । प्रजापतिः ······सर्वाणि भूतानि गर्भ्यभवत्, तान्यस्य गर्भ ऽएव सन्ति पाप्मा मृत्युरगृह्णात्।।१।।

अब (१०) स्पृत् नाम वाली इष्टकाओं को समीप स्थापित करता है। प्रजापति ने सब भूतों को अपने गर्भ में धारण किया। वे भूत जब इसके गर्भ में थे तो इन्हें पापी-मृत्यु ने जकड़ दिया।

---

१. प्रत्येक सौरमण्डल में ग्रह आदि की सत्ता, सूर्य के आश्रय है, और सूर्यों की सत्ता प्रजापति के आश्रय है। अतः सब का अन्तिम आश्रय प्रजापति है।

[अभिप्राय यह कि उत्पन्न होने वाले प्राणी पहिले से ही मृत्यु के वशीभूत हुए होते हैं] स्पृत्=रक्षा करने वाले, मृत्यु से बचाने वाले उपायों की प्रतिनिधिरूप इष्टकाएँ। [स्पृ प्रीतिरक्षाप्राणनेषु]।

अग्नेर्भागो ऽसि, दीक्षाया ऽआधिपत्यमिति। वाग् वै दीक्षा, अग्नये भागं कृत्वा वाच ऽआधिपत्यमकरोत्, ब्रह्म स्पृतं त्रिवृत्स्तोम ऽइति। ब्रह्म प्रजानां त्रिवृता स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत् ॥३॥ (यजु० १४।२४)

[हे ब्राह्मण !] तू अग्नि का भाग है, दीक्षा का तुझ पर आधिपत्य है। दीक्षा है वाक्। अग्नि के लिये [ब्राह्मण को] भाग बनाकर उस पर वाक् का आधिपत्य प्रजापति ने किया। ब्रह्म अर्थात् ब्राह्मण [मृत्यु से] सुरक्षित हो गया, त्रिवृत् उसका स्तोम हुआ। प्रजाजनों में ब्राह्मण को त्रिवृत् स्तोम द्वारा प्रजापति ने पापी मृत्यु से बचाया, सुरक्षित किया।

[मृत्यु से बचाने का अभिप्राय है कि १०० वर्षों की आयु से पूर्व मृत्यु का न होना। गुणकर्मों द्वारा वर्णव्यवस्था में ब्राह्मण का कर्तव्य है अग्नि की सेवा, अर्थात् यज्ञ करना और कराना। तथा वाक् अर्थात् वेदवाणी के आधिपत्य में रहकर, वेदोपदिष्ट उपदेशों के अनुसार जीवन ढालना। ब्राह्मण एतदर्थ त्रिवृत्-स्तोम द्वारा प्रभु की स्तुतियां करे। तब वह मृत्यु से बच सकता है]।

इन्द्रस्य भागोऽसि, विष्णोराधिपत्यमिति। इन्द्राय भागं कृत्वा विष्णवे ऽआधिपत्यमकरोत्। क्षत्रँ स्पृतं पञ्चदश स्तोम इति। क्षत्रं प्रजानां पञ्चदशेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत् ॥४॥ (यजु० १४।२४)

[हे क्षत्रिय !] इन्द्र का तू भाग है, विष्णु का तुझ पर आधिपत्य है। इन्द्र के लिये क्षत्रिय को भाग बनाकर, उस पर विष्णु का आधिपत्य प्रजापति ने किया। क्षत्रिय मृत्यु से सुरक्षित हो गया, पञ्चदश उसका स्तोम हुआ। प्रजाजनों में क्षत्रिय को पञ्चदश स्तोम द्वारा प्रजापति ने पापी मृत्यु से बचाया, सुरक्षित किया।

[क्षत्रिय का कर्तव्य है प्रजाओं को क्षत्-विक्षत् से बचाना और

राष्ट्र की रक्षा करना। क्षत्रिय लोग अपने आप को इन्द्र अर्थात् राजा का भागी वनाएँ, और विष्णु अर्थात् सर्वव्यापक परमेश्वर को अपना अधिपति जानकर रक्षाकार्य में तत्पर रहें। इस निमित्त पञ्चदश स्तोम द्वारा परमेश्वर की स्तुतियां करें। इन्द्रस्य "इन्द्रश्च सम्राट् वरुणश्च राजा" (यजु० ८।३७), अर्थात् इन्द्र है सम्राट्, और वरुण है माण्डलिक राजा। क्षत्रम्=क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।। कालिदास, रघुवंश।(२।५३)।

नृचक्षसां भागोऽसि, धातुराधिपत्यमिति। देवा वै नृचक्षसो देवेभ्यो भागं कृत्वा धात्र ऽआधिपत्यमकरोत्, जनित्रँ स्पृतँ सप्तदश स्तोम ऽइति विड् वै जनित्रं, विशं प्रजानाँ सप्तदशेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरपस्पृणोत्।।५।। (यजु० १४।२४)

[हे वैश्य!] मनुष्यों पर दृष्टि रखने वाले [राज्याधिकारियों] का तू भाग है। धाता का तुझ पर आधिपत्य है। दिव्यकोटि के अधिकारी, मनुष्यों पर दृष्टि रखने वाले हैं। इन देवों के लिये तुझे भाग वनाकर, उन पर धाता का आधिपत्य प्रजापति ने किया है। [अन्नों का]उत्पादक मृत्यु से सुरक्षित हो गया। सप्तदश उसका स्तोम हुआ। जनित्र अर्थात् अन्नोत्पादक है वैश्य। प्रजाओं में वैश्य को, सप्तदश स्तोम द्वारा, पापी-मृत्यु से प्रजापति ने वचाया, सुरक्षित किया।

[धाता=अन्नाधिकारी। अन्न द्वारा मनुष्यों का धारण-पोषण करने वाला अधिकारी। धा=धारण-पोषणयोः। वैश्य यदि उत्पादित अन्नों द्वारा मनुष्यमात्र के धारण-पोषण का व्रत लें, तो दिव्य अधिकारी-वर्ग सदा उनके रक्षक हो जाते हैं, वे राजदण्ड के भय से विमुक्त रहते हैं, उन्हें मृत्युदण्ड नहीं होता। इन राज्याधिकारियों पर भी "धाता" अधिपति होता है, जोकि राज्याधिकारियों को कर्तव्यपरायण वनाए रखता है। वैश्य का स्तोम है सप्तदश। इस स्तोम के गान द्वारा वह प्रजापति की स्तुति किया करे, ताकि अपने कर्तव्य के पालन में उसे प्रजापति की कृपा मिल सके]।

मित्रस्य भागोऽसि, वरुणस्याधिपत्यमिति। प्राणो वै मित्रो ऽपानो वरुणः। प्राणाय भागं कृत्वा, अपानायाधिपत्यमकरोत्।

दिवो वृष्टिर्वातः स्पृतः, एकविंशः स्तोमः इति, वृष्टिं च वातं च प्रजानामेकविँशेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत् ॥६॥

[हे प्रजाजन !] तू मित्र का भाग हैं, अंश है, तुझ पर वरुण का आधिपत्य है। मित्र है प्राण, और वरुण है अपान। अतः तुझे प्राण का भाग अर्थात् अंश बनाकर, तुझ पर अपान का आधिपत्य प्रजापति ने किया है। तेरे लिये द्युलोक से वृष्टि और अन्तरिक्ष से वायु को प्रजापति ने सुरक्षित कर दिया है। तेरे लिये एकविंश स्तोम स्तुति का साधन है। प्रजाओं के निमित, एकविंश स्तोम द्वारा, प्रजापति ने, वृष्टि और वायु को, पाप अर्थात् मृत्यु के हेतु बनने से, सुरक्षित कर दिया है।

[मनुष्य का जीवन प्राणवायु के आश्रय है, मानो मनुष्य प्राणवायु का ही अंशरूप है। अपान वायु गुदा द्वारा निःसृत होकर मल के परित्याग में हेतु है। मूत्र के परित्याग में भी अपान वायु कारण है। विना मलमूत्र के परित्याग के खाना-पीना असम्भव हो जाता है, और प्राण निर्बल पड़ जाते हैं। इस दृष्टि से अपान का आधिपत्य युक्तिसंगत प्रतीत होता है। अपान वायु के सम्बन्ध में कहा है कि:—

"अपानवायोः कर्मैतद् विण्मूत्रादिविसर्जनम्"। (याज्ञवल्क्य स्मृति अ० ४।६६-६९), अर्थात्—विष्ठा और मूत्र का विसर्जन, अपान वायु का कर्म है। वृष्टि द्वारा अन्नोत्पत्ति तथा जल-पान, तथा वायु द्वारा प्राणापान क्रिया होतीं हैं। इनको शुद्ध करना मानो जीवन को मृत्यु से बचाना है]।

वसूनां भागोऽसि, रुद्राणामाधिपत्यमिति, वसुभ्यो भागं कृत्वा रुद्रेभ्य आधिपत्यमकरोत्। चतुष्पात् स्पृतम्, चतुर्विंश स्तोम ऽइति चतुष्पात्प्रजानां चतुर्विशेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत् ॥७॥ (यजु० १४।२५)

[हे ब्रह्मचारिन् !] तू वसु नामक गुरुओं का भाग है, तुझ पर रुद्रकोटि के गुरुओं का आधिपत्य है। वसुओं के लिये तुझे भाग बना कर, रुद्रों के लिये तुझ पर प्रजापति ने आधिपत्य स्थापित किया है। इस द्वारा चतुष्पाद्-धर्म को सुरक्षित किया है, इस निमित्त चतुर्विंश

स्तोम है । प्रजाओं के चतुष्पाद्-धर्म को, चतुर्विंश स्तोम द्वारा, प्रजापति ने पाप अर्थात् मृत्यु से बचाया है, सुरक्षित किया हैं ।

[ब्रह्मचारी जब गुरुकुल में प्रवेश करे, तो उसे पढ़ाने के लिये वसु-कोटि के विद्वानों को नियत करना चाहिये । उन्हें नियत करने वाले रुद्र-कोटि के आचार्य हों, ये ही गुरुकुल के अधिपति हों । इस प्रकार के विद्वानों द्वारा चतुष्पाद्-धर्म का पठन-पाठन होकर, चतुष्पाद्-धर्म की मृत्यु अर्थात् विलोप नहीं होता । चतुर्विंश स्तोम के लिये चुनी गई ऋचाओं में, ब्रह्मचर्य का वर्णन होना चाहिये, तभी इस स्तोम द्वारा ब्रह्मचर्य की शिक्षा मिल सकेगी] ।

आदित्यानां भागोऽसि, मरुतामाधिपत्यमिति, आदित्येभ्यो भागं कृत्वा मरुद्भ्य आधिपत्यमकरोत्, गर्भाः स्पृताः पञ्चविंश स्तोमः इति, गर्भान् प्रजानां पञ्चविंशेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत् ॥८॥ (यजु० १४।२५)

[हे ब्रह्मचारिन् !] आदित्य कोटि के गुरुओं का तू भाग है, तुझ पर मरुतों का आधिपत्य है । आदित्य कोटि के गुरुओं के लिये तुझे भाग बनाकर, मरुतों के लिये तुझ पर प्रजापति ने आधिपत्य स्थापित किया हैं । इस प्रकार गर्भ सुरक्षित किये गए हैं, इन गर्भों का स्तोम है पञ्चविंश । प्रजाओं के गर्भभूत ब्रह्मचारियों को प्रजापति ने, पञ्चविंश स्तोम द्वारा पाप अर्थात् मृत्यु से सुरक्षित किया है ।

[वसुओं पर आधिपत्य रुद्रों का, रुद्रों पर आधिपत्य आदित्यों का, और आदित्यों पर आधिपत्य मरुतों का,—इस प्रकार शिक्षाविभाग का प्रबन्ध इन मन्त्रों में दर्शाया है । मरुतः के दो अर्थ हैं, मरुतः ऋत्विजः (निघं० ३।१८) । तथा धन या धनाधिपति ('मरुत्= हिरण्यनाम निघं० १।२) । इस प्रकार प्रबन्ध की दृष्टि से शिक्षा-विभाग के सर्वोच्च अधिकारी हैं,—ऋत्विक् तथा धनिकों[1] की मिश्रित समिति । ऋत्विक् जो यज्ञानुष्ठानी तथा धार्मिक हैं, वे तो शिक्षा-विभाग में चतुष्पाद् धर्म के लिये उत्तरदायी हैं, और धनिक गुरुकुलों

---

१. यथा 'मरुद्भ्यो वैश्यम्" (यजु० ३०।५) में मरुतों अर्थात् धनों के लिये वैश्य के उपादान का कथन हुआ है ।

की आर्थिक अवस्था में सहायक होंगे । गर्भाः=छोटी तथा बड़ी अवस्था के ब्रह्मचारी। आचार्य लोग इन की इस प्रकार रक्षा करें जिस प्रकार से माता निज गर्भ की रक्षा करती है। इसीलिये कहा है कि "आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः" (अथर्व० ११। ५।३), अर्थात्—आचार्य ब्रह्मचारी को अपने समीप लाता हुआ, गर्भ के समान उसकी रक्षा करे। उपनयन का अर्थ है "यज्ञोपवीत संस्कार करके ब्रह्मचारी को अपने समीप रखना।" शिशुओं आदि की रक्षा में प्रमाद करना तथा उन्हें कठोर दण्ड देना, शिशुओं आदि के लिये मृत्यु समान है। इस व्यवस्था की देखभाल मरुत्समिति करेगी। अथर्व० ११।५।३ में "तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति" द्वारा तीन रात्रियों का अभिप्राय है ब्रह्मचर्य के तीन काल, वसु काल, रुद्र काल, तथा आदित्य काल। तीनों कालों में ब्रह्मचारी गुरुओं के लिये शिशुवत् है।

अदित्यै भागोऽसि, पूष्ण ऽआधिपत्यमिति, इयं वा ऽअदितिरस्यै भागं कृत्वा पूष्ण ऽआधिपत्यमकरोत्, ओजः स्पृतं, त्रिणव-स्तोमः इत्योजः प्रजानां त्रिणवेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योर-स्पृणोत् ॥६॥ (यजु० १४।२५)

[हे ब्रह्मचारिन्!] तू अदिति अर्थात् पृथिवी का भाग अर्थात् अंश है, पूषा अर्थात् पुष्टिकारक सूर्य का तुझ पर आधिपत्य है। यह पृथिवी अदिति है, इसके लिये तुझे भाग बनाकर, तुझ पर पूषा का आधिपत्य प्रजापति ने स्थापित किया है। इस प्रकार तेरे ओज को मृत्यु से सुरक्षित किया है, बचाया है। ओज का स्तोम है त्रिणव। ब्रह्मचारी रूप प्रजाओं के ओज को, त्रिणव स्तोम द्वारा, प्रजापति ने सुरक्षित किया है।

[अदिति है पृथिवी। इसके खण्ड नहीं हो सकते (अ+दो (अव-खण्डते)+क्तिन्)। राष्ट्रवादी लोग पृथिवी को खण्डशः विभक्त कर, और उस-उस खण्ड पर अपना-अपना स्वामित्व मान कर, राष्ट्रों में परस्पर झगड़ों और युद्धों की परिस्थितियां उपस्थित कर देते हैं। वेद में समस्त पृथिवी को एक इकाई माना है, और इस समस्त पृथिवी को सब प्राणियों की माता कहा है। प्रत्येक प्रजाजन को समग्र पृथिवी को अपनी माता जानकर, समस्त पृथिवी की सुरक्षा तथा उन्नति के

लिये प्रयत्नशील होना चाहिये। यथा "माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः" (अथर्व० १२।१।१२)। बच्चों को प्रारम्भ से ही यह पाठ पढ़ाना चाहिये कि "मेरी माता समग्र पृथिवी है, और मैं समग्र पृथिवी का पुत्र हूं, एक भाग हूं, अंश हूं।" तब सम्भव है कि राष्ट्रों में परस्पर भ्रातृ भावना हो सके। पूषा का अर्थ है सूर्य, जोकि वर्षा आदि द्वारा सब का पालन-पोषण करता है (रश्मिपोषं पुष्यति तत् पूषा भवति, निरु० १२।२।१६)। बच्चे यह भी जानें कि हम सब का अधिपति या रक्षक पिता है, सूर्य। "पृथिवी माता और पूषा पिता"—इस भावना से भावित ब्रह्मचारियों तथा प्रजाजनों का ओज सदा वृद्धि को प्राप्त होता है, पारस्परिक युद्धों के द्वारा इस ओज का क्षय नहीं होता, इस की मृत्यु नहीं हो जाती]।

देवस्य सवितुर्भागो ऽसि, बृहस्पतेराधिपत्यमिति,। देवाय सवित्रे भागं कृत्वा बृहस्पतय ऽआधिपत्यमकरोत्। 'समीचीर्दिश स्पृताः, चतुष्टोम इति, सर्वा दिशः प्रजानां चतुष्टोमेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरस्पृणोत् ॥१०॥ (यजु० १४।२५)

[हे ब्रह्मचारिन्!] तू उत्पादक परमेश्वर-देव का भाग है, बृहती वेदवाणी के पति परमेश्वर का, तथा महावैदिक विद्वान् का तुझ पर आधिपत्य है। उत्पादक परमेश्वर-देव के लिये तुझे भागी या भजने वाला करके, बृहती वेदवाणी के पति के लिये तुझ पर, प्रजापति ने आधिपत्य स्थापित किया है। इस प्रकार सब दिशाओं के वासियों को सम्यक् व्यवहार वाली करके उनकी रक्षा की है। उनके लिये चतुष्टोम-स्तोम नियत किया है। प्रजाजनों के अर्थात् सब दिग्-दिगन्तरवर्ती वासियों को, पापमयी मृत्यु से प्रजापति ने सुरक्षित किया है। भागम् भागी=भजने वाला, स्तावक।

[बच्चों को यह शिक्षा देनी चाहिये कि तुम्हारा उत्पादक पिता वस्तुतः परमेश्वर है। तुम सब उसी की सन्तानें हो। अतः पृथिवीवासी सभी परस्पर भाई-बहिनें हैं। तथा बृहती वेदवाणी का स्वामी भी वही परमेश्वर है, जोकि निज वेदवाणी द्वारा यह उपदेश दे रहा है

---

१. समीचीः और सम्यञ्चः (अथर्व० ३।३०।३) में अर्थ तथा भाव की समानता है।

कि तुम सब परस्पर भाई-बहिनें हो। अतः सब को सब के प्रति प्रेम-पूर्वक वर्ताव करना चाहिये। वेद कहता है कि "मा भ्राता भ्रातरं दिक्षत्, मा स्वसारमुत स्वसा। सम्यञ्चः[1] सव्रता भत्वा वाचं वदत भद्रया" (अथर्व० ३।३०।३)। बृहस्पति ने श्रेष्ठ वेदवाणी को प्रकट किया,—इस सम्बन्ध में मन्त्रभाग निम्नलिखित है। यथा "बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः" (ऋ० १०।७२।१)।

यवानां भागोऽसि, अयवानामाधिपत्यमिति। पूर्वपक्षा वै यवा ऽअपरपक्षा ऽअयवाः, ते हीदँ सर्वं युवते चायुवते च। पूर्व-पक्षेभ्यो भागं कृत्वा ऽपरपक्षेभ्य ऽआधिपत्यमकरोत्। प्रजाः स्पृताः, चतुश्चत्वारिँश स्तोम इति, सर्वाः प्रजाः चतुश्च-त्वारिँशेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरपस्पृणोत् ॥११॥ (यजु० १४।२६)

[हे ब्रह्मचारिन्!] तू यवों अर्थात् चान्द्र-पूर्वपक्षों का भाग है, तुझ पर चान्द्र-अपरपक्षों का आधिपत्य है। तुझे चान्द्र-पूर्वपक्षों का भागी बना कर, तुझ पर चान्द्र-अपरपक्षों के लिये प्रजापति ने आधि-पत्य स्थापित किया है। इससे प्रजाओं को सुरक्षित किया है, इन का स्तोम अर्थात् स्तुति का साधन है चतुश्चत्वारिंश स्तोम। सब प्रजाओं को चतुश्चत्वारिंश स्तोम द्वारा प्रजापति ने पापमयी मृत्यु से सुरक्षित किया है, बचाया है।

[शतपथ में यव का अर्थ पूर्वपक्ष और अयव का अर्थ अपरपक्ष किया है। पूर्वपक्ष का अभिप्राय है शुक्लपक्ष, और अपरपक्ष का अभि-प्राय है कृष्णपक्ष। यव में "यु" धातु है, जिस का अर्थ है मिश्रण और और अमिश्रण। पूर्वपक्ष में चन्द्र के साथ सूर्य की रश्मियों का मिश्रण अर्थात् मेल होता है, और अपरपक्ष में यह मिश्रण अर्थात् मेल नहीं होता। ब्रह्मचारी को उपदेश देता हुआ आचार्य मानो सभी मनुष्यों को उपदेश देता है, कि तुम्हारे जीवनों में पहिले तो शुक्लपक्ष की तरह एक-एक कला करके वृद्धि होती रहती है, परन्तु यह भी ध्यान में रखो कि इस वृद्धि के पश्चात् कृष्णपक्ष के सदृश तुम्हारे जीवनों में ह्रास अवश्यम्भावी है। क्योंकि अयवों अर्थात् कृष्णपक्षों का आधिपत्य है,

१. द्र० पूर्व पृष्ठ १३४ की टिप्पणी १।

शुक्लपक्षों पर। इसलिये निज जीवनों में चतुश्चत्वारिंश स्तोम द्वारा परमेश्वर का सदा स्तवन किया करो, उसका सदा स्मरण किया करो "ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतꣳ स्मर" (यजु० ४०।१५)]।

ऋभूनां भागोऽसि, विश्वेषां देवानामाधिपत्यमिति, ऋभुभ्यो भागं कृत्वा विश्वेभ्यो देवेभ्य ऽआधिपत्यमकरोत्, भूतं स्पृतम्, त्रयस्त्रिꣳश स्तोम इति। सर्वाणि भूतानि त्रयस्त्रिꣳशेन स्तोमेन पाप्मनो मृत्योरपस्पृणोत् ॥१२॥ (यजु० १४।२६)

[हे ब्रह्मचारिन्!] तू सत्यानुष्ठान से चमकने वालों का भाग अर्थात् अङ्ग बना है, सब सत्यानुष्ठानी महात्माओं का तुझ पर आधिपत्य हो गया है, अर्थात् वे सब तेरे अधिपति हुए हैं, रक्षक हुए हैं। सत्यानुष्ठान से चमकने वालों के लिये तुझे अङ्ग बनाकर, सब सत्यानुष्ठानी महात्माओं के लिये, प्रजापति ने, तुझ पर आधिपत्य स्थापित किया है। इस प्रकार सब प्राणियों को सुरक्षित किया है। त्रयस्त्रिंश स्तोम तेरा स्तवन का साधन है। सब भूतों अर्थात् प्राणियों को, त्रयस्त्रिंश स्तोम द्वारा, प्रजापति ने पापमयी मृत्यु से सुरक्षित किया है, बचाया है।

[ऋभूणाम्; "ऋभवः=ऋतेन भान्ति, ऋतेन भवन्ति" (निरु० ११।२।१५)। ऋतम्=सत्यम् (निघं० ३।१०)। अतः ऋभूनाम्= सत्यानुष्ठानेन भासमानानाम्। "देवानाम्"=सत्यं वै देवाः, अनृतं मनुष्याः" (श० १।१।१), अतः "विश्वेषां देवानाम्"=सत्यानुष्ठानी सब महात्माओं का। ब्रह्मचारी चतुष्पाद् धर्म (कण्डिका ७) के अनुष्ठान के पश्चात्, जब स्नातक बना, तो वह सत्यानुष्ठानी देवसमाज का अंग बन जाता है, और सब सत्यानुष्ठानी महात्मा उसकी रक्षा करते हैं। सब प्राणियों की रक्षा का व्रत धारण करते हैं ये सत्यानुष्ठानी महात्मा]।

ता वा ऽएता दशेष्टका ऽउप दधाति। दशाक्षरा विराड् दश दिशः, दश प्राणाः ॥१३॥

ये १० [1]इष्टकाएँ हैं, इन्हें चौथी चिति (तह) में समीप स्थापित

---

१. दस इष्टकाएं, उपरिकथित १० कण्डिकाओं की भावनाओं की प्रतिनिधिरूप हैं, उन्हें सूचित करती हैं।

करता है। विराट् छन्द १० अक्षरों वाला होता है। १० दिशाएँ हैं। १० प्राण हैं। ये १० इष्टकाएँ इनकी प्रतिनिधि हैं। (यजु० १४। २४-२६) इन तीन मन्त्रों (यजु० १४।२४,२५,२६) के १० खण्डों के उच्चारण पूर्वक १० स्पृत् नाम वाली इष्टकाओं को चौथी चिति में स्थापित करता है।

अथर्त्तव्ये ऽउप दधाति। ऋतव ऽएते यदृतव्ये ऽऋतूनेवैतदुप दधाति "सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतू ऽइति नामनी ऽएनयोरेते नामभ्यामेवेने ऽएतदुप दधाति, द्वे ऽइष्टके भवतो, द्वौ हि मासावृतुः, सकृत्सादयति, एकं तदृतुं करोति ॥१४॥

अब दो ऋतव्या-इष्टकाओं को समीप स्थापित करता है। ये ऋतव्या-इष्टकाएँ ऋतु की प्रतिनिधि हैं, अतः इन द्वारा मानो ऋतु को ही स्थापित करता है। सहः और सहस्य ये दो मास हेमन्त ऋतु-रूप हैं। इन दो नामों का उच्चारण करके इन दो इष्टकाओं को स्थापित करता है। इष्टकाएँ दो होती हैं, दो मास एक ऋतु है। एक-साथ दोनों इष्टकाओं को स्थापित करता है। इस प्रकार दो मासों को ऋतुरूप में करता है।

[सहः=मार्गशीर्ष। सहस्य=पौष। हेमन्त=winter season]।

कां० ८। अध्याय ४। ब्राह्मण ३

अथ सृष्टीरुप दधाति। एतद्वै प्रजापतिः सर्वाणि भूतानि पाप्मनो मृत्योर्मुक्त्वा ऽकामयत प्रजाः सृजेय प्रजायेयेति॥१॥

अब सृष्टि की प्रतिनिधिरूप इष्टकाओं को समीप स्थापित करता है। प्रजापति ने सब भूतों को पापमयी-मृत्यु से मुक्त करके कामना की कि मैं प्रजाओं का सर्जन करूँ, और विविध रूपों में प्रकट होऊँ।

[भूतानि=प्राणी और अप्राणी सृष्टि। प्रलय काल में सब भूतों को मृत्यु ने आक्रान्त किया हुआ था। जब सृष्टि की रचना का काल हुआ तब प्रजापति ने सृष्टि रचना की कामना की। बिना इस कामना के सृष्टि रचना नहीं हो सकती। सृष्टि के पैदा होने के पश्चात् ब्रह्म,—प्रजापति सृष्टिकर्तृत्व, सृष्टिरक्षकत्व, माता, पिता, बन्धु, न्यायकर्त्ता, कर्मफलप्रदाता आदि नानारूपों में प्रकट होता है।

प्रजापति ने प्राणों के साथ मिलकर, भिन्न-भिन्न प्रजाओं की सृष्टि की। प्राणों की सहायता के विना सृष्टिरचना नहीं हो सकती। जड़ वस्तुओं में भी अपने ढंग के प्राण होते हैं जिससे कि उनके अपने-अपने स्वरूप बने रहते हैं]।

एकया ऽस्तुवतेति। वाग्वा ऽएका, वाचैव तदस्तुवत, प्रजा अधीयन्त, प्रजापतिरधिपतिरासीत् ॥३॥ (यजु० १४।२८)

ब्रह्म और प्राणों ने मिलकर, एक वाक् द्वारा, स्तवन किया, प्रजाओं की उत्पत्ति का ध्यान किया, प्रजापति अधिपति हुआ।

[एका वाक् है वेदवाणी। वेदवाणी में निर्दिष्ट सृष्टि प्रक्रमों के अनुसार ब्रह्म ने, प्राणों के साथ मिलकर, प्रजासर्जन का ध्यान किया, चिन्तन किया। इस ध्यान को आलोचन तथा ईक्षण भी कहा जाता है। इस ध्यानावस्था में ब्रह्म का नाम 'प्रजापति' हुआ। क्योंकि ब्रह्म ने, प्रजाओं के पतिरूप में, प्रजा की सृष्टि रची। अधीयन्त = ध्यै चिन्तायाम्।

शतपथ ब्राह्मण में निज अभिप्रायों को किस्से-कहानियों के शब्दों में वर्णित किया जाता है। इसलिये इन कण्डिकाओं में तदनुरूप शब्दों का प्रयोग हुआ है। प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में अपना-अपना विशिष्ट प्राण होता है, जिस द्वारा कि उस-उस पदार्थ का निज स्वरूप बना रहता है, और उस प्राण के क्षीण होते वस्तु का स्वरूप भी नष्ट हो जाता है। इन प्राणों की सहायता के विना ब्रह्म सृष्टिरचना नहीं कर सकता। इसलिये सृष्टिरचना में ब्रह्म और प्राणो के सहयोग या सह-स्तवन का वर्णन हुआ है।

इस सह-स्तवन के उदाहरण रूप में शतपथ का निम्नलेख दिया जाता है। यथा,—

तद्वै प्रजापतिः सर्वाणि भूतानि पाप्मनो मृत्योर्मुक्त्वा कामयत प्रजा सृजेय प्रजायेयेति। स प्राणानब्रवीद्युष्माभिः सहेमाः प्रजाः प्रजनयानीति। ते वै केन स्तोष्यामहे इति, मया चैव युष्माभिश्चेति। तथैव ते प्राणैश्चैव प्रजापतिना चास्तुयत॥ (श० ८।४।३।१,२)]।

तिसृभिरस्तुवतेति। त्रयो वै प्राणाः, प्राण ऽउदानो व्यानः।

तैरेव तदस्तुवत, ब्रह्मसृज्यत, ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीत् ॥४॥
(यजु० १४।२८)

तीन वाणियों के सहयोग द्वारा; प्राण, उदान, व्यानरूपी उन तीन प्राणों के साथ मिलकर, प्रजापति ने स्तवन किया, ब्रह्म अर्थात् वेदों का सर्जन हुआ। प्रजापति ब्रह्मणस्पति नाम वाला हुआ।

[प्राण, उदान, व्यान का सम्बन्ध चेतनसृष्टि के साथ है, त्रिविध वैदिक विद्याओं का भी सम्बन्ध चेतन मनुष्य सृष्टि के साथ है। अतः त्रिविध प्राणों और त्रिविध त्रयीविद्या का पारस्परिक सम्बन्ध दर्शाया है। ब्रह्मणस्पति = वेदों का पति। ब्रह्म = त्रयी विद्या। यथा—"ब्रह्मैव प्रथममसृजत, त्रयीमेव विद्याम्" (श० ६।१।१।८)। त्रयीविद्या अर्थात् वैदिकी आधिभौतिकाध्यात्मिकाधिदैविक विद्याएँ, या वैदिक ज्ञान-कर्मोपासनारूप विद्याएँ, या वैदिक गद्यपद्यगीतिरूप त्रिविध रचनाएँ]।

पञ्चभिरस्तुवतेति। य ऽएवेमे मनः पञ्चमाः प्राणा तैरेव तदस्तुवत। भूतान्यसृज्यन्तेति। भूतानां पतिरधिपति-रासीत् ॥५॥ (यजु० १४।२८)

पांच [प्राणों] के सहयोग द्वारा प्रजापति ने स्तवन अर्थात् कामना की। जो ही ये "मनःसमेत पांच प्राण हैं" इन ही के सहयोग द्वारा प्रजापति ने स्तवन अर्थात् मानसिक शब्दमयी कामना की। भूतों की सृष्टि हुई। अधिपति का नाम भूतपति हुआ, अर्थात् भूतों का पति।

["भूत" द्वारा पञ्च प्राणियों की सृष्टि का वर्णन हुआ है। यथा "तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गाव अश्वाः पुरुषा अजावयः" (अथर्व० ११।२।९)। अग्निचयन का सम्बन्ध इन्हीं ५ प्राणियों के साथ है। ५ प्राण = प्राण, अपान, उदान, व्यान और मनः। मनः का सम्वन्ध इन ५ प्राणियों के साथ है।

सप्तभिरस्तुवतेति। य ऽएवेमे सप्त शीर्षन्प्राणास्तैरेव तदस्तु-वत। सप्त ऽऋषयो ऽसृज्यतेति। धाता ऽधिपतिरासीत् ॥६॥
(यजु० १४।२८)

सात [प्राणों] के सहयोग द्वारा प्रजापति ने स्तवन अर्थात् कामना की। जो ही ये सात शिरस्थ प्राण हैं उनके ही सहयोग द्वारा प्रजापति

ने स्तवन अर्थात् मानसिक शब्दमयी कामना की। सात ऋषि पैदा हुए। प्रजापति "धाता के रूप" में अधिपति हुआ। धाता=धा धारण-पोषणयोः[1]।

[सात ऋषि="सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे" (यजु० ३४।५५)। तथा सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे=षडिन्द्रियाणि, विद्या सप्तम्यात्मनि" (निरु० १२।४।३७)। षडिन्द्रियाणि=मन और ५ ज्ञानेन्द्रियां ६ इन्द्रियां अर्थात् ५ ज्ञानेन्द्रियां और मन और विद्या सप्तमी—सप्तशीर्षन्प्राणाः]।

नवभिरस्तुवतेति। नव वै प्राणाः, सप्त शीर्षन्, अवाञ्चो द्वौ, तैरेव तदस्तुवत, पितरो ऽसृज्यन्त। अदितिरधिपत्न्यासीत् ॥७॥ (यजु० १४।२९)

नौं [प्राणों] के सहयोग द्वारा प्रजापति ने स्तवन अर्थात् कामना की। नौं प्राण हैं, सातसिर में और दो नीचे की ओर[2]। उनके ही सहयोग द्वारा प्रजापति ने स्तवन अर्थात् मानसिक शब्दमयी कामना की। पितरों की सृष्टि हुई। प्रजापति अदितिरूप में अधिपति हुआ। (यजु० १४।२९)

[सात प्राण सिर में (६), तथा दो प्राण नीचे की ओर हैं, शिश्न तथा योनि। शिश्न प्राण है पुरुष का, और योनि प्राण है स्त्री का। ये दो कर्मेन्द्रियांरूप हैं। इन दो प्राणों तथा शिरःस्थ सात प्राणों द्वारा माता-पिता बनते हैं, ये पितर हैं। इन पितरों की अधिपत्नी है अदिति, अर्थात् "अदीना देवमाता", प्रजापतिरूप न क्षीण होने वाली पितरों की भी माता।

"अदितिरदीना देवमाता" (निरु० ४।४।२२)। अदितिः=अ+दीङ् (क्षये)+क्तिन्, अथवा अ+दो (अवखण्डने)+क्तिन्।

एकादशभिरस्तुवतेति। दश प्राणा ऽआत्मैकादशः, तेनैव तदस्तुवत, ऋतवो ऽसृज्यन्त, आर्तवा अधिपतय ऽआसन् ॥८॥ (यजु० १४।२९)

---

१. धाता=प्राणिसृष्टि का धारक तथा पोषक प्रजापति।
२. नौं प्राण हैं=७ शिरस्थ; शिश्न, योनि।

११ [प्राणों] के सहयोग द्वारा प्रजापति ने स्तवन अर्थात् कामना की। ११ अर्थात् १० प्राण, और आत्मा ११ वां। उनके ही सहयोग द्वारा प्रजापति ने स्तवन अर्थात् मानसिक शब्दमयी कामना की। ऋतुएँ पैदा हुईं। आर्तव अधिपति हुए।

[आत्मा=शरीर या जीवात्मा। प्राणों और ऋतुओं का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऋतुओं के अनुसार वर्षा होती, विविध अन्न पैदा होते, और अन्नों के सेवन से प्राणों की सत्ता तथा पुष्टि होती है। अतः प्राणों और शरीर अथवा आत्मा का सम्बन्ध ऋतुओं के साथ दर्शाया है। आर्तव हैं सम्भवतः ऋतु-ऋतु में उत्पन्न विविध पदार्थ।

११ संख्या के साथ ऋतुओं का सम्बन्ध विचारणीय है। ऋतुएँ ६ होती हैं, न कि ११। वेदों में "षड्ऋतवः" तथा "पञ्चर्तवः" प्रयोग भी मिलते हैं। "पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने" (ऋ० १।१६४।१३) की व्याख्या में निरुक्तकार कहते हैं कि "इति पञ्चर्तुतया, पञ्चर्तवः संवत्सरस्य, हेमन्तशिशिरयोः समासेन", तथा "षडक्षरे चक्रे परिवर्तमाने' (ऋ० १।१६४।१२) की व्याख्या में निरुक्तकार कहते हैं कि 'इति षडृतुतया' (४।४।२७)। शतपथ के कर्त्ता ने ऋतुसंख्या के द्विविध वर्णनों को एकादशभिः द्वारा सूचित किया प्रतीत होता है। इसी दृष्टि से यजुर्वेद में भी ११ का सम्बन्ध ऋतुओं के साथ दर्शाया है। "पञ्चर्तवः"[1] की व्याख्या में "हेमन्तशिशिरयोः समासेन" कहना कोई काल्पनिक नहीं। पृथिवी के मध्यवृत्त अर्थात् भूमध्यरेखा से उत्तर-उत्तर के प्रदेशों में, शनैः-शनैः गर्मी कम और सर्दी अधिक होती जाती है। अतः पृथिवी में ऐसे भी प्रदेश हैं जहां सर्दी की दृष्टि से हेमन्त और शिशिर में भेद जाता रहता है, और ये दोनों ऋतुएँ एक ऋतु रूप हो जाती हैं]।

त्रयोदशभिरस्तुवतेति। दश प्राणा द्वे प्रतिष्ठे ऽआत्मा त्रयोदशः, तेनैव तदस्तुवत, मासा ऽअसृज्यन्त। संवत्सरो ऽधिपतिरासीत् ॥६॥ (यजु० १४।२९)

---

१. अथवा ५ ऋतुएँ=१० मास; तथा १ मलमास=११ ऋतुएँ। वेद में मासों को भी ऋतु कहा है (यजु० १३।२५; १४।६,१५,१६,२७,५७)।

१३ [प्राणों] के सहयोग द्वारा प्रजापति ने स्तवन अर्थात् कामना की। १० प्राण थे; दो टांगें या दो पैर थे, और १ आत्मा। उनके ही सहयोग द्वारा प्रजापति ने स्तवन अर्थात् मानसिक शब्दमयी कामना की। मास पैदा हुए। संवत्सर अधिपति हुआ।

['त्रयोदशभिः' अर्थात् १३ का सम्बन्ध मासों के साथ दर्शाया है। संवत्सर के मास होते हैं १२, तेरहवां मास है 'मलमास'। मलमास का वर्णन अथर्व० १३।२।८ में 'त्रयोदश' शब्द द्वारा हुआ है। यथा,— "अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते"। "त्रिंशदङ्गम्" का अभिप्राय है ३० अहोरात्र वाला १३वां मास। मासों का अधिपति संवत्सर है, यह यथार्थ है]।

पञ्चदशभिरस्तुवतेति। दश हस्त्या ऽअङ्गुलयश्चत्वारि दोर्बाहवाणि, यदूर्ध्वं नाभेस्तत्पञ्चदशं, तेनैव तदस्तुवत, क्षत्र-मत्रासृज्यत, इन्द्रो ऽधिपतिरासीत् ॥१०॥ (यजु० १४।२९)

१५ [प्राणों] के सहयोग द्वारा प्रजापति ने स्तवन अर्थात् कामना की। १५ प्राण थे दो हाथों की १० अङ्गुलियां। दो भुजाओं के ऊपर के और निचले भाग (४)। नाभि के ऊपर जो है [छाती ?] वह १५वां। उनके ही सहयोग द्वारा प्रजापति ने स्तवन अर्थात् मानसिक शब्दमयी कामना की। तब क्षत्र अर्थात् राज्य या राष्ट्र पैदा हुआ। इन्द्र इस का अधिपति हुआ।

[राष्ट्र के अधिपति को इन्द्र कहा है। इन्द्र का अर्थ है सम्राट्। यथा—"इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा" (यजु० ८।३७)। पञ्चदश का क्षत्र और इन्द्र के साथ सम्बन्ध अनुसन्धान की अपेक्षा करता है। क्षत्र=राज्य, राष्ट्र, Dominion (आप्टे)। पञ्चदश का क्षत्र के साथ सम्बन्ध निम्न प्रकार से जाना जा सकता है।[1]

---

[1] यद्रसंयोगाद् राजा स्तुतिं लभते। राजसंयोगाद् युद्धोपकरणानि तेषां रथः प्रथमागामी भवति। (निरु० ९।२।११), इस प्रसंग से निरुक्त में युद्धोपकरणों का कथन किया है, जोकि लगभग संख्या में १५ हैं, और क्षत्र तथा इन्द्र के साथ सम्बन्ध रखते हैं। इन का वर्णन निरुक्त (९।५।११ से ९।३।२४) तक में हुआ है। यथा—"१. रथ, २. दुन्दुभिः (नगारा), ३. इषुधिः (बाणों

११ से २० तक की कण्डिकाओं में निम्नलिखित प्राणियों और अप्राणियों का, तथा उनके अधिपतियों का वर्णन हुआ है। यथा,—

ग्राम्याः पशवो ऽसृज्यन्त, बृहस्पतिरधिपतिरासीत् ॥११॥
(यजु० १४।२९)

ग्राम के पशु सृजे गए, बृहस्पति उन का अधिपति था।

[बृहस्पति, मेघस्थविद्युत्, प्रतीत होती है, जैसे कि निरुक्तोक्त निम्न मन्त्र द्वारा प्रतीत होता है,—

अश्नापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम्।
निष्टज्जभार चमसं न वृक्षाद् बृहस्पतिर्विरवेणा विकृत्य॥
ऋ० १०।६८।८॥

व्यापक अर्थात् फैले हुए मेघ द्वारा बन्धे मधुर जल को, बृहस्पति ने देखा कि वह जल, अल्प-उदक में बसी हुई मत्स्य के सदृश की अवस्था में है। जैसे कि वृक्ष को काट कर उस से चमस अर्थात् खाने-पीने के बर्तन बनाए जाते हैं, वैसे बृहस्पति ने विशेष गर्जन द्वारा मेघ को काट कर उस में से उस मधुर जल को निकाला। चमसम्=चमु (अदने, भक्षणे)। ग्राम्य पशुओं का अधिपति बृहस्पति है,—यह उचित हो प्रतीत होता है। मेघस्थ मधुर उदक को विद्युत् बरसाती हैं, जिस से ग्राम्य पशुओं के लिये पेयजल प्राप्त होता है और उनके

के संग्रह का कोष जो कि योद्धाओं की पीठ पर बन्धा होता है), ४. हस्तघ्नः (बाहु तक का दस्ताना), ५. अभीशवः (लगामें), ६. धनुष्, ७. ज्या (धनुष् की डोरी), ८. इषुः (बाण), ९. अश्वाजनी (चाबुक), १०. वृषभः (कृत्रिम मेघ, और इस द्वारा शत्रुदल पर वर्षा करना), ११. द्रुघणः (काष्ठ निर्मित गदा), १२. पितुः (सेना के लिये अन्न सामग्री), १३. उलूखल (ओखली) अन्न अर्थात् तण्डुलतय्यार करने के लिये, तथा अर्थापन्न मुसल), १४. आर्त्नी (६।७५।३६) तथा १५. अप्वा (शत्रु पर फेंका जानेवाला तामसास्त्र, (ऋ० १०।१०।१२; तथा निरु० ९।३।३१)। ये १५ युद्धोपकरण हैं जो कि क्षत्र और इन्द्र के लिये उपयोगी हैं। यद्यपि ये साधारण से युद्धोपकरण हैं। परन्तु वैदिक सभ्यता उग्र युद्धोपकरणों के प्रयोग के पक्ष में नहीं।

भक्ष्य घास की उत्पत्ति होती है। बृहस्पतिः=बृहतः [पृथिवीलोकस्य] पाता वा पालयिता वा (निरु० १०।१।११) मेघीय विद्युत् वर्षा द्वारा पृथिवी लोक की रक्षा तथा पालना करती है]।

शूद्रार्यावत्रासृज्येताम्, अहोरात्रे ऽअत्राधिपत्नी ऽआस्ताम्।।१२।।
(यजु० १४।३०)

शूद्र और आर्य सृजे गए, दिन और रात्री उनके अधिपति थे या हुए।

[जिसको पढ़ने-पढ़ाने से कुच्छ भी न आवे वह निर्बुद्धि और मूर्ख होने से शूद्र कहलाता है (सत्यार्थप्रकाश समुल्लास ३; पृ० १२६, रामलाल कपूर ट्रस्ट)। इससे प्रतीत होता है कि अविद्यान्धकारग्रस्त होने से शूद्र की अधिपत्नी है रात्री, जो कि अन्धकारमयी है, और आर्य यतः विद्या के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं अतः उन का अधिपति है, अहः अर्थात् दिन, जो कि प्रकाशमय है]।

एकशफाः पशवो ऽत्रासृज्यन्त, वरुणो ऽधिपतिरासीत् ।।१३।।
(यजु० १४।३०)

एक खुर वाले अर्थात् अनफटे खुर वाले अश्व पशु सृजे गये, वरुण उनका अधिपति था या हुआ।

[श० ८।४।३।१० की टिप्पणी में निरुक्त का वचन दर्शाया है कि "**यज्ञसंयोगाद् राजा स्तुतिं लभते । राजसंयोगाद् युद्धोपकरणानि । तेषां रथः प्रथमागामी भवति** । परन्तु रथ विना अश्व के युद्धोपयोगी नहीं होता। और अश्व है एकशफ पशु। युद्ध का अधिष्ठाता होता है वरुण अर्थात् राजा या सम्राट्। राजस्वीकृति के विना युद्ध घोषणा नहीं हो सकती। वरुण है राजा; यथा,—

नि षषाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा ।
साम्राज्याय सुक्रतुः ।। (यजु० २०।२)

अर्थात्—प्रजापालन व्रतधारी, प्रजाओं द्वारा वरण किया हुआ, उत्तम कर्मों और प्रज्ञावाला सम्राट्, साम्राज्य के लिये प्रजाजनों के मध्य राजसिंहासन पर बैठा है। अतः एकशफ पशुओं के अधिपति को वरुण कहा है]।

क्षुद्राः पशवो ऽत्रासृज्यन्त, पूषात्राधिपतिरासीत् ॥१४॥
(यजु० १४।३०)

क्षुद्र पशु इस भूमि में सृजे गए, पूषा इस भूमि में उनका अधिपति था, या हुआ।

[वैदिक दृष्टि में शरीर-सौष्ठव तथा युद्धोपकरण होने से राष्ट्र-रक्षा के कारण अश्व को श्रेष्ठ पशु माना हैं। तदतिरिक्त पशु क्षुद्रपशु हैं, यथा गौ, अज तथा अवि। इनके अधिपति अर्थात् रक्षक राज्या-धिकारी को पूषा कहा है, जिसका कर्तव्य है क्षुद्रपशुओं की पुष्टि करना। पूषा=पुष्टि करने वाला। ब्राह्मणग्रन्थों में कहा है कि "अदन्तकः पूषा", अर्थात् पूषा के दान्त न होने चाहियें, अभिप्राय यह कि राज्याधिकारी-पूषा राष्ट्रसम्पत्ति का भक्षक न होना चाहिये अर्थात् जो खाद्य, पशुओं के पोषण के लिये है उसे चोरी द्वारा, पूषाधिकारी, निज खाद्य न वनाता रहे, उसे बेचकर निज खाद्य न वनाता रहे]।

आरण्याः पशवो ऽत्रासृज्यन्त, वायुरत्राधिपतिरासीत् ॥१५॥
(यजु० १४।३०)

जङ्गली-पशु इस भूमि में सृजे गए, वायु इस भूमि में उनका अधिपति था, या हुआ।

[अभिप्राय यह कि जङ्गली-पशुओं को जङ्गल की खुली वायु में स्वच्छन्द विचरने देना चाहिये। शिकारियों को उनकी हत्या न करने देनी चाहिये। जङ्गली-विभाग के अधिकारी को वायु कहा है। इसे wild life officer या forest officer भी कह सकते हैं, अर्थात् जङ्गलात-आफिसर]।

द्यावापृथिवी ऽअत्र व्यैताम् वसवो रुद्रा ऽआदित्या ऽअत्रानु व्यायन्,त ऽउ ऽएवात्राधिपतय ऽआसन्॥१६॥(यजु०१४।३०)

द्युलोक और पृथिवीलोक, इस ब्रह्माण्ड में, अलग-अलग हुए, तदनन्तर वसु, रुद्र और आदित्य, इस ब्रह्माण्ड में, अलग-अलग हुए, वे ही इस क्रिया में अधिपति थे, या हुए।

[व्यैताम्=वि+ऐताम्। पृथक्-पृथक् या अलग-अलग होने का अभिप्राय यह है कि ये द्युलोक और पृथिवीलोक प्रारम्भ में एक-पिण्ड रूप थे। इस पिण्ड का फटाव हुआ। ये अलग-अलग हुए। इन में

पारस्परिक अन्तर बढ़ता गया। तथा द्यौः के और भी फटाव हुए इससे वसु, रुद्र और नाना आदित्य पैदा हुए। इस उत्पत्ति में इन में निष्ठ आकर्षण और विकर्षण[1] शक्तियां काम में आईं, परमेश्वर का कर्तृत्व इन के निर्माण, धारण तथा प्रलय के कारण है]।

वनस्पतयो ऽसृज्यन्त सोमो ऽधिपतिरासीत् ॥१७॥
(यजु० १४।३१)

वनस्पतियां, इस भूमि में सृजी गईं, सोम इन में अधिपति था, या हुआ।

[सोम का अर्थ सोम-ओषधि भी है, यथा—"सोमो वीरुधामधिपतिः" (अथर्व० ५।२४।७)। सोम-ओषधि बल-वर्धक होने से सर्वश्रेष्ठ है। इसलिये विरोहण करने वाली ओषधियों और वनस्पतियों का अधिपति सोम कहा है। सोम का अर्थ जल भी है जो कि सुतरां ओषधियों और वनस्पतियों का अधिपति है] सोम=water (आप्टे)।

प्रजा ऽअत्रासृज्यन्त, यवाश्चायवाश्चाधिपतय ऽआसन्, पूर्वपक्षापरपक्षा ऽएवात्राधिपतय ऽआसन्॥१८॥ (यजु० १४।३१)

प्रजाएँ इस भूमि में सृजी गईं, यव और अयव अधिपति थे, अर्थात् पूर्वपक्ष और अपरपक्ष ही इनके अधिपति थे, या हुए।

[प्रजाः का अभिप्राय है मानुष सृष्टि। पशु सृष्टि का वर्णन कं० ११, १३-१५ में हो चुका है। यव और अयव का अर्थ चन्द्रमा के पूर्वपक्ष और अपरपक्ष, अर्थात् शुक्लपक्ष तथा कृष्णपक्ष। यव शब्द 'यु' धातु से निर्मित है जिस का अर्थ है मिश्रण अर्थात् मेल। अतः अयव=मेल का न होना पूर्वपक्ष अर्थात् शुक्लपक्ष में सूर्य की रश्मियों का मिश्रण अर्थात् मेल चन्द्रपिण्ड के साथ होता है, और अपरपक्ष अर्थात् कृष्णपक्ष में सूर्य की रश्मियों का अमिश्रण अर्थात् मेल का अभाव चन्द्रपिण्ड के साथ होना प्रारम्भ हो जाता है, और अमावस्या में उसका पूर्णतया क्षय हो जाता है। मानुष प्रजाओं के अधिपति हैं, पूर्वपक्ष और अपरपक्ष। इन पक्षों में वैदिकी मानुष प्रजाएँ पूर्णमासेष्टियां तथा दर्शेष्टियां करती हैं, तथा इष्टकाओं में अन्य नियत

---

१. Pulling asunder या प्रसरण।

वैदिक कृत्य करती हैं । इसलिये चन्द्रमा के दो पक्षों को मानुष प्रजाओं के अधिपति कहा[1] हैं] ।

सर्वाणि भूतान्यत्राशाम्यन्[2], प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपति-रासीत् ॥१९॥ (यजु० १४।३१)

सब भूत, अब शान्त[2] हो गए, परमस्थान में स्थित प्रजापति, इस अवस्था में, अधिपति था, या हुआ ।

[कण्डिका १ से १८ तक विविध भूत-भौतिक सृष्टि का वर्णन हुआ है । कण्डिका १९ में भूत-भौतिक सृष्टि के प्रलय का वर्णन हुआ है । जो प्रजापति सर्जन का अधिपति है वही प्रलय का भी अधिपति है । यही परमेष्ठी है] ।

ता वा ऽएताः सप्तदशेष्टका ऽउप दधाति ॥२०॥

पूर्वोक्त १७ प्रकार की सृष्टि के प्रतिनिधिरूप में, १७ ईंटों को, चतुर्थी चिति में स्थापित करता है ।

ताः सृष्ट्वा ऽऽत्मन् प्रापादयत ॥२०॥

उन सृष्टि तत्त्वों का सर्जन कर, उन्हें प्रजापति ने, निज में प्रपन्न अर्थात् प्राप्त कर लिया, निजाधिष्ठित प्रकृति में लीन कर लिया ।

[शतपथ ब्राह्मण में "आत्मन्" शब्द "विशुद्धआत्म" परक नहीं,

---

१. चन्द्रमा का यव अर्थात् शुक्लपक्ष, और अयव अर्थात् कृष्णपक्ष, मानुष प्रजा के अधिपति कहे हैं । इस द्वारा मनुष्य को सचेत किया है कि तुम शुक्ल-पक्ष की तरह शनैः-शनैः वृद्धि पाते तो हो, परन्तु इस वृद्धि में मस्त होकर निज जीवन के उद्देश्य को भूल न जाना । वृद्धि के साथ-साथ यह भी याद रखो कि कृष्णपक्ष के सदृश ह्रास भी अवश्यंभावी है, और ह्रास होते-होते अमावस्या के सदृश तुम्हें जीवन की काली रात्रि का दृश्य भी देखना पड़ेगा ।

२. अथवा "शान्तिसम्पन्न हो गए, सुखसम्पन्न हो गए । अभिप्राय यह कि प्रजापति ने सब भूतों को पापी-मृत्यु से मुक्त कर पैदा किया, अतः सब भूत सुख शान्ति से सम्पन्न हो गए, क्योंकि वे मृत्यु के भय से मुक्त हो गए । (श० ८।४।३।११)

अपितु शरीर परक प्रयुक्त हुआ है। प्रकृति मानो ब्रह्म या परमेष्ठी का आत्मा है, शरीर है]।

कां० ८। अध्याय ४। ब्राह्मण ४

अथो ऽएवं देवा ऽउपादधतेतरथा ऽसुरास्ततो देवा ऽअभवन्, परासुरा भवन् ॥३॥

देवों ने इन १७ इष्टकाओं को इस प्रकार स्थापित किया, और असुरों ने इस से भिन्न प्रकार से। इस कारण देव विजयी हुए, और असुरों का पराभव हुआ, हार हुई।

[इस वर्णन से ज्ञात होता है कि असुर भी यज्ञों को करते थे, परन्तु असुरों को यज्ञ प्रक्रिया देवों की यज्ञ प्रक्रिया से भिन्न प्रकार की थी। असुर और देव थे भाई-भाई। क्योंकि इन दोनों को एक प्रजापति की सन्तानें कहा है। इसलिये विचार-भेद और कर्म-भेद के कारण देवों और असुरों में भेद है, न कि जन्म-जाति-कृत्]।

सैषा ब्रह्मचितिः[1]। सा प्रजापतिचितिः[2]। सा सप्तर्षिचितिः[3]। सा वायुचितिः[4]। सा स्तोमचितिः[5]। सा प्राणचितिः[6] ॥१२॥

ब्रह्म आदि नाम सम्बन्धी इष्टकाओं के चयन, चतुर्थी चिति में, ब्रह्मचिति आदि नामों द्वारा होते हैं,—इसे कण्डिका १२ में दर्शाया[7] है।

अथ लोकम्पृणे ऽउप दधाति, अस्यां स्रक्ताचम्। तयोरुपरि पुरीषं निवपति ॥१२॥

अब दो लोकम्पृणा [खाली स्थान को भरने वाली] इष्टकाओं को कोने में स्थापित करता है, और उन पर मिट्टी डालता है।

चौथी चिति का वर्णन संक्षेप में:—

अथ चतुर्थी। अष्टादश प्रथमा ऽअथ दशाऽथ द्वे, अथ सप्तदश ताः सप्त चत्वारिꣳशच्चतुर्थी चितिः ॥(श० १०।४।३।१७)॥

---

१. देखो (१ से ६) (८।४।१।३)। २. (८।४।१।४)। ३. (८।४।१।५)। ४. (८।४।१।८)। ५. (८।४।१।३-६)। ६. (८।४।१।५)।

७. चतुर्थी चिति के चयन में, ब्रह्म आदि नामों वाली इष्टकाएं चिनी गई हैं, अतः चतुर्थी चिति में इन नामों का प्रयोग हुआ है।

[चौथी चिति में १८ स्तोमेष्टकाएँ; १० स्पृत् इष्टकाएँ; तथा २ ऋतव्या इष्टकाएँ; १७ सृष्टिनामक इष्टकाएँ=४७ इष्टकाएँ]।

चतुर्थ चिति का आंशिक चित्र

THE CINTRAL PART OF THE SECOND LAYER.
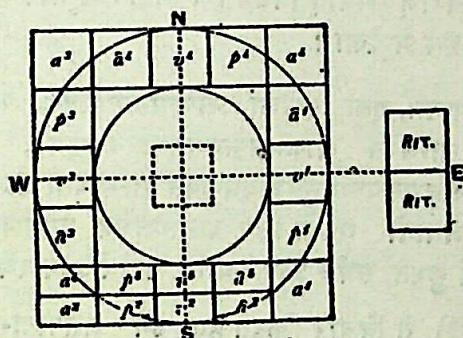
RIT=ऋतव्या इष्टकाएँ दो, दो वर्गों में। चतुर्दिक् के १७ वर्गों तथा वर्गार्धों में स्थापित की जाने वाली सृष्टिनामक इष्टकाएँ १७,।

चतुर्थी चिति सम्पूर्णा:

कां० ८ । अध्याय ५ । ब्राह्मण १

पञ्चमी चिति

[देवाः] दिवमेव विराजं पञ्चमीं चितिमपश्यन् ॥२॥

देवों ने विराज् अर्थात् विशेषतया दीप्त द्युलोक को ही पांचवीं चिति (तह) रूप में देखा।

ते चेतयमानाः, एता ऽइष्टका ऽअपश्यन्नसपत्नाः, ता ऽउपादधत। ताभिरेतं लोकमसपत्नमनुपबाधमकुर्वन, तद्यदेताभिरेतं लोकमसपत्नमनुपबाधमकुर्वत तस्मादेता ऽअसपत्नाः। तथैवैतद्यजमानो यदेता ऽउप दधात्येतमेव तल्लोकमसपत्नमनुपबाधं कुरुते, सर्वत ऽउप दधाति, परार्ध ऽउप दधाति॥४॥

उन (देवों) ने विचार करते हुए इन असपत्ना-इष्टकाओं को देखा, उन्हें स्थापित किया। उन द्वारा इस (विराज्) लोक को शत्रु-रहित तथा वाधारहित किया। यतः इन इष्टकाओं द्वारा इस (विराज्) लोक को असपत्न अर्थात् शत्रुरहित और वाधारहित किया इसलिये ये असपत्ना हुईं। उसी प्रकार यजमान जो इन इष्टकाओं को स्थापित करता है वह इस ही लोक को सपत्न (शत्रु) से रहित तथा वाधा से रहित करता है। असपत्ना-इष्टकाओं को चारों ओर स्थापित करता है, परे अर्थात् दूसरी ओर स्थापित करता है। [यतः विराज्-दिव्, अन्तरिक्ष तथा आदित्य से भी परे हैं, अतः इष्टकाओं को परे स्थापित करता है]।

[असपत्ना-इष्टकाएँ ५ होती हैं। एक को सामने [पूर्व में] स्थापित करता है (कण्डिका ८), फिर दूसरी को पीछे [पश्चिम में] (९)। फिर तीसरी को दक्षिण में (१०), चौथी को उत्तर में (११), और पांचवीं को मध्य में स्थापित करता है (१२)। इनके स्थापन के मन्त्र हैं (यजु० १५।१,२,३)]।

अथ विराज ऽउपदधाति। देवा विराजं पञ्चमीं चितिमपश्यन्, ता दश-दशोप दधाति, सर्वत उपदधाति ॥५॥

अब विराज् या विराट् नाम वाली इष्टकाओं को स्थापित करता है। देवों ने विराज् या विराट् नाम वाली पांचवो चिति को देखा। उन विराज् या विराट् नाम वाली इष्टकाओं को दस-दस करके स्थापित करता है। चारों ओर स्थापित करता है।

[विराज्-चिति है द्युलोक, जोकि विशेषरूप में दीप्यमान है, या विविध सितारों (stars) द्वारा दीप्यमान हैं। ये इष्टकाएँ १०×४=४० होती हैं। चारों ओर दस-दस करके स्थापित की जाती हैं। विराजः-इष्टकाओं को छन्दस्या-इष्टकाएँ भी कहते हैं, (श० ८।५।२।१-१७)। इन इष्टकाओं को "विराजः" इसलिये कहा है कि ये द्युलोक में दीप्यमान सितारों की प्रतिनिधि हैं; विराज्=वि+राजृ (दीप्तौ)। दस-दस इष्टकाएँ इसलिये चूँकि विराज्-छन्द के अक्षर १० होते हैं। प्रत्येक दिशा में दस इष्टकाएँ स्थापित करता है। अतः चार दिशाओं की विराज्-इष्टकाएँ ४० होती हैं]।

कां० ८। अध्याय ५। ब्राह्मण २

अथ छन्दस्या ऽउप दधाति ॥१॥

अब छन्दस्या[1] इष्टकाओं को स्थापित करता है।

["विराजः" की व्याख्या "छन्दस्याः" पद द्वारा की है]।

ता दश-दशोपदधाति, सर्वत ऽउप दधाति ॥२॥

उन छन्दस्या-इष्टकाओं को दस-दस करके चारों ओर, चौथी चिति पर पांचवीं चिति के रूप में स्थापित करता है अर्थात् प्रत्येक ओर दस-दस। [इन छन्दस्याः-इष्टकाओं को विराजः-इष्टकाएँ भी कहते हैं]। "एवश्छन्दः" इत्यादि मन्त्र (यजु० १५।४) में १८ खण्ड हैं। तथा "आछन्दः" इत्यादि मन्त्र (यजु० १५।५) में २२ खण्ड

---

१. यजु० १५.४,५ में छन्दः पद पठित हैं। इन दो मन्त्रों के ४० खण्ड हैं। प्रत्येक खण्ड में 'छन्दः' पद पठित है। यतः इन दो मन्त्रों में 'छन्दः' पद हैं, और इन मन्त्रखण्डों का उच्चारण करके इन ४० इष्टकाओं को स्थापित करता है, अतः इनका नाम छन्दस्याः हुआ। ये इष्टकाएं ४० होती हैं, क्योंकि मन्त्रखण्ड ४० हैं। इन इष्टकाओं को विराजः भी कहते हैं।

हैं। १८+२२=४० कुल मन्त्र खण्ड हुए। अतः छन्दः नाम वाली छन्दस्या इष्टकाएँ ४० हैं।

तद् याः पुरस्तादुप दधाति, प्राणस्तासां प्रथमा, व्यानो द्वितीया, उदानस्तृतीया। उदानश्चतुर्थी, व्यानः पञ्चमी, प्राणः षष्ठी। प्राणः सप्तमी, व्यानोऽष्टमी, उदानो नवमी; यजमान एवात्र दशमी। स एष यजमान ऽएतस्यां विराज्यधिरूढः प्रतिष्ठितः प्राणमय्यामर्वाचीश्च पराचीश्चोप दधाति, तस्मादिमे प्राणा ऽअर्वाश्चश्च पराञ्चश्च ॥७॥

जिन [१०] छन्दस्या-इष्टकाओं को आगे की ओर अर्थात् पूर्व में रखता हैं उनमें से पहली, छठी और सातवीं इष्टकाएँ प्राण की प्रतिनिधि हैं। द्वितीया, पञ्चमी और अष्टमी इष्टकाएँ व्यान की प्रतिनिधि हैं। तीसरी, चतुर्थी और नवमी इष्टकाएँ उदान की प्रतिनिधि है। यजमान यहां दशमी इष्टका का प्रतिनिधि है। वह यह यजमान प्राणमयी विराज्-इष्टका में आरूढ़ तथा प्रतिष्ठित हुआ, पिछली ओर तथा आगे की ओर इष्टकाओं को स्थापित करता है, इसलिये ये प्राण पीछे और आगे की ओर गति करते हैं।

[प्राण=नासिका द्वारा बहिर्गत तथा अन्तर्गत वायु। व्यान=समग्र शरीर संचारी वायु। उदान=कण्ठस्थ, देहोन्नयनादि कर्मा वायु]।

अब जिन्हें दाहिनी ओर अर्थात् दक्षिण में रखता है उन [१०] इष्टकाओं में पहली अग्नि की प्रतिनिधि है, दूसरी वायु की, तीसरी आदित्य की। चतुर्थी आदित्य की, पञ्चमी वायु की, षष्ठी अग्नि की। सप्तमी अग्नि की, अष्टमी वायु की, नवमी आदित्य की। यहां दशमी यजमान की। वह यह यजमान इस देवतामयी विराज्-इष्टका पर आरूढ और प्रतिष्ठित हुआ, इष्टकाओं को पिछली ओर तथा आगे की ओर स्थापित करता है, क्योंकि देवता भी पीछे और आगे की ओर चलते हैं ॥८॥

[संक्षेप के कारण कण्डिका (८) का संस्कृत भाग नहीं दिया। अग्नि, वायु और आदित्य देव हैं। अग्नि की ज्वाला आगे और पीच्छे की ओर गति करती रहती है। वायु की वक्र गति तो प्रसिद्ध ही है।

आदित्य में आग्नेय सौर-ऊर्मियां कभी उठतीं और कभी नीचे होती रहती हैं]।

अब जिन छन्दस्या-इष्टकाओं को पीछे अर्थात् पश्चिम की ओर स्थापित करता है, उनमें प्रथमा इष्टका इस पृथिवी लोक की प्रतिनिधि हैं, द्वितीया इष्टका अन्तरिक्ष की, तृतीया द्यौः की। चतुर्थी द्यौः की, पञ्चमी अन्तरिक्ष की,षष्ठी इस पृथिवी लोक की। सप्तमी इस पृथिवी लोक की, अष्टमी अन्तरिक्ष की, नवमी द्यौः की। तथा दशमी यजमान की प्रतिनिधि है। यह यजमान लोकमयी इस विराज्-इष्टका पर आरूढ़ तथा प्रतिष्ठित हुआ, इष्टकाओं को पीछे और आगे की ओर स्थापित करता है। इसलिये लोक पीछे और आगे की ओर गति करते हैं॥६॥

[ये तीन लोक अर्थात् पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्यौः गतिमान हैं। गति करते हुए इनमें से प्रत्येक ऊपर-नीचे की ओर गति करता है, ऐसी भावना इस कण्डिका में है। जैसे पृथिवी अपने ग्रहपथ में कभी तो सूर्य से ऊपर की ओर होती, और तत्पश्चात् सूर्य के नीचे की ओर होती रहती है। पृथिवी निज वार्षिक गति में ऊपर और नीचे की ओर होती रहती है। इस ऊपर और नीचे की गति को आगे और पीच्छे की ओर की गति भी कह सकते हैं। तथा यह भी जानना चाहिये कि ग्रह निज ग्रहपथ पर घूमते हुए आगे की ओर बढ़कर फिर पीछे की ओर लौट पड़ते हैं, और तत्पश्चात् पुनः आगे की ओर बढ़ते हैं। चान्द और पृथिवी की गति इस प्रकार आगे-पीछे की ओर होती रहती है,—यह ज्योतिष का सिद्धान्त है। सम्भवतः अन्य तारा आदि की गतिया भा इसी प्रकार आगे-पीछे की ओर होती रहती हों। अन्तरिक्ष से अभिप्राय वायु का है, जोकि वक्रगतिक है]।

अब जिन छन्दस्या-इष्टकाओं को उत्तर में स्थापित करता है, उन में प्रथमा ग्रीष्म की, द्वितीया वर्षा की, तृतीया हेमन्त की। चतुर्थी हेमन्त की, पञ्चमी वर्षा की, षष्ठी ग्रीष्म को। सप्तमी ग्रीष्म की, अष्टमी वर्षा की, नवमी हेमन्त की प्रतिनिधि है। दशमी यजमान की प्रतिनिधि है। यह यजमान ही ऋतुमयी इस विराज्-इष्टका पर आरूढ़ और प्रतिष्ठित हुआ, पीछे की ओर, और आगे की ओर इष्ट

काओं को स्थापित करता है। इसलिये ऋतुएँ पीछे और आगे की ओर गति करती हैं ।।१०।।

[ब्राह्मण-साहित्य में आरोह तथा प्रत्यवरोह[1] का वर्णन हुआ हैं। आरोह का अर्थ है चढ़ना, और प्रत्यवरोह का अर्थ है पीच्छे की ओर उतरना। यहां ऋतुक्रम में आरोह तथा प्रत्यवरोह दर्शाया है। ग्रीष्म, वर्षा, हेमन्त, आरोह है । हेमन्त वर्षा ग्रीष्म प्रत्यवरोह है।
→ → → → → →
पुनः ग्रीष्म, वर्षा और हेमन्त में आरोह दर्शाया हैं। इस आरोह तथा
→ → →
प्रत्यवरोह को तीर-चिह्नों द्वारा दर्शा दिया है। इस प्रकार का आरोह तथा प्रत्यवरोह (कण्डिका ७, ८ तथा ९ में) भी जानना चाहिये। इस आरोह तथा प्रत्यवरोह के अनुसार छन्दस्या-इष्टकाओं को भी पीछे और आगे की ओर स्थापित किया जाता है। हेमन्त में ही शिशिर तथा वसन्त का अन्तर्भाव मान लिया है] ।

ता वा ऽएताः । चत्वारिँशदिष्टकाश्चत्वारिँशद् यजूँषि ।।१७।।

ये ४० इष्टकाएँ हैं, और ४० ही याजुषमन्त्रों के खण्ड हैं। अतः ४० मन्त्रखण्डों की प्रतिनिधि ४० इष्टकाएँ हैं। याजुषमन्त्र (१५। ४,५) हैं, इनके खण्ड हैं ४०; मन्त्र के चार खण्ड हैं १८; और मन्त्र ५ के खण्ड हैं २२।

कां० ८। अध्याय ५। ब्राह्मण ३

अग्निचयन के प्रकरण को रुचिकर न जान कर, इस के अवशिष्ट भाग का निर्देश अतिसंक्षेप रूप में किया जायगा। यथा:—

स्तोमभागा-इष्टकाएँ (कण्डिका १-७)

स्तोमभागा-इष्टकाएँ २९ होती हैं। पूर्ववर्णित छन्दस्या-इष्टकाओं को अन्न कहा है, ये स्तोमभागा-इष्टकाएँ अन्न रस हैं। स्तोम से अभि-

---

१. "एषां लोकानां रोहेण सवनानां रोह आम्नातो, रोहात् प्रत्यवरोहश्चिकीर्षित," (निरु० ७।९।२३) ।

प्राय है "स्तुत्य आदित्य" (कण्डिका २)। इस स्तुत्य आदित्य को इन्द्र भी कहा है (कण्डिका २)। स्तुत्य-आदित्य की स्तुति "रश्मिना सत्याय सत्यं जिन्व" इत्यादि (यजु० १५।६-९) के ४ मन्त्रों द्वारा की गई है। इन चार मन्त्रों के २९ खण्ड हैं। इन २९ खण्डों द्वारा २९ स्तोमभागाः इष्टकाओं को स्थापित किया जाता है। इसमें से पहिली २१ इष्टकाओं को तीन लोकों[1] तथा पांच दिशाओं[1] का प्रतिनिधि माना है (कण्डिका ५,६), तथा शेष ८ इष्टकाओं को, प्रतिपाद ८ अक्षरों वाली गायत्री का प्रतिनिधि माना है। गायत्री को ब्रह्म कहा है, सम्भवतः इसलिये कि गायत्री मन्त्र में मुख्यरूप से ब्रह्म का वर्णन हुआ है (कण्डिका ७)।

कां० ८। अध्याय ५। ब्राह्मण ४

अथैनाः पुरीषेण। प्रच्छादयति। (श० ८।५।४।४-१२)

अब इन स्तोमभागा-इष्टकाओं को मिट्टी द्वारा ढकता है।

(कण्डिका ४)

यद्वेव पुरीषेण। हृदयं वै स्तोमभागाः, पुरीतत् पुरीषँ हृदयं तत् पुरीतता प्रच्छादयति (६)।

स्तोमभागा-इष्टकाओं को मिट्टी द्वारा इसलिये ढकता है कि स्तोमभागा है हृदय,[2] और पुरीष अर्थात् मिट्टी है पुरीतत् (Daicardium), मानो हृदय को पुरीतत् द्वारा ढकता है।

अथ पुरीषं निवपति। तत्र विकर्णी च स्वयमातृण्णां चोप-

---

१. पहली ३ इष्टकाएं हैं यह लोक। दूसरी ३ हैं अन्तरिक्ष। तीसरी ३ हैं द्युलोक। चौथी ३ हैं प्राचीदिक्। पांचवी ३ हैं दक्षिणादिक्। छठी ३ हैं प्रतीचीदिक्। सातवी ३ हैं उदीचीदिक् (८।५।३।१।५) = ७ × ३ = २१ इष्टकाएं। शेष ८ इष्टकाएं हैं गायत्रीरूप। क्योंकि गायत्री के पाद में ८ अक्षर होते है (८।५।३।१।७)।

२. स्तोमभागा हैं अन्न रस = रक्त, जो कि हृदय में स्थित होता है। अतः पुरीष है हृदयाच्छादक झिल्ली।

दधाति, हिरण्यशकलैः प्रोक्षति, अग्निमभ्यादधाति ॥
कण्डिका ६॥

पुरीष अर्थात् मिट्टी डालता है। उन पर विकर्णी-इष्टका को, तथा स्वयमातृण्णा-इष्टका को स्थापित करता है। सुवर्ण शकल उन पर डालता है, अग्न्याधान करता है।

ताऽउ पञ्चैव ॥११॥

वस्तुतः चितियां पांच ही हैं। गौणरूप से पञ्चचिति को षड्-चिति, सप्त-चिति (कण्डिका ८, ९) तथा त्रि-चिति भी कहते हैं।
(कण्डिका १२)

अवशिष्ट व्याख्याः—

एतद्वै देवा विराजं चित्वा······नाकमेव स्वर्गं लोकमपश्यन्, तमुपादधत। स यः स नाकः स्वर्गो लोक ऽएतास्ता स्तोम-भागाः, तद्यदेता ऽउप दधाति नाकमेवैतत्स्वर्गं लोकमुपधत्ते ॥
(श० ८।५।३।४)

देवों ने विराज् का चयन करके, नाक को ही स्वर्ग लोक देखा या जाना, उसे अग्निचयन में स्थापित किया। ये स्तोमभागा-इष्टकाएँ वह नाक अर्थात् स्वर्गलोक है, अतः इन स्तोमभागाः को जो स्थापित करता है वह मानो नाक अर्थात् स्वर्गलोक को ही स्थापित करता है।

[विराज् है विशेषरूप से या विविधरूप में प्रदीप्त द्युलोक। नाक या स्वर्ग द्युलोक से ऊपर है, जोकि स्तोमभाग रूप हैं, द्युलोक का अन्नरस रूप है]।

कां० ८। अध्याय ६। ब्राह्मण १

नाकसदः इष्टकाएँ:—

नाकसद ऽउप दधाति। देवा वै नाकसदः। तद्यदेतस्मिन् नाके स्वर्गे लोके देवा ऽअसीदन् तस्मात् देवा नाकसदः। तथैवैतद् यजमानो यदेता ऽउप दधाति, एतस्मिन्नेवैतन्नाके स्वर्गे लोके सीदति ॥१॥

नाकसद्-इष्टकाओं को स्थापित करता है। नाकसदः अर्थात् नाक में रहने वाले हैं, – देव। यतः इस नाक अर्थात् स्वर्गलोक में देव स्थित हुए, इससे देव हैं नाकसदः। उसी प्रकार यजमान जो इन इष्टकाओं को स्थापित करता है, इस ही नाक अर्थात् स्वर्गलोक में स्थित होता है।

[नाके= क=सुख, अक=सुख का अभाव, न+अक=सुख के अभाव का अभाव। यथा—"कमिति सुखनाम, तत्प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्येत" (निरु० २।४।१४)। अर्थात् कम् का अर्थ है सुख। नाक है "कम्" के प्रतिषेध का प्रतिषेध।

कण्डिका (८।५।३।४) में नाक और स्वर्ग लोक को एक ही माना है, इनमें भेद नहीं माना। यह वैदिक मन्तव्य के विरुद्ध प्रतीत होता है। वेदों में स्वर्ग और नाक को पृथक्-पृथक् माना है। यथा—"येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा। येन स्वः स्तभितं येन नाकः" (यजु० ३२।६) में स्वः और नाकः का पृथक्-पृथक् वर्णन है]।

दिक्षूपदधाति। ऋतव्यानां वेलया। अन्तः स्तोमभागम्॥४॥

दिशाओं में नाकसद्-इष्टकाओं को स्थापित करता है। ऋतव्या-इष्टकाओं की पंक्ति में। स्तोमभागा-इष्टकाओं के भीतर। [1]नाकसद्-इष्टकाएँ ५ होती हैं।

स पुरस्तादुप दधाति "राज्ञ्यसि प्राची दिग्" इति॥५॥
(यजु० १५।१०)

वह आगे की ओर अर्थात् पूर्व में एक नाकसद्-इष्टका को "राज्ञ्यसि प्राचीदिक्" (यजु० १५।१०) मन्त्र का उच्चारण करके स्थापित करता है।

अथ दक्षिणतः "विराडसि दक्षिणा दिग्" इति॥६॥
(यजु० १५।११)

---

१. नाकसद् इष्टकाएं ५ होती हैं। इन्हें ५ मन्त्रों (यजु० १५।१०-१४) द्वारा स्थापित करता है। इन पांच मन्त्रों में "नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके" पाठ है।

अब दक्षिण की ओर एक नाकसद्-इष्टका को "विराडसि दक्षिणा-दिक्" (यजु० १५।११) मन्त्र का उच्चारण करके स्थापित करता है।

अथ पश्चात् "सम्राडसि प्रतीची दिग्" इति॥७॥ (यजु० १५।१२)

अब पश्चिम की ओर एक नाकसद्-इष्टका को "सम्राडसि प्रतीची दिक्" (यजु० १५।१२) मन्त्र का उच्चारण करके स्थापित करता है।

अथोत्तरतः "स्वराडस्युदीची दिग्" इति॥८॥ (यजु० १५।१३)

अब उत्तर की ओर एक नाकसद्-इष्टका को "स्वराडस्युदीची-दिक्" (यजु० १५।१३) मन्त्र का उच्चारण करके स्थापित करता है।

अथ मध्ये, "अधिपत्न्यसि बृहती दिग्" इति ॥९॥
(यजु० १५।१४)

अब मध्य में एक नाकसद्-इष्टका को "अधिपत्न्यसि बृहतीदिक्" (यजु० १५।१४) मन्त्र का उच्चारण करके स्थापित करता है।

अथ पञ्चचूडा ऽउप दधाति ॥११॥

अब पञ्चचूडा नाम वाली पांच इष्टकाओं को स्थापित करता है।

["पञ्च" शब्द दर्शाता है कि "चूडा" नाम वाली इष्टकाएँ पांच होती है। "चूडाकर्म" एक संस्कार है इसमें मुण्डन के समय अन्य केश काट कर "चोटी" रख दी जाती है। यह चोटी चूडा है। शतपथ में, अतिरिक्त भाग को, "चूड" कहा है। यथा—"यद्वु वा ऽअतिरिक्तं चूडः सः" (११) "चूडा" नाम वाली पांच इष्टकाएँ भी अतिरिक्त भाग हैं, मानो नाकसद्-इष्टकाओं पर चोटीरूप हैं, शिखारूप हैं]।

पञ्च चूडा-इष्टकाओं को चिनने से पूर्व नाकसद्-इष्टकाओं पर मिट्टी की तह बिछाता है। यथा—

अथैने ऽअन्तरा पुरीषं निवपति ॥२२॥

अब इन दोनों अर्थात् नाकसद् और चूडा इष्टकाओं के बीच में पुरीष अर्थात् मिट्टी को बिछाता है।

यद्वेव नाकसत्पञ्चचूडा ऽउपदधाति। दिशो वै नाकसदो दिश

ऽउ एव पञ्चचूडाः। तद्या ऽअमुष्मादादित्यादर्वाच्यः पञ्च दिशस्ता नाकसदो याः पराच्यस्ताः पञ्चचूडाः। अतिरिक्ता वै ता दिशो या ऽअमुष्मादादित्यात्पराच्यः ॥१४॥

नाकसद् और पञ्चचूडा को जो स्थापित करता है, वह इसलिये कि नाकसद् हैं दिशाएँ और पञ्चचूडा भी हैं दिशाएँ। उस आदित्य से इधर की ओर जो पांच दिशाएँ हैं वे नाकसद् हैं, और जो परे हैं वे पञ्चचूडा हैं। ये दिशाएँ जो कि उस आदित्य से परे हैं वे अति-रिक्त हैं।

स पुरस्तादुप दधाति "अयं पुरोहरिकेशः"[1] इति ॥१६॥
(यजु० १५।१५)

वह एक इष्टका की ओर अर्थात् पूर्व में स्थापित करता है "अयं पुरो हरिकेशः" (यजु० १५।१५) इस मन्त्र का उच्चारण करके।

अथ दक्षिणतः "अयं दक्षिणा विश्वकर्मा" इति ॥१७॥
(यजु० १५।१६)

अब दक्षिण की ओर एक इष्टका स्थापित करता है "अयं दक्षिणा विश्वकर्मा" (यजु० १५।१६) इस मन्त्र का उच्चारण करके।

अथ पश्चात् "अयं पश्चाद्विश्वव्यचाः" इति ॥१८॥
(यजु० १५।१७)

अब पश्चिम की ओर एक इष्टका स्थापित करता है "अयं पश्चाद् विश्वव्यचाः" (यजु० १५।१७) इस मन्त्र का उच्चारण करके।

अथोत्तरतः "अयमुत्तरात्संयद्वसुः इति ॥१९॥ (यजु० १५।१८)

अब उत्तर की ओर एक इष्टका स्थापित करता है "अयमुत्तरा-त्संयद्वसुः" (यजु० १५।१८) इस मन्त्र का उच्चारण करके।

अथ मध्ये "अयमुपर्यर्वाग्वसुः" इति ॥२०॥ (यजु० १५।१९)

---

१. यजु० १५।१५ में "अयं पुरो हरिकेशः" मन्त्र भाग में "केशः" पद पठित हैं। सम्भवतः केशः पद की दृष्टि से 'चूडा" की कल्पना की गई हो।

अब मध्य में एक इष्टका स्थापित करता है "अयमुपर्यर्वाग्वसुः" (यजु० १५।१९) इस मन्त्र का उच्चारण करके[1]।

कां० ८ अध्याय ६। ब्राह्मण ३

गार्हपत्यमुप दधाति ॥१॥ तं मध्य उपादधत ॥४॥

गार्हपत्य कुण्ड को स्थापित करता है ॥१॥ उसे [पांचवीं चिति पर] मध्यस्थल में स्थापित किया ॥४॥

अष्टाविष्टका का उपदधाति (७।१।१।३२)। तं वा ऽएतै-रेव यजुभिरेतया ऽऽवृता चिनोति ॥७॥

इस निमित्त ८ इष्टकाओं को स्थापित करता है। उस गार्हपत्य को इन ही यजुर्मन्त्रों द्वारा और इसी प्रक्रिया से [देखो ७।१।१।१-४४] चिनता है।

गार्हपत्य, पुनश्चिति

अथ पुनश्चितिमुप दधाति ॥८॥ यजमानो यत्पुनश्चितिमुप-दधात्येतस्यामेवैतद्योनौ रेतः प्रजातिं दधाति, मध्यतः; मध्यत ऽएवैतदस्यां योनौ रेतः प्रजातिं दधाति ॥१०॥

अब पुनश्चिति को स्थापित करता है (८)। यजमान जो पुन-श्चिति को स्थापित करता है वह इस ही योनि में इस रेतस् अर्थात् उत्पादक वीर्य को स्थापित करता है, गार्हपत्य के मध्य में; मध्य में ही इस योनि में इस रेतस् अर्थात् उत्पादक वीर्य को स्थापित करता है (१०)।

अष्टाविष्टका ऽउप दधाति, पञ्चकृत्वः सादयति, पंचचितिको ऽग्निः ॥१२।

---

१. पञ्चचूडा-इष्टकाओं के स्थापन के पश्चात् ३० छन्दस्या इष्टकाएं स्थापित की जाती हैं, एक-वार तीन-तीन करके दस वार। (श० ८।६।२।१-१९)। सम्भवतः गृह्यसूत्रकारों ने चूडाकर्म संस्कार में पंचचूडा अर्थात् पाँच शिखाओं के रखने का विकल्प, शतपथ ब्राह्मण के वर्णन के अनुसार स्वीकृत किया हो।

आठ इष्टकाएँ स्थापित करता है, पांच वार स्थापित करता है; क्योंकि अग्निचयन पञ्चचितिक अर्थात् पांच चितियों, चयनों वाला होता है।

[अभिप्राय यह कि पहिले भी पांच चितियां चिनी गई हैं, अब दूसरी वार फिर पांच चितियों को गार्हपत्य पर चिनता है। इसलिये इसे पुनश्चिति कहते हैं। एक चिति में ८ इष्टकाएँ चिनी जाती हैं। इसलिये "पुनः चिनी जाने वाली" पांच चितियों में ८×५=४० इष्टकाएँ होती हैं। गार्हपत्य है पृथिवीलोक[1], और आहवनीय है द्युलोक[1]। द्युलोक पृथिवीलोक के ऊपर है। इसलिये गार्हपत्य का निर्माण करके, और उस पर पुनः पांच चितियां चिन कर आहवनीय कुण्ड चिना जाता है (१३, १४)। पुनश्चिति के मन्त्र हैं (यजु० १५। ४९-५६) तक, ८ मन्त्र। प्रत्येक चिति में एक-एक मन्त्र द्वारा एक-एक इष्टका का चयन करता है[2]]।

कां० ८। अध्याय ७। ब्राह्मण १

ऋतव्या ऽउप दधाति। ऋतव ऽएते यदृतव्या ऽऋतूनेवैतदुप दधाति॥१॥

ऋतव्या दो इष्टकाओं को स्थापित करता है। ऋतव्या दो इष्ट-

---

१. यथा "अयं वै लोको गार्हपत्यः, द्यौराहवनीयः, उत्तरो वा ऽअसावस्यै, तस्मादेनामुत्तरामेवोपदध्यात् ॥१४॥ एनाम्=पुनश्चितिम्।

२. विशेषः— मन्त्र १५।४९ में "स्वः" की व्याख्या में स्वर्गो वै लोको नाकः (श० ८।६।३।१८,१९) में स्वर्ग को ही नाक कहा है। मनवः="विद्वांसः ते मनवः"। स्तीर्णबर्हिः=अग्निः (श० ८।६।३।१८) क्योंकि यज्ञ में कुशा घास विछाई जाती है।

मन्त्र १५।५१; भुरण्युः=भर्ता, अयमग्निः (श० ८।६।३।२०)।

मन्त्र १५।५२; सरिरम्=इमे वै लोकाः (श० ८।६।३।२१)।

मन्त्र १५।५३; पुनः कृण्वाना पितरा युवाना=वाक् च वै मनश्च पितरा युवाना (श० ८।६।३।२२)।

मन्त्र १५।५३; तन्तुः=यज्ञः (श० ८।६।३।२२)। "यज्ञ" अर्थ प्रकरण से ज्ञात होता है।

काएँ ऋतु हैं; अतः ऋतुओं को ही इष्टकाओं के रूप में स्थापित करता है। [ऋतु=दो मास]

यद्वेवर्त्तव्या ऽउप दधाति। क्षत्रं वा ऽऋतव्या, विश ऽइमा ऽइतरा ऽइष्टकाः, क्षत्रं तद् विश्यत्तारं दधाति, ताः सर्वासु चितिषूप दधाति, सर्वस्यां तद्विशि क्षत्रमत्तारं दधाति ॥२॥

ऋतव्या-इष्टकाओं को इसलिये स्थापित करता है कि ऋतव्या-इष्टकाएँ हैं क्षत्रिय, और अन्य इष्टकाएँ हैं विश् अर्थात् वैश्य या प्रजाएँ। अतः वैश्यों या प्रजाओं में क्षत्रिय को अत्ता अर्थात् भोक्ता रूप में स्थापित करता है। उन ऋतव्या-इष्टकाओं को सब चितियों में स्थापित करता है, अतः सभी वैश्यों या प्रजाओं में क्षत्रिय को भोक्तारूप में स्थापित करता हैं।

स ऽउप दधाति "तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू' इति नाम्नी ऽएनयोरेते नामभ्यामेवैने ऽएतदुप दधात्यसौ वा आदित्यस्तपस्तस्मादेतावृतू ऽअनन्तर्हितौ, तद्यदेतस्मादेतावृतू ऽअनन्तर्हितौ तस्मादेतौ तपश्च तपस्यश्च ॥५॥

वह ऋतव्या दो-इष्टकाओं को "तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू" (यजु० १५।५७) मन्त्र का उच्चारण करके स्थापित करता है। इन दोनों के ये दो नाम हैं, इन दो नामों द्वारा ही इन दो-इष्टकाओं को स्थापित करता है। "तपः" है वह आदित्य। उस आदित्य से ये दो ऋतु अर्थात् दो मास संश्लिष्ट हैं, मिले हुए हैं, इसलिये ये दो मास तपः और तपस्य हैं।

[तपः=माघ, तपस्य=फाल्गुन। ये दो मास शिशिर-ऋतु हैं]।

स पुरस्तात्स्वयमातृण्णायै च विश्वज्योतिषश्चर्तव्ये ऽउप दधाति। द्यौर्वा ऽउत्तमा स्वयमातृण्णा, आदित्य ऽउत्तमा विश्वज्योतिरर्वाचीनं तद् दिवश्चादित्याच्चर्तून् दधाति, तस्मादर्वाचीनमेवात ऽऋतवः ॥६॥

वह ऋतव्या दो-इष्टकाओं को स्वयमातृणा तथा विश्वज्योति इष्टकाओं के पूर्व में स्थापित करता है। उत्तमा अर्थात् अन्तिम तृतीया-स्वयमातृणा इष्टका है द्युलोक, और उत्तमा अर्थात् अन्तिम

तृतीया-विश्वज्योतिः इष्टका है आदित्य। अतः वह ऋतुओं को द्युलोक तथा आदित्य से नीचे की ओर स्थापित करता है। अतः ऋतुएँ इन दोनों की अपेक्षा नीचे ही हैं।

[ऋतुएँ पृथिवी पर होती हैं, द्युलोक और आदित्य पर नहीं होती। पृथिवी,-द्युलोक और आदित्य से नीचे की ओर है, इसलिये ऋतुएँ भी नीचे की ओर ही हैं]।

अथ विश्वज्योतिषमुप दधाति। आदित्यो वा ऽउत्तमा विश्वज्योतिः, आदित्यो ह्येवामुष्मिँल्लोके विश्वं ज्योतिः,आदित्यमेवैतदुप दधाति ॥१५॥

अब विश्वज्योति-इष्टका को स्थापित करता है। अन्तिम विश्वज्योति है आदित्य, आदित्य ही उस लोक अर्थात् द्युलोक में विश्वज्योति है, अतः विश्वज्योति-इष्टका के रूप में आदित्य को ही स्थापित करता है।

स पुरस्तात्स्वयमातृण्णायै विश्वज्योतिषमुप दधाति। द्यौर्वा ऽउत्तमा स्वयमातृण्णा, आदित्य ऽउत्तमा विश्वज्योतिः। अर्वाचीनं तद् दिव ऽआदित्यं दधाति। तस्मादेषो ऽर्वाचीनमेवातस्तपति ॥१७॥

वह स्वयमातृण्णा से पहले विश्वज्योति-इष्टका को स्थापित करता है। अन्तिम [1]स्वयमातृण्णा है द्युलोक, और अन्तिम विश्वज्योति है आदित्य। विश्वज्योति-इष्टका के रूप में आदित्य को द्युलोक से [2]इस ओर स्थापित करता है। इसलिये यह आदित्य इस द्युलोक से इस ओर ही तपता या चमकता है।

"परमेष्ठी त्वा सादयतु" इति। परमेष्ठी ह्येतां पञ्चमीं

---

१. 'स्वयमातृण्णा' का अर्थ स्वयमेव-सच्छिद्रा (naturally derforated)। द्यौः के ताराओं के मध्य-मध्य में स्थान रिक्त है,मानो सच्छिद्र है। यह सच्छिद्रपन इस द्युलोक का स्वाभाविक है।

२. इस से दर्शाया है कि आदित्य द्युलोक से नीचे है, और द्युलोक, आदित्य से ऊंचा है।

चितिमपश्यत्, दिवस्पृष्ठे ज्योतिष्मतीमिति, दिवो ह्यसौ पृष्ठे ज्योतिष्मानादित्यः ॥२१॥

हे ज्योतिष्मती-इष्टके ! तुझे परमेष्ठी स्थापित करे, (यजु० १५।१८) मन्त्र का उच्चारण करके इष्टका स्थापित करता है। परमेष्ठी ने ही इस पञ्चमी चिति को देखा, जो कि द्युलोक के पृष्ठ पर ज्योतिष्मती है। द्युलोक के पृष्ठ पर वह ज्योतिष्मान् आदित्य है।

[परमेष्ठी है परमस्थान में स्थित परमेश्वर।'परमे तिष्ठति'। परमेश्वर ही द्युलोकरूपी परमस्थान में स्थित हुआ द्युलोकरूपी पञ्चमी चिति की देख-भाल कर रहा है। आदित्य द्युलोक की पीठ पर स्थित हुआ चमक रहा है। द्युलोक का मुख मानो ऊपर की ओर है, और पीठ इधर की ओर]।

कां० ८। अध्याय ७। ब्राह्मण २

अथ लोकम्पृणामुप दधाति। असौ वा ऽआदित्यो लोकम्पृणैष हीमाँल्लोकान्पूरयत्यमुमेवैतदादित्यमुप दधाति। ताँ सर्वासु चितिषूप दधाति। इमे वै लोका ऽएताश्चितयोऽमुं तदादित्यमेषु लोकेषु दधाति, तस्मादेष सर्वेभ्य ऽएवैभ्यो लोकेभ्यस्तपति ॥१॥

अब लोकम्पृणा-इष्टका को स्थापित करता है। वह आदित्य ही लोकम्पृणा है, यह ही लोकों को [निज प्रकाश से] पूरित करता है। लोकम्पृणा के रूप में उस ही आदित्य को स्थापित करता है। उस लोकम्पृणा को सब चितियों में स्थापित करता है। ये चितियां मानो ये लोक हैं, अतः उस आदित्य को इन लोकों में स्थापित करता है। इस लिये यह इन सब लोकों के लिये तप रहा है।

[लोकम्पृणा=लोक को पालित तथा पूरित करने वाली इष्टका]

लोकम्पृणा को स्थापित इसलिये भी करता है कि लोकम्पृणा क्षत्रिय है, शेष इष्टकाएँ हैं वैश्य या प्रजाएँ। अतः क्षत्रिय को, वैश्यों या प्रजाओं में, भोक्तारूप में स्थापित करता है। लोकम्पृणा को सब चितियों में स्थापित करता है, मानो सभी वैश्यों या प्रजाओं में क्षत्रिय

को अत्ता अर्थात् भोक्तारूप में स्थापित करता है ॥३॥ "लोकं पृण छिद्रं पृण" (यजु० ।१५।५६) मन्त्र पढ़कर लोकम्पृणा-इष्टका स्थापित करता है ॥६॥

[मूल पाठ का हिन्दी अनुवाद दिया है, संक्षेप के लिये]।

स वै स्वयमातृण्णां लोकम्पृणया प्रच्छादयति, तया सर्वमात्मानं प्रच्छादयति ॥११॥

वह स्वयमातृण्णा [स्वभावतः सच्छिद्र इष्टका] को लोकम्पृणा द्वारा ढक देता है, उसी लोकम्पृणा-इष्टका द्वारा समग्र पांचवीं चिति को ढक देता है।

न भिन्नां न कृष्णामुप दध्यात्। नाभिन्नां परास्येत्। धिष्ण्येभ्यः प्रतिसंख्याय या विराजमतिरिच्येरन्, नोत्तरामुदभवेयुः, ता भित्त्वोत्कर ऽउत्किरेत् ॥१६॥

न टूटी इष्टका को, न काली को चितियों में स्थापित करे। अटूटी को फैंके भी न। धिष्ण्या-कुण्डों से गिन कर जो इष्टकाएँ विराज् अर्थात् दस-दस की गणना से अतिरिक्त वचें और दूसरा दशक न वना सकें उन्हें तोड़ कर उत्कर में फैंक दे, या गाड़ दे।

[उत्कर=उत्+कृ विक्षेपे, वह स्थान जहां कि यज्ञिय फाल्तु वस्तुओं को फैंक दिया जाता है]।

कां० ८ । अध्याय ७ । ब्राह्मण ३

अथ पुरीषं निवपति । मांऽसं वै पुरीषं मांऽसेनैवैनमेतत् प्रच्छादयति, इष्टका ऽउपधाय,अस्थीष्टकाः, अस्थि तन्मांऽसैः संछादयति ॥१॥

अव मिट्टी डालता है। मिट्टी है मांस, मांस द्वारा ही इस चिति को प्राच्छादित करता है, इष्टकाएँ स्थापित करके। इष्टकाएँ हैं हड्डी। मानो हड्डी को मांस द्वारा सम्यक्तया आच्छादित करता है।

स वै स्वयमातृण्णायामावपति ॥२॥

वह स्वयमातृण्णा-इष्टका पर भी पुरीष अर्थात् मिट्टी डालता है।

स्वयमातृण्णायामोप्य । अनूक्यया संच्छादयन्नैत्या परिश्रिद्भ्यः । स तेनैव दक्षिणावृज्जघनेन स्वयमातृण्णाᳩ संछादयन्नैत्या पुनरानूक्यायै ॥४॥

स्वयमातृण्णा पर मिट्टी डाल कर, अनूक [वेदि के मध्य, आर-पार हुईं, दो रेखाओं के कटाव-बिन्दु] पर रखी इष्टका से आरम्भ कर, परिश्रितों अर्थात् वेदि के चारों ओर स्थापित पत्थरों तक, मिट्टी द्वारा सम्यक् आच्छादन करता हुआ आता है। वह उसी प्रकार बाईं ओर को, स्वयमातृण्णा इष्टका के पीछे की ओर से, मिट्टी द्वारा सम्यक् आच्छादन करता हुआ पुनः अनूक पर रखी इष्टका की ओर आता है।

"इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्" इति (यजु० १५।६१) मन्त्र उच्चारण करके मिट्टी द्वारा आच्छादन करता है ॥७॥

अथ विकर्णीं च स्वयमातृण्णां चोप दधाति । वायुर्वै विकर्णी, द्यौरुत्तमा स्वयमातृण्णा, वायुं च तद् दिवं चोप दधाति, उत्तमे हि वायुश्च द्यौश्च संस्पृष्टे,संस्पृष्टे हि वायुश्च द्यौश्च। पूर्वां विकर्णीमुप दधात्यर्वाचीनं तद् दिवो वायुं दधाति, तस्मादेषोऽर्वाचीनमेव वातः पवते ॥९॥

अब विकर्णी और स्वयमातृण्णा-इष्टकाओं को स्थापित करता है। विकर्णी है वायु; अन्तिम स्वयमातृण्णा है द्यौः। इस प्रकार वायु और द्यौः को इष्टकाओं के रूप में स्थापित करता है। वायु और द्यौः सब से ऊपर अन्त में हैं, इन्हें परस्पर चिपका कर स्थापित करता है, क्योंकि वायु[1] और द्यौः परस्पर चिपके[1] हुए हैं। विकर्णी-इष्टका को पहिले स्थापित करता है, मानो वायु को द्यौः से पहले स्थापित करता है, क्योंकि यह वायु, द्यौ से, इसी ओर वहा करता है।

[विकर्णी=वायु। [वायु के कण] विकीर्ण अर्थात् अलग-अलग होते हैं, ठोस वस्तु के कणों के सदृश परस्पर संगठित नहीं होते।

१. यह वायु द्युलोक सम्बन्धी तेजस्कणों का समूहरूप है, पृथिवी सम्बन्धी वायु नहीं।

स्वयमातृण्णा=स्वभावतः सच्छिद्र द्यौः। [ताराओं के मध्यवर्ती स्थानों को छिद्र कहा है]।

"प्रोथदश्वो न यवसे" (यजु० १५।६२) मन्त्र से विकर्णी-इष्टका को स्थापित करता है ॥१२॥

"आयोष्ट्वा सदने सादयामि" (यजु० १५।६३) मन्त्र से स्वयमातृण्णा-इष्टका को स्थापित करता है ॥१३॥

"परमेष्ठी त्वा सादयतु" ॥१४॥ (यजु० १५।६४) मन्त्र द्वारा कहता है कि हे स्वयमातृण्णे ! अर्थात् हे द्यौ ! परमस्थान में स्थित परमेश्वर तुझे स्थापित करे।

[द्युलोक की प्रतिनिधिभूत इष्टका को स्थापित करता है]।

नानोप दधाति, नाना हि वायुश्च द्यौश्च। सकृत्सादयति, समानं तत्करोति ॥८।७।३।२०॥

विकर्णी-इष्टका को तथा स्वयमातृण्णा-इष्टका को अलग-अलग स्थापित करता है, क्योंकि वायु और द्यौः अलग-अलग हैं। एक-वार में इन दोनों को स्थापित करता है। इस प्रकार इन दोनों को एक कर देता है।

कां० ८। अध्याय ७। ब्राह्मण ४

अथैनं हिरण्यशकलैः[1] प्रोक्षति ॥७॥

अब इसे सुवर्ण-खण्डों द्वारा प्रोक्षित करता है, सींचता है, अर्थात् सुवर्ण-खण्ड डालता है।

द्वाभ्यां द्वाभ्याँ शताभ्याम्। पञ्चकृत्वः पञ्चचितिकोऽग्निः, सहस्रेण ॥९॥

---

१. "हिरण्यशकल" शतपथ काल के सौवर्ण सिक्के (coins) प्रतीत होते हैं। यजु० १५।६५ में प्रमा, प्रतिमा, उन्मा,—पद, हिरण्यशकलों के निश्चित माप के सूचक प्रतीत होते हैं। प्रमा=यथार्थमान, उन्मा=ऊंचाई का मान, प्रतिमा=शायद लम्बाई का मान।

दो-दो सौ करके हिरण्यखण्ड प्रोक्षित करता है। पांच वार, क्यों कि अग्नि की पांच चितियां (तहें) हैं, हजार सुवर्ण-खण्ड डालता है। [२००×५=१०००]

पश्चादग्रे प्राङ् तिष्ठन्। अथोत्तरतो दक्षिणा, अथ पुरस्तात् प्रत्यङ्, अथ जघनेन परीत्य दक्षिणत ऽउदङ् तिष्ठन्, तद् दक्षिणावृत्, अथानु परीत्य पश्चात्प्राङ् तिष्ठन् ॥१०॥

पहले पश्चिम में दो-सौ सुवर्ण-खण्ड डालता है, पूर्वाभिमुख खड़ा हो कर; फिर उत्तर में दो-सौ खण्ड डालता है दक्षिणाभिमुख खड़ा होकर, फिर पूर्व में दो-सौ खण्ड डालता हैं पश्चिमाभिमुख खड़ा हो कर, फिर पीछे मुड़ कर दक्षिण में दो-सौ खण्ड डालता है उत्तराभिमुख खड़ा हो कर, इस प्रकार उत्तर से दक्षिण की ओर जाता हुआ। तत्पश्चात् पीछे मुड़ कर पश्चिम में दो-सौ खण्ड डालता है पूर्वाभिमुख खड़ा हो कर।

[पश्चिम में दो वार दो-दो सौ सुवर्णखण्ड डालता है, अवशिष्टों में एक-एक वार]।

सहस्रस्य प्रमाऽसि, सहस्रस्य प्रतिमाऽसि, सहस्रस्योन्माऽसि, साहस्रोऽसि, सहस्राय त्वा ॥ (यजु० १५।६५) मन्त्र द्वारा डालता है ॥११॥

उपसंहार=चितियों और पुरीषों के सम्बन्ध में,—

अयमेव लोकः प्रथमा चितिः, पशवः पुरीषम् (१२)। अन्तरिक्षमेव द्वितीया चितिः, वयाँसि पुरीषम् (१३)। द्यौरेव तृतीया चितिः, नक्षत्राणि पुरीषम् (१४। यज्ञ ऽएव चतुर्थी चितिः, दक्षिणाः पुरीषम् (१५)। यजमान ऽएव पञ्चमी चितिः, प्रजाः पुरीषम् (१६)। स्वर्ग ऽएव लोकः षष्ठी चितिः, देवाः पुरीषम् (१७)। अमृतमेव सप्तमी चितिः। तामुत्तमामुप दधाति। अमृतं तदस्य सर्वस्योत्तमं दधाति। तस्मादस्य सर्वस्यामृतमुत्तमम्। तस्मात् देवा ऽअनन्तर्हिताः। तस्माद्‍ ते ऽमृता ऽइत्यधिदैवतम् (१८) ॥

यह पृथिवीलोक पहली-चिति है, और पशु इस पर मिट्टीरूप हैं।१२।

दूसरी-चिति है अन्तरिक्ष, और इस पर मिट्टी है पक्षी (१३)। तीसरी-चिति है द्युलोक, और इस पर मिट्टी हैं नक्षत्र(१४)। चतुर्थी-चिति हैं यज्ञ, और इस पर मिट्टी है दक्षिणाएँ (१५)। पांचवीं-चिति है यजमान, और इस पर मिट्टी है प्रजा (१६)। छठी-चिति है स्वर्ग-लोक, इस पर मिट्टी हैं देवलोग(१७)। सातवी-चिति है अमृत की। अथवा अमृत ब्रह्म की। उस श्रेष्ठ या अन्तिम चिति को स्थापित करता है। मानो इस समस्त जगत् में सर्वश्रेष्ठ उस अमृत को स्थापित करता है। इसलिये इस समस्त जगत् में अमृत (ब्रह्म) या अमृतत्व सर्वोत्तम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ या सर्वान्तिम तत्त्व है। अतः देव उस अमृत के अत्यन्त समीपस्थ हैं, अतः देव अमृत हैं। यह अधिदैवतदृष्टि से है।

[अग्निचयन, आधिदैविक दृष्टि से, पृथिवी आदि लोकों के प्रति-रूप या प्रतिनिधिरूप में वर्णित हुआ है। अग्निचयन की चितियों में मिट्टी की तहें जमाई जाती हैं, जिन्हें कि याज्ञिक परिभाषा में "पुरीष" कहते हैं। "पुरीष" शब्द "पॄ" धातु द्वारा निष्पन्न है जिस का अर्थ है "पूरण"। अग्निचयन में इष्टकाओं के चयन के पश्चात् रिक्त स्थान को भरने के लिये मिट्टी बिछाई जाती है, इसे पुरीष कहते हैं। अग्नि-चयन चूंकि पृथिवी आदि लोकों का प्रतिरूप माना है, इसलिये इन लोकों में भी पुरीषों की सत्ताएँ चाहियें, जोकि इन लोकों के रिक्त-स्थानों को पूरित कर दें, भर दें। ये पुरीष क्रम से पशु, पक्षी, नक्षत्र दक्षिणाएँ, प्रजा, देव और अमृत,—कहे गए हैं।

जैसे यज्ञ में, अग्निचयन की चितियां, एक-दूसरे के ऊपर-ऊपर चिनी जाती हैं, इसी प्रकार ब्रह्माण्ड में भी लोकों का चयन दर्शाया है। वह क्रम है,–पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः, यज्ञ,यजमान, स्वर्ग, अमृत। यज्ञकर्म करके यजमान ने लोकारोहण कर, स्वर्ग और अमृत को पाना है। अतः पृथिवी आदि तीनों लोकों के ऊपर यजमान की स्थिति दर्शाई है।

"येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा। येन स्वः स्तभितं येन नाकः' (यजु० ३२।६) मन्त्र में "स्वः" अर्थात् स्वर्ग के ऊपर "नाकः" की स्थिति दर्शाई है। शतपथ में स्वर्ग के ऊपर अमृत की स्थिति दर्शाई है। अतः नाकः और अमृतम् पर्यायवाची प्रतीत होते हैं। तथा "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः

सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः" (यजु० ३१।१६) में "नाक" और "सन्ध्याः देवाः" का परस्पर सम्बन्ध दर्शाया है। इसी प्रकार "**तेन देवा अयजन्त साध्या ऽऋषयश्च ये**" (यजु० ३१।६) में साध्यों और ऋषियों को देवाः कहा है। साध्य का अभिप्राय है "साध्य योग को जिन्होंने सिद्ध कर लिया है" ऐसे सिद्धयोगी। साध्य शब्द में "अर्श आद्यच्" मानना चाहिये। और ऋषि हैं आर्षदृष्टि सम्पन्न। अतः स्वर्ग के देव हैं,—साध्य तथा ऋषि अर्थात् मनुष्य देव। इसी प्रकार "**यत्र देवा ऽअमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त**" (यजु० ३२।१०) में देवाः, अमृतम्,तथा तृतीय-धाम में भी परस्पर सम्वन्ध दर्शाया है]।

अथाध्यात्मम्। यैवेयं प्रतिष्ठा यश्चायमवाङ्प्राणस्तत्प्रथमा चितिः, मा॑ंसं पुरीषम्। यत्प्रथमां चितिं पुरीषेण प्रच्छाद-यत्येतस्य तदात्मनो मा॑ंसैः संछादयति, इष्टका ऽउपधाय, अस्थीष्टकाः, अस्थि तन्मा॑ंसैः संछादयति ॥१६॥

यह जो प्रतिष्ठा [पाद] है, और यह जो निचला प्राण है, यह प्रथमा-चिति है, तथा पुरीष है मांस। प्रथमा-चिति को पुरीष से आच्छादित करता है, मानो इस शरीर के इस भाग को मांसों द्वारा आच्छादित करता है। इष्टकाओं को स्थापित करके वह उन्हें पुरीष द्वारा आच्छादित करता हैं। अध्यात्म में इष्टकाएँ हैं अस्थियां, अतः अध्यात्म में अस्थियों को मांसरूपी पुरीष द्वारा आच्छादित करता है।

[प्रतिष्ठा=आधारभूत पैर। यथा—"**पादयोः प्रतिष्ठा**" (अथर्व० १६।१०।२)। तथा अवाङ्प्राण=पैरों की प्राण शक्ति]।

यदूर्ध्वं प्रतिष्ठाया ऽअवाचीनं मध्यात् तद् द्वितीया चितिः, मा॑ंसं पुरीषम्। यद् द्वितीयां चितिं पुरीषेण प्रच्छादयत्येत-दस्य तदात्मनो मा॑ंसैः संछादयति, इष्टका ऽउपधाय। अस्थीष्टकाः, अस्थि तन्मा॑ंसैः संछादयति। पुरीष ऽउप दधाति पुरीषेण प्रच्छादयत्येतदस्य तदात्मन ऽउभयतो मा॑ंसैः संछादयति। तस्मादस्यैतदात्मन ऽउभयतो मा॑ंसैः संछन्नं नावकाशते ॥२०॥

जो प्रतिष्ठा अर्थात् पैरों से ऊपर की ओर, और मध्य भाग अर्थात् उदर से नीचे है, वह द्वितीया-चिति हैं, पुरीष है मांस। अग्निचयन में

वह द्वितीया-चिति को पुरीष अर्थात् मिट्टी द्वारा आच्छादित करता है, मानो वह इस शरीर के द्वितीय भाग को मांसों द्वारा आच्छादित करता है। अग्निचयन में इष्टकाओं को स्थापित कर मिट्टी द्वारा उन्हें आच्छादित करता है, मानो वह अस्थिरूप इष्टकाओं पर मांस-रूपी पुरीष का आच्छादन करता है। अध्यात्म में अस्थियां, इष्टकाएँ हैं और अस्थियों पर मांसों का आच्छादन है। इष्टकाओं को प्रथम-चिति की मिट्टी पर स्थापित कर, उन्हें पुनः मिट्टी द्वारा ढांपता है, इससे इष्टकाएँ दीखती नहीं, इसी प्रकार शरीर की द्वितीया-चिति की अस्थियां दीखती नहीं, क्योंकि अस्थियां दोनों ओर से अर्थात् ऊपर से नीचे तक मांसों द्वारा आच्छादित होती हैं।

[अग्निचयन को, कण्डिका (१८) में, आधिदैविक जगत् का प्रतिनिधिरूप कहा है, और कण्डिका (१६,२०,२१) द्वारा अग्निचयन का वर्णन, शरीर के प्रतिनिधिरूप में किया गया है]।

मध्यमेव तृतीया चितिः। यदूर्ध्वं मध्यादवाचीनं ग्रीवाभ्यः तत् चतुर्थी चितिः। ग्रीवा ऽएव पञ्चमी चितिः। शिर ऽएव षष्ठी चितिः। प्राणा ऽएव सप्तमी चितिः। तामुत्तमामुप दधाति, प्राणाँस्तदस्य सर्वस्योत्तमान् दधाति। तस्मादस्य सर्वस्य प्राणा ऽउत्तमाः। पुरीष ऽउप दधाति, माँसं वै पुरीषम्। माँसेन तत्प्राणान् प्रतिष्ठापयति। नोपरिष्टात् प्रच्छादयति। तस्मादिमे प्राणा ऽउपरिष्टादसंछन्नाः ॥२१॥

मध्य अर्थात् उदर ही तीसरी चिति है। मध्य अर्थात् उदर से ऊपर की ओर तथा ग्रीवा से नीचे जो है वह चौथी[1] चिति है। ग्रीवा (गर्दन) ही पांचवीं चिति है। सिर ही छठी चिति है। प्राण ही सातवीं चिति है। उस प्राणमयी सर्वोत्तम या अन्तिम चिति को स्थापित करता है। इस प्रकार वह प्राणों को, इस सब संसार में, सर्वोत्तम करता है। इसलिये इस सब संसार में प्राण सर्वोत्तम या सर्वान्तिम तत्त्व हैं। पुरीष में प्राणों को स्थापित करता है, अर्थात् मांस में। इस प्रकार मांस द्वारा प्राणों को स्थिर करता है। प्राणों को ऊपर से

---

१. सम्भवतः छाती।

आच्छादित नहीं करता, इसलिये ये प्राण ऊपर से आच्छादित नहीं।

[अध्यात्म में पहली चिति है टांगें। तीसरी चिति है उदर अर्थात् पेट, आन्तें, जिगर, मूत्रग्रन्थि आदि। चौथी चिति है छाती तथा फेंफड़े और हृदय। तीसरी और चौथी चितियों के मध्य में एक पर्दा है जिसे कि Diaphragm कहते हैं। यह पर्दा तीसरी और चौथी चिति को अलग-अलग करता है। पांचवी चिति है गर्दन। छठी चिति है सिर। सातवीं चिति है प्राण। शारीरिक जीवन में प्राण सर्वोत्तम तथा सर्वान्तिम चिति है]।

कण्डिका १८ से २१ तक में यह दर्शाया है कि याज्ञिक, अग्नि-चयन, आधिदैविक और आध्यात्मिक तत्त्वों का प्रतिनिधि या प्रति-रूप है।

कां० ९। अध्याय १। ब्राह्मण २

अथैनं विकर्षति, मण्डूकेनावकथा वेतसशाखया, सर्वतो विक-र्षति, सर्वत ऽएवैनमेतत् शमयति ॥ (९।१।२।२०)॥

अब मैंडक, काई और बेंत की शाखा द्वारा अग्निक्षेत्र [वेदि] में में विकर्षण करता है, अग्निक्षेत्र के सब ओर विकर्षण करता है। इस प्रकार सब ओर से इस अग्नि को शान्त करता है।

[मैंडक, काई और बेंत की शाखा को बांस में बान्ध कर, इन्हें वेदि के मध्य में तथा वेदि के चारों ओर घसीटता है। विकर्षण = घसीटना। पहले अग्नि में शतरुद्रिय[1] आहुतियां देकर, अग्नि को शान्त किया, फिर जल[2] सींच कर उसे शान्त किया, अब जलोत्पन्न

---

१. यजुर्वेद, अध्याय १६। मन्त्र १-६६ रुद्र सम्बन्धी हैं। इन मन्त्रों में नमस्कारों तथा आहुतियों द्वारा रुद्र और रुद्र की नाना शक्तियों को शान्त करने का विधान हुआ है,—ऐसा अभिप्राय शतपथ का है। एतदर्थ शतपथ (कां० ९।१।१।१-४४) प्रकरण द्रष्टव्य है "शतरुद्रिय" का अर्थ शतपथ में "शान्त-रुद्रिय" किया है। यथा "शान्तदेवत्यँ ह वै तत् शतरुद्रियमित्याचक्षते" (९।१।१।२)।

२. वेदि पर जलपरिषेक अर्थात् जल सींचने का वर्णन, शतपथ (९।१।२।१-१२)।

मैंडक,[1] काई तथा बेंत की शाखा द्वारा अग्नि को शान्त करता है,—यह अभिप्राय इस कण्डिका का है[2]।

अथैनꣳ सामभिः परिगायति ।।३२।। एतद् यजमानो यदेनꣳ सामभिः परिगायति,एतमेवैतदात्मानमनस्थिकममृतं कुरुते।।३४।।

यजमान अब इस अग्नि [अग्निचयन] के चारों ओर जा-जा कर सामगान करता है (३२), इस द्वारा यजमान, जो इस अग्नि के चारों ओर जा-जा कर सामगान करता है, वह इस आत्मा को अस्थिरहित और अमृत करता है (३४)।

---

१. यजु० १७।६ के आधार पर, वेदि को, अर्थात् वेदि की अग्नि को, मण्डूक-विकर्षण द्वारा याज्ञिक शान्त करते हैं। मण्डूक चूंकि जल में रहते हैं, अतः ये जलीय प्राणी होने के कारण उष्णाग्नि को शान्त करने की योग्यता रखते हैं,—ऐसा अभिप्राय प्रतीत होता है। अवका अर्थात् काई और वेतस अर्थात् बेंत का प्रयोग भी इसी अभिप्राय से किया है। क्योंकि ये दो भी जल-प्राय प्रदेशों में मिलते हैं। परन्तु यजु० १७।६ में इस प्रकार के विकर्षण का वर्णन नहीं है।

२. मण्डूक, अवका, और बेंत को बाँस में बान्ध कर विकर्षण करता है। यथा—"तानि बंशे प्रबध्य·····विकर्षति" (श० ६।१।२।२५)।

यज्ञिकों ने मन्त्रों का विनियोग, विना सोचे-विचारे किस प्रकार किया है; इस का परिचय मैंडक-विकर्षण द्वारा स्पष्ट हो रहा है। मैंडक-सम्बन्धी मन्त्र निम्नलिखित है,—

> उप ज्मन्नुप वेतसे ऽव तर नदीष्वा।
> अग्ने पित्तमपामसि मण्डूकि ताभिरा गहि,
> सेमं नो यज्ञं पावकवर्णꣳ शिवं कृधि।। (यजु० १७।६)

इस मन्त्र में मण्डूक [मैंडक] के विकर्षण का वर्णन नहीं।

मन्त्र में ज्मन् [पृथिवी], वेतस [बेंत], नदियों, अग्नि और मण्डूकि का वर्णन तो है, परन्तु अवका[काई] का वर्णन नहीं। महीधराचार्य लिखते हैं कि "नदीशब्देन लक्षणया अवका" उच्यन्ते। शतपथ के लेख को प्रमाणित करने के लिये महीधर ने लक्षणा का आश्रय लिया है। मन्त्र में न तो वंश का वर्णन है, और न वंश में तीन को बान्ध कर मण्डूक को घसीटने द्वारा अग्नि को शान्त करने का ही वर्णन है।

[कण्डिका ३४ में "आत्मा" पद जीवात्मपरक प्रतीत होता है। जीवात्मा, अस्थि रहित अर्थात् अस्थियों से बने शरीर से रहित हो कर, अमृत हो जाता है। यदि "आत्मा" का अर्थ शरीर ही अभिप्रेत हो तब अभिप्राय यह हो सकता है कि सामगानों द्वारा यजमान अस्थि वाले शरीर से रहित होकर, अस्थिरहित सूक्ष्म शरीर या कारणशरीर को प्राप्त कर, अमृत लाभ करता है, मोक्ष प्राप्त करता है, मोक्ष में सूक्ष्मशरीर या कारणशरीर जीवात्मा के संग रहता है, ताकि यजमान मोक्ष भोगने के पश्चात् इन बीजरूप शरीरों द्वारा पुनः अस्थिनिर्मित शरीर को प्राप्त कर सके।

कां० ६। अध्याय २। ब्राह्मण ३

पृथिव्या, अहम्। उदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहमिति गार्हपत्यादाग्नीध्रीयमागच्छन्त्याग्नीध्रीयादाहवनीयं दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहमितिदिवो नाकस्य पृष्ठात्स्वर्गं लोकमगामहमित्येतत् ॥२६॥

पृथिवी से मैं ऊपर अन्तरिक्ष को चढ़ा हूं, अन्तरिक्ष से द्युलोक को चढा हूं (यजु० १७।६७)—चूंकि गार्हपत्य से आग्नीध्रीय[1] पर आते हैं, आग्नीध्रीय से आहवनीय पर। द्युलोक अर्थात् नाक के पृष्ठ से स्वर्ज्योति को मैं पहुचा हूं, अर्थात् द्युलोकरूपी नाक के पृष्ठ से मैं स्वर्गलोक पर आया हूं।

[याज्ञिक व्याख्यानुसार गार्हपत्य है पृथिवी की प्रतिनिधि, आग्नीध्रीय है अन्तरिक्ष की प्रतिनिधि, तथा आहवनीय है दिव् अर्थात् द्युलोक की प्रतिनिधि, और द्युलोक है नाक, इस नाक की पीठ से यजमान स्वः अर्थात् स्वर्गलोक को पहुंचता है। यह याज्ञिक अर्थ है।

---

१. आग्नीध्रीय का अर्थ है आग्नीध्र याज्ञिक का स्थान। इस याज्ञिक को अग्नीत् भी कहते हैं, अग्नि को समिद्ध करने के कारण। अग्नीत् याज्ञिक के स्थान को भी आग्नीध्र कहते हैं। अतः आग्नीध्रीय तथा आग्नीध्र पर्याय शब्द भी हैं। यथा—"अग्निमिन्धे अग्नीत्, तस्य स्थानमाग्नीध्रम्, तत्स्थ्यात्सोऽप्याग्नीध्रः (कौमुदी)।

परन्तु यजु०[1] मन्त्र १७।६७ के अनुसार "पृथिव्या और अन्तरिक्षात्" में जैसे पञ्चम्यन्त के प्रयोग हैं, वैसा ही पञ्चम्यन्त प्रयोग "दिव:" में सम्भावित है। इस दिव् से उद्गत होकर व्यक्ति प्रथम नाक की पृष्ठ अर्थात् पीठ पर आता है, तदनन्तर वह सुखमयी [स्वः] या आनन्दमयी ज्योति को प्राप्त करता है। याज्ञिक अर्थ में स्वः को स्वर्ग लोक कहा है, परन्तु मन्त्र में स्वः पाठ है, स्वर्ग नहीं, और इस स्वः को मन्त्र में ज्योतिः कहा है। यह ज्योतिः ब्राह्मी ज्योति प्रतीत होती है जिसे कि "रुचं ब्राह्मम्" अर्थात् ब्राह्मी रुचि [ब्राह्मी दीप्ति] भी कहते हैं (यजु० ३१।२१)।

अध्यात्म दृष्टि में पृथिवी है मणिपूरचक्र [solar plexus], या नाभिचक्र 'नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्" (योग ३।२९)। कायव्यूहज्ञान प्राकृतिक ज्ञान है, आध्यात्मिक नहीं। अतः यह पार्थिव ज्ञान है। अन्तरिक्ष है हृदय चक्र, जिसमें योगी को ईश्वरीय ज्योति का आभास होने लगता है। दिव् है मस्तिष्क, जिस में कि ब्रह्मरन्ध्र से गुजर कर योगी ज्योति का साक्षात्कार करता है]।

अथैनमभि जुहोति। एतद्वा ऽएनन्...... ईयिवांसमुपरिष्टादन्नेन प्रीणाति, कृष्णायै शुक्लवत्सायै पयसा ॥३०॥

गार्हपत्य से जिस जलती हुई लकड़ी को लाए हैं, इस आई हुई लकड़ी को अन्न द्वारा प्रीणित करता है, अर्थात् सुफैद बछड़े वाली काली गौ के दूध द्वारा।

[रात्रि है शुक्लवत्साकृष्णा [गौ] उस का शुक्ल वत्स है आदित्य ॥३०॥]।

---

१. यजु० १७।६७ निम्नरूप है। "पृथिव्या, अहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम्। दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्" यजुर्वेद के भाष्यकार "उव्वट" ने भी दिव् से पृथक् "नाक" माना है। यथा—"अन्तरिक्षाच्च दिवमारुहं द्युलोकमारूढः। दिवः नाकस्य पृष्ठमारूढः। नाकस्य पृष्ठाच्च स्वराख्यं ज्योतिः अगाम् आगतः प्राप्तोऽहम्"। तथा श० ८।६।१।१ में "नाक" को नाकसदों का स्थान माना है, और नाकसदः को देव कहा है। अतः यजु० १७।६७ के अनुसार नाक में देवों का संग करके मुक्तात्मा स्वर्ज्योति को प्राप्त करता है,—यह अर्थ सुसंगत प्रतीत होता है।

अथैनं निदधाति। सुपर्णोऽसि गरुत्मानिति॥३४॥

अब इस लक्कड़ी को चिति पर "सुपर्णोऽसि गरुत्मान्" (यजु० १७।७२) मन्त्र पढ़कर स्थापित करता है।

अथास्मिन्त्समिध आदधाति ॥३६॥ शमीमयीं प्रथमामादधाति ॥३७॥ अथ वैकङ्कतीमादधाति ॥३९॥ अथोदम्बरीमादधाति ॥४०॥ अथाहुतीर्जुहोति, स्रुवेण पूर्वे स्रुचोत्तराम् ॥४१॥ अथ वैश्वकर्मणीं जुहोति ॥४२॥ अथ पूर्णाहुतिं जुहोति ॥४३॥

अब इसमें समिधाएँ स्थापित करता है(३६)। पहले शमीवृक्ष को समिधा स्थापित करता है (३७)। फिर विकङ्कत वृक्ष की समिधा स्थापित करता है (३९)। फिर उदुम्बर वृक्ष की समिधा स्थापित करता है (४०)। अब घृताहुतियां देता है, स्रुव द्वारा पहिली दो आहुतियां, और स्रुच् द्वारा अगली तीसरी आहुति। इन आहुतियों को (यजु० १७।७४-७८) मन्त्रों द्वारा देता है। अब पूर्णाहुति अर्थात् घृत द्वारा चमच को भर कर आहुति देता है, (यजु० १७।७९) मन्त्र द्वारा।

कां० ९। अध्याय ३। ब्राह्मण १

अथातो वैश्वानरं जुहोति ॥१॥

अब वैश्वानर पुरोडाश[1] की आहुति देता है।

स यः स वैश्वानरः। इमे स लोकाः। इयमेव पृथिवी विश्वम्, अग्निर्नरः। अन्तरिक्षमेव विश्वम्, वायुर्नरः। द्यौरेव विश्वम्, आदित्यो नरः॥(९।३।१।३)॥

ये लोक वैश्वानर हैं। विश्व है यह पृथिवी, और नर है अग्नि। विश्व है अन्तरिक्ष, और नर है वायु। विश्व है द्युलोक और नर है आदित्य।

---

१. चावल की पीठी से, कपालों (घड़े के टुकड़ों पर) पकाया हुआ, गोलाकृति भटूरा या बन (Bun), cake।

[वैश्वानर आहुति द्वारा, तीन लोकों और उन की तीन शक्तियों को लक्ष्य में रखता है]।

अथ मारुतान् जुहोति, प्राणा वै मारुताः, शिरो वै वैश्वानरः, शीर्षन् तत्प्राणान् दधाति ॥९।३।१।७॥

अब मरुतों को पुरोडाश[1] की आहुतियां देता है। मरुतः हैं प्राण, वैश्वानर है सिर, सिर में इस प्रकार प्राणों की आहुतियां देता है।

शीर्षण्येव तत्सप्त प्राणान् दधाति ॥(९।३।१।८)॥

सिर में ही सात प्राणों को स्थापित करता है।

[मरुद्गण सात होते हैं। सिर में ७ प्राण हैं; २ श्रोत्र, २ आंखें, २ नासिकारन्ध्र और १ वाक् (श० ९।३।१।१०-१२)। ये सात प्राण हैं। सात मरुद्गण इन सात प्राणों के प्रतिनिधि हैं। यजुर्वेद १७।८० से ८६ तक मरुतों का वर्णन है। यद्यपि ये मरुत् संख्या में ७×७= ४९ होते हैं,तो भी वस्तुस्थिति में ये ७ ही हैं,जो कि सिर के प्राण हैं,- ऐसा कथन शतपथ के रचयिता का है यथा—"यदु वा ऽअपि बहुकृत्वः सप्त-सप्त, सप्तैव, तत् शीर्षण्येव, तत्सप्त प्राणान् दधाति" ॥

(श० ९।३।१।८)

[अर्थात् यद्यपि "सप्त-सप्त" का अभिप्राय है वहुत वार सात, परन्तु यहां केवल सात ही जानने चाहियें, अतः सात प्राणों को सिर में स्थापित करता है]।

यद्वेव वैश्वानरमारुतान् जुहोति, क्षत्रं वै वैश्वानरो विण्मारुताः ॥(९।३।१।१३)॥

वैश्वानर और मारुत को आहुतियां देता है, वैश्वानर हैं क्षत्रिय, और मरुतः हैं विशः, अर्थात् वैश्य या प्रजाजन।

स यः स वैश्वानरः, असौ स आदित्यः। अथ ये ते मारुता, रश्मयस्ते[2]। ते सप्त, सप्तकपालाः भवन्ति। सप्त-सप्त ही मारुता गणाः ॥(९।३।१।२५)॥

---

१. द्र० पूर्व पृष्ठ १७६ टिप्पणी १।

२. सूर्य की श्वेतरश्मियों में फटने से प्राप्त हुई सात रक्त पीत आदि

वह जो वैश्वानर पुरोडाश है वह है आदित्य । तथा वे जो मारुत पुरोडाश हैं, वे हैं रश्मियाँ । वे हैं रश्मियां सात । प्रत्येक पुरोडाश है सात कपालों वाला । प्रत्येक मरुद्गण में सात-मरुत् होते हैं।

[आदित्य की प्रत्येक शुक्लरश्मि में सात रश्मियां होती हैं, भिन्न-भिन्न रंगों वाली । यथा "रक्त, पीत, नारङ्ग, हरित, आकाशीय, नील और बैंगुनी" । अंग्रेजी में इनके नाम हैं,—Red, Yellow, Orange, Green, Blue, indigo and violet. इन सात रंगों वाली रश्मियों के मेल से आदित्य की श्वेतरश्मि बनती है । वर्षाकाल में इन्द्रधनुष् में सप्तरंगी-सात पट्टियां दृष्टिगोचर होती हैं,जोकि आदित्य की शुक्लरश्मियों के फटावरूप होती हैं] ।

स जुहोति । 'शुक्रज्योतिश्च चित्र ज्योतिश्च सत्यज्योतिश्च ज्योतिष्माँश्च । शुक्रश्च ऋतपाश्चात्यꣳहाः[२] ।। (यजु० १७।८०) ।।

रश्मियों को कण्डिका ९।३।१।२५ में 'मारुता: रश्मयः' कहा है । इन्हें "रश्मि-सप्तक" कह सकते हैं । वर्षतु में मेघों में इन्द्रधनुष में यह "रश्मिसप्तक" दीखता है । आदित्य की इन रश्मियों को 'मारुताः' कहा है । "मरुत्" का निवर्चन किया है 'मारयति वा स मरुत्' (उणा० १।९४; महर्षि दयानन्द) । आदित्य की श्वेत रश्मियों के फटाव से उत्पन्न सात-रश्मियों द्वारा रोग कीटाणुओं तथा शत्रु के सैनिकों को मारा जा सकता है, इसलिये इस रश्मिसप्तक को मारुत कहा है । यथा,—

इतो जयेतो विजय संजय जय स्वाहा ।
इमे जयन्तु परामीजयन्तां, स्वाहैभ्यो दुराहामीभ्यः ।
नीललोहितेनामूनभ्यव तनोमि ।। (अथर्व० ८।८।२४)

इस मन्त्र में स्पष्ट रूप में युद्ध का वर्णन है, और शत्रुओं को 'नीललोहित' द्वारा उनके धनुषों के अवतान का कथन हुआ है । अवतान का अर्थ है ताने हुए धनुषों को तान (तनाव) से रहित कर देना । 'नीललोहित' शब्द रश्मि-सप्तक को द्योतित करता है । रश्मिसप्तक के एक ओर तो नीलरश्मि होती है, और दूसरी ओर लोहित ।

२. शुक्र ज्योतिः—शुक्रः अग्निः, उसकी ज्योतिः अर्थात् अग्नि की ज्वाला के सदृश लोहित रश्मि (रक्त) । अन्यꣳहाः, अर्थात् अति घातक बैंगुनी

(violet) ज्योतिः। ये दो ज्योतियां 'नील लोहित' हैं। आदित्य की श्वेत-रश्मि, रक्तादि सात रश्मियों का समूह है।

समूहरूप है,—यह सिद्धान्त वेदसम्मत है। अथर्ववेद में "इन्द्रधनुः" का वर्णन है, जोकि वर्षा ऋतु में आकाश में दृष्टिगोचर होता है, और जिस में सप्तरंगी सात-पट्टियां स्पष्ट दीखती हैं। यथा—"स धनुरादत्त तदेवेन्द्रधनुः। (१५।१।६)', "नीलमस्योदरं लोहितं पृष्ठम्" (१५।१।७) "नीलेनैवाप्रियं भ्रातृव्यं प्रोर्णोति, लोहितेन द्विषन्तं विध्यतीति ब्रह्मवादिनो वदन्ति" (१५।१।८ अर्थात् वह 'व्रती" धनुः का आदान करता है, वह "इन्द्रधनु:" है। इसका उदर नीला है, और पृष्ठ लाल है। नीली रश्मि द्वारा अप्रिय भ्रातृव्य को आच्छादित करता है, और लाल रश्मि द्वारा द्वेषी को बींधता है,—यह ब्रह्म-वेद [अथर्ववेद] के विद्वान् कहते हैं"। इण्द्रधनुः, ताने धनुः के सदृश होता है जिस की तानि पीठ, लाल पट्टी की होती है, और भीतरी उदर भाग नीली पट्टी का होता है। इन्द्रधनुः की उदर की पट्टी को नील कहा है। सम्भवतः violet रश्मिपट्ट को अथर्ववेद में नील कहा है। इस रश्मि सप्तक का संक्षिप्त नाम "नीललोहित" है। नील एक ओर की रश्मि और लोहित दूसरी ओर की रश्मि। यथा—'नीललोहितेनामूनभ्यवतनोमि" (अथर्व० ८।८।२४); अर्थात नीललोहित" [रश्मि सप्तक] द्वारा उन शत्रुओं के धनुषों की डोरियों को तनाव से रहित करता हूं।

मारुताः रश्मयः (९।३।१।२५) द्वारा "मरुतों-सम्बन्धी रश्मियां",—यह अर्थ भी द्योतित होता है। ९।३।१।२५ में आदित्य का भी कथन हुआ है। अतः मारुत-रश्मियां आदित्य की रश्मियां प्रतीत होती हैं। सूर्य और पृथिवी के मध्यवर्ती अन्तराल में, विरल और घनरूप में ७ स्तर (layers) सम्भवतः विद्यमान हों, जिन द्वारा सूर्य की शुक्ल रश्मियां फट कर सात-रश्मिसप्तक बनाती हों। ये सात-रश्मि सप्तक चूंकि स्वरूपतः एक सदृश होते हैं, अतः शत-पथ के रचयिता ने इन सप्तकों का वर्णन किया है कि "यद्रु वा ऽपि बहुकृत्वः सप्त सप्त, सप्तैव" (९।३।१।८), अर्थात् बहुत वार सप्त सप्त कहते हुए भी वे सात-रश्मिसप्तक हैं रश्मिरूप में एक-रश्मिसप्तक सदृश ही।

महीधर ने भी इन सात-रश्मिसप्तकों की रश्मियों को "एकोनपञ्चाशत्" अर्थात् एक कम पचास कहा है। यजु० १७।८० से ८५ तक ६ मन्त्र हैं और "उग्रश्च भीमश्च ध्वान्तश्च धुनिश्च। सासह्वांश्चाभि युग्वा च विक्षिपः स्वाहा"

नामान्येषामेतानि । मण्डलमेवैतत्संस्कृत्याथास्मिन्नेतान् रश्मीन् नामग्राहं प्रति दधाति ।।(श० ९।३।१।२६)।।

वह पहले मारुत पुरोडाश की आहुति देता है, "शुक्रज्योतिश्च" (यजु० १७।८०) आदि मन्त्र द्वारा। शुक्र ज्योतिः आदि सात नाम हैं[जोकि ७ रश्मियों के हैं], आदित्य के प्रतिनिधिरूप वैश्वानर पुरोडाश को तय्यार करके, शुक्रज्योतिः आदि रश्मियों को, जोकि मरुत्-रूप है, वैश्वानर पुरोडाश अर्थात् आदित्य में स्थापित करता है।

[श० ९।३।१।२५ की व्याख्या में जो रक्त, पीत आदि सात नाम दिये हैं, उन्हें ९।३।१।२६ में "शुक्रज्योति" आदि सात नामों द्वारा निर्दिष्ट किया प्रतीत होता है]।

कां० ९ । अध्याय ३ । ब्राह्मण २

अथातो वसोर्धारां जुहोति(९।३।२।१) । क्षीरस्य वा सर्पिषो वा ।। (९।३।२।४)।।

अब मारुत-आहुतियों के पश्चात् वसु की धारा की आहुति देता है, दूध या पिघले घृत की धारा की।

[वसोर्धारा=वसुरूप अग्नि पर दूध या घृत की धारा; तथा यजमान पर विविध सम्पत्तियों तथा कामनाओं की वर्षा। यह वसुमयी धारा है। सम्पत्तियों तथा कामनाओं रूपी वसुओं का वर्णन यजु० १८।१-१५ में हुआ है]।

कां० ९ । अध्याय ३ । ब्राह्मण ४

अथातो वाजप्रसवीयं जुहोति। अन्नं वै वाजो ऽन्नप्रसवीयँ हास्येतदन्नमेवास्मा ऽएतेन प्रसौति ।।१।।

अब वाजप्रसवीय आहुति देता है। वाज है अन्न, अर्थात् अन्न-

यह सातवां मन्त्र महीधर द्वारा यदुर्वेद में व्याख्यात हुआ है। इन सात मन्त्रों में से प्रत्येक मन्त्र के ७ खण्ड हैं, जोकि एक-एक रश्मिसप्तक के नाम हैं। इस प्रकार सात मंन्त्रों में सात-रश्मिखण्डों के नाम दिये हैं। अतः ७×७=४९ नाम सात-रश्मिसप्तकों के होते हैं।

प्रसवीय आहुति देता है। इस आहुति द्वारा इस अग्नि के लिये अन्न प्रेरित करता है।

[वाज=अन्न; प्रसव=सू प्रेरणे]।

सर्वौषधं भवति। सर्वमेतदन्नं यत्सर्वौषधᳫं सर्वेणैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति। औदुम्बरेण चमसेनौदुम्बरेण स्रुवेण। चतुःस्रक्ती भवतः॥४॥

वाजप्रसवीय आहुति में सब प्रकार की ओषधियों के बीज मिलाए होते हैं। सब ओषधियों के बीज सर्वान्नरूप हैं। अतः सब प्रकार के अन्नों द्वारा ही इस अग्नि को तृप्त करता है। उदुम्बर अर्थात् गूलर की लकड़ी से बने चमस और स्रुव द्वारा आहुति देता है। ये दोनों चतुष्कोण होते हैं।

पञ्चम चिति का आंशिक चित्र

THE CENTRAL PART OF THE FIRST LAYER.
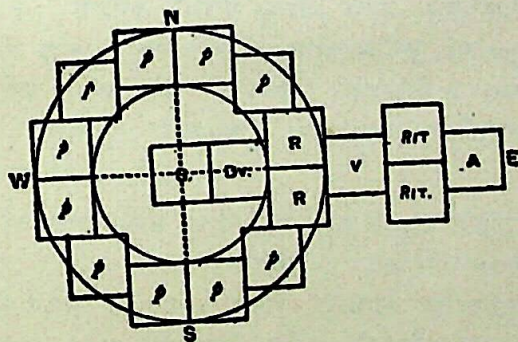
E=EAST=पूर्व से, पश्चिम (W) की ओर,—

एक-एक ऋतव्या इष्टका एक-एक वर्ग कोष्ठ में। V=विश्व-ज्योति इष्टका एक। t=त्रिष्टुभ् छन्दसम्बन्धी तीन इष्टकाएँ। इसके पश्चिम में कृष्ण भू भाग है जिसमें ८ वर्ग हैं। ये गार्हपत्य कुण्ड की ८ इष्टकाएँ हैं। इन पर ८ इष्टकाएँ और चिनी जाती हैं जिन्हें कि "पुनश्चिति" कहते हैं। इसके पश्चिम के g और a हैं जोकि गायत्री और अनुष्टुभ् सम्बन्धी तीन-तीन इष्टकाएँ हैं। t, g, a इष्टकाओं को

छन्दस्याः इष्टकाएँ कहते हैं। इनके पश्चिम में N P इष्टकाएँ हैं जो कि नाकसद् और पञ्चचूडारूप हैं। इस प्रकार भीतरी वृत्त के उत्तर, पूर्व तथा दक्षिण भाग में ४ N P इष्टकाएँ और स्थापित की जाती हैं। अतः नाकसद् इष्टकाएँ पांच, तथा पञ्चचूडा इष्टकाएँ पांच हो जाती हैं। शेष st इष्टकाएँ स्तोमभागाः हैं, जोकि २९ होती हैं, जो कि भीतरी और बाह्य वृत्तों की परिधियों के अन्तराल में स्थापित की जाती हैं।

पञ्चमी चिति सम्पूर्णा

काण्ड १०

अध्याय ५ । ब्राह्मण ३

अध्यात्म रहस्य

(क)

यदिदं मनः सृष्टमाविरबुभूषत् निरुक्ततरं[1] मूर्ततरं [2]तदा-त्मानमन्वैच्छत्, तत्तपो ऽतप्यत,[3] तत्प्रामूर्छत्, तत् षट् त्रिँ-शतँ सहस्राण्यपश्यदात्मनो ऽग्नीनर्काण्मयोमयान्[4] मन-श्चितः । ते मनसैवाधीयन्त मनसाऽचीयन्त, मनसैषु ग्रहा ऽगृह्यन्त । मनसा ऽस्तुवत मनसा ऽशँसन्, यत्किंच यज्ञे कर्म क्रियते, यत्किंच यज्ञियं कर्म मनसैव । तेषु तन्मनोमयेषु मनो-मयमक्रियत । तद्यत्किं चेमानि भूतानि मनसा संकल्पयन्ति तेषामेव सा कृतिः, तानेवादधति ताँश्चिन्वन्ति, तेषु ग्रहान् गृह्णन्ति, तेषु स्तुवते तेषु शँसन्ति । एतावती वै मनसो विभूतिः, एतावती विसृष्टिः, एतावन्मनः षट्त्रिँशत् सहस्राण्यग्नयोऽर्काः ॥३॥

यह मन पैदा हुआ उसने आविर्भूत होना चाहा, अर्थात् अधिक अभिव्यक्त और अधिक मूर्त । उसने अपना प्रकटरूप चाहा, उसने तप किया, वह मूर्तरूप हो गया । उसने 'अध्यात्म अग्निचयन' की मनोमय, और मन द्वारा चिनी गईं, संचित की गईं ३६००० स्तुत्य अग्नियों को अपने भीतर देखा । आग्नेय अर्थात् प्रकाशमयी, अग्नियों का आधान मन द्वारा ही किया गया, और मन द्वारा उन्हें ही चिना गया, संचित किया गया, मन अर्थात् ध्यान द्वारा इन अग्नियों में ग्रहों

---

१. शब्द निर्वाच्यम् (सायण) ।

२. आत्मानं स्वकारणं परमात्मानं स्वस्वरूपं का ऽन्वैच्छत् (सायण) ।

३. पर्यालोचनम् (सायण) ।

४. अर्कान्=सूर्यान्,अतः सूर्य सदृश स्व प्रकाशमयान् मनोमयानग्नीन् वा ।

का ग्रहण किया गया। उपासकों ने मन द्वारा सामगान किया, तथा मन द्वारा मन्त्रोच्चारण किया। जो कुच्छ कर्म यज्ञ में किया जाता है, और जो कुच्छ यज्ञिय कर्म होता है वह मन द्वारा हो किया गया। उन मनोमय और मन द्वारा चिने गए, संचित किये गए कर्मों में वह सब कुच्छ मनोमय ही किया गया। ये प्राणी जो कुच्छ मन द्वारा संकल्प करते हैं, वह उन्हीं मानसिक अग्निमय कर्तव्यों की ही कृति है, अनुकृति है। उपासक उन मानसिक अग्नियों का ही [चित्तों] में आधान करते हैं, उनका हो चयन अर्थात् संचय करते हैं। उन अग्नियों में इन्द्रिय-निग्रह तथा ग्राह्य वस्तुओं का ग्रहण करते हैं, उनमें सामगान तथा उन में मन्त्रोच्चारण करते हैं। इतनो निश्चय से मन की विभूति है, इतनी मन की विविध सृष्टि है, इतना मन है ३६००० हजार अग्निमय अर्थात् प्रकाश दायिनी स्तुतियां, अर्चनाएँ या अग्नियां। अर्कान्=ऋचस्तुतौ अर्चं पूजायाम्।

[वैदिक दृष्टि में सामान्यतः मनुष्य का जीवन १०० वर्षों का है, और वैदिक गणनानुसार वर्ष में ३६० दिन होते हैं। इस प्रकार १०० वर्षों में, ३६०×१००=३६००० दिन होते हैं। प्रत्येक दिन में की गई परमेश्वरीय स्तुतियों को एक-इकाई मान कर जीवन भर की गई स्तुतियां=३६००० होती हैं। ये स्तुतियां मन को प्रकाशमय कर देती हैं। मन का तप है मन को शिवसंकल्प बनाना, और सत्य विचार तथा मानसिक वृत्तियों का संयम अर्थात् निरोध।

अर्कान्=ऋच स्तुतौ अथवा "अर्च पूजायाम्"। स्तुति भी पूजा ही है। ग्रहः=अष्टौ ग्रहाः, अष्टौ अति ग्राहाः। प्राण अर्थात् घ्राणेन्द्रिय है ग्रह[1] और गन्ध है अतिग्राहः। वाक् है ग्रह और नाम हैं अतिग्राह। जिह्वा है ग्रह और रस है अतिग्राह। चक्षु है ग्रह और रूप है अति-ग्राह। श्रोत्र है ग्रह और शब्द है अतिग्राह। मन है ग्रह और काम है अतिग्राह। हाथ हैं ग्रह और कर्म हैं अतिग्राह। त्वचा है ग्रह और स्पर्श है अतिग्राह (बृहद् उप० अध्याय ३, ब्राह्मण २, कण्डिका १-९)।

---

१. ग्राह=नक्र, नाका, मगरमच्छ। इन्द्रियों के विषय ग्राह हैं, जो कि मानुषशक्तियों को खाते रहते हैं। जीवनरूपी नदी के ग्राह हैं, विषय। 'विषय-ग्राहवती वितर्कविहगा'।

अर्थात् इन्द्रियां और ऐन्द्रियिक विषय ग्रह और अतिग्राहरूप हैं। यज्ञों में ग्रहों अर्थात् प्यालों द्वारा सोमपान किया जाता है, मानसिक यज्ञ में इन्द्रियरूपी ग्रहों द्वारा विषय पान होता है। ये विषयपान मनोमय होने चाहियें, शारीरिक पान नहीं। प्रामूर्च्छत्=सुषुप्ति तथा निर्बीज अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि में मन का अभिव्यक्त स्वरूप नहीं होता। परन्तु जागरितावस्था में उस का अभिव्यक्त स्वरूप होता है,—यह जागरितावस्था का स्वरूप प्रामूर्छन है। मूर्छा मोहसमुच्छ्राययोः (भ्वादि)। यहां समुच्छ्राय अर्थ अभिप्रेत है। समुछ्राय=Eavation; Height (आप्टे)। सम्भवतः 'मन' द्वारा योगसंयमित दिव्य-मन अभिप्रेत हो]।

(ख)

सेयं वाक् सृष्टाविरबुभूषत् निरुक्ततरा मूर्ततरा, सात्मानमन्वैच्छत्,सा तपो ऽतप्यत, सा प्रामूर्च्छत्, सा षट् त्रिँशतँ सहस्राण्यपश्यदात्मनो ऽग्नीनर्कान् वाङ्मयान् वाक्चितः। ते वाचैवाधीयन्त वाचा ऽचीयन्त, वाचैषु ग्रहा ऽगृह्यन्त। वाचा ऽस्तुवत वाचा ऽशँसन्। यत्किं च यज्ञे कर्म क्रियते यत्किं च यज्ञियं कर्म वाचैव। तेषु तद् वाङ्मयेषु वाक्चित्सु वाङ्मयमक्रियत। तद्यत् किं चेमानि भूतानि वाचा वदन्ति तेषामेव सा कृतिः, तानेवादधति ताँश्चिन्वन्ति, तेषु ग्रहान् गृह्णन्ति, तेषु स्तुवते तेषु शँसन्ति, एतावती वै वाचो विभूतिः, एतावती विसृष्टिः, एतावती वाक् षट्त्रिँशत्सहस्राण्यग्नयो ऽर्काः।४।

यह वाक् पैदा हुई, इसने आविर्भूत होना चाहा, अर्थात् अधिक अभिव्यक्त और अधिक मूर्तरूप। उसने अपना प्रकटरूप चाहा, उसने तप किया, वह मूर्तरूप हो गई। उसने अध्यात्म 'अग्निचयन' की वाङ्मयी, वाक् द्वारा चिनी गईं, संचित की गईं ३६००० स्तुत्य अग्नियों को अपने भीतर देखा। आग्नेय अर्थात् प्रकाशमयी अग्नियों का आधान वाक् अर्थात् उच्चारण द्वारा ही किया गया, और वाक् द्वारा ही उन्हें चिना गया, संचित किया गया। इन अग्नियों में वाक् द्वारा अर्थात् उच्चारण द्वारा ग्रहों का ग्रहण किया गया। उपासकों ने वाक् द्वारा अर्थात् उच्चारण द्वारा सामगान किया, वाक् द्वारा मन्त्रो-

च्चारण किया। जो कोई कर्म यज्ञ में किया जाता है, और जो कोई यज्ञिय कर्म होता है वह वाक् अर्थात् उच्चारण द्वारा ही किया गया। उन वाङ्मय और वाक् अर्थात् उच्चारण द्वारा चिने गए, संचित किये गए कर्मों में वह सब कुच्छ वाक् द्वारा किया गया। अतः ये प्राणी जो कुच्छ वाक् द्वारा कहते हैं वह उन्हीं वाचिक आग्नेय कर्तव्यों की ही कृति है अनुकृति हैं। उन्हीं अग्नियों का आधान चित्तों में करते हैं, उन्हीं का चयन अर्थात् संचय करते हैं। उन्हीं वाचिक आग्नेय कर्तव्यों में ग्रहों का ग्रहण करते हैं। उन्हीं में सामगान करते हैं, उन्हीं में मन्त्रोच्चारण करते हैं। इतनी विभूति वाक् की है, इतनी विविध सृष्टि है, इतनी वाक् हैं अर्थात् ३६००० अग्निमय स्तुतियां या अग्नियां।

[कण्डिका (३) में मन द्वारा उपांशुरूप में, सामगान और मन्त्रोच्चारण पूर्वक मानस उपासना यज्ञों में परमेश्वरीय स्तुतियों का कथन किया है, और वर्तमान कण्डिका (४) में जिह्वोच्चारण द्वारा सामगान और मन्त्रोच्चारणपूर्वक उपासनायज्ञों में परमेश्वरीय स्तुतियों का कथन हुआ है। मानस-उपासनायज्ञ की अपेक्षा वाचिक उपासना सुलभ है]।

(ग)

सो ऽयं प्राणः सृष्ट ऽआविरबुभूषत् निरुक्ततरः मूर्ततरः। स आत्मानमन्वैच्छत्, स तपो ऽतप्यत, स प्रामूर्च्छत् स षट्-त्रिँशतँ सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान् प्राणमयान् प्राणचितिः। ते प्राणेनैवाधीयन्त प्राणेनाऽचीयन्त। प्राणेनैषु ग्रहा ऽअगृह्यन्त, प्राणेनास्तुवत प्राणेनाशँसन्। यत्किंच यज्ञे कर्म क्रियते यत्किं च यज्ञियं कर्म प्राणेनैव, तेषु तत्प्राणमयेषु प्राणचित्सु प्राणमयमक्रियत। तद्यत्किं चेमानि भूतानि प्राणेन प्राणन्ति तेषामेव सा कृतिः, तानेवादधति ताँश्चिन्वन्ति, तेषु ग्रहान् गृह्णन्ति, तेषु स्तुवते तेषु शँसन्ति। एतावती वै प्राणस्य विभूतिः, एतावती विसृष्टिः, एतावान् प्राणः षट्-त्रिँशत्सहस्राण्यग्नयो ऽर्काः ॥५॥

यह प्राण पैदा हुआ, इसने आविर्भूत होना चाहा, अर्थात् अधिक

अभिव्यक्त और अधिक मूर्तरूप। उसने अपना प्रकटरूप चाहा, उसने तप किया, वह मूर्तरूप हो गया। उसने अध्यात्म 'अग्निचयन' की प्राणमयी, और प्राण द्वारा चिनी अर्थात् संचित की गईं ३६००० स्तुत्य अग्नियों को अपने भीतर देखा। आग्नेय प्रकाशमयी अग्नियों का आधान प्राण द्वारा ही किया गया, और प्राण द्वारा ही चिना गया, संचित किया गया। इन अग्नियों में प्राण द्वारा ग्रहों का ग्रहण किया गया, उपासकों ने प्राण द्वारा सामगान किया तथा प्राण द्वारा मन्त्रोच्चारण किया। जो कोई कर्म यज्ञ में किया जाता है, जो कोई यज्ञिय कर्म होता है वह प्राण द्वारा ही किया जाता है। उन प्राणमय और प्राण द्वारा चिने गए, संचित किये गए कर्मों में जो कुच्छ किया गया वह प्राणमय किया गया। अतः ये प्राणी प्राण द्वारा जो प्राणवान् होते हैं वह उन प्राणों की ही कृति है, अनुकृति हैं। उपासक उन प्राणों का ही [शरीर में] आधान करते हैं उन्हें ही [शरीर में] चिनते हैं, संचित करते हैं, उन में ग्रहों का ग्रहण करते हैं, उनमें ही सामगान करते हैं, उनमें मन्त्रोच्चारण करते हैं, प्राण की इतनी विभूति है, इतनी विविध सृष्टि है, इतना प्राण है ३६००० प्रकाशमयी स्तुतियां या अग्नियां।

[कण्डिका में शरीरस्थ प्राण की और प्राणों के प्राणभूत परमेश्वर की महिमा का वर्णन हुआ है। शरीर में मुख्य प्राण ५ हैं,—प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान। नासिका द्वारा प्राण छाती में जा कर रक्त को शुद्ध करता है, अपान द्वारा मलमूत्र का निःसारण होता, व्यान द्वारा समग्र शरीर में रक्त का संचार होता, समान द्वारा भोजन का परिपाक होता, और उदान द्वारा ऊर्ध्वगति तथा उद्गार क्रिया होती है। शरीर के अङ्गों-प्रत्यङ्गों में जो प्रातिस्विक अर्थात् अपनी-अपनी क्रिया होती है वह इनमें निष्ठ अपने-अपने प्राणों के द्वारा हो होती है। इन्द्रिय-ग्रहों द्वारा ही होती है। इन्द्रिय-ग्रहों द्वारा विषयों का ग्रहण और ज्ञान, उपासना आदि में सामगान और मन्त्रोच्चारण इन प्राणों के द्वारा ही होता है। जो व्यक्ति शारीरिक प्राणों में परमेश्वर की कृति का अनुभव करता है वह मानो परमेश्वर की स्तुति इन प्राणों द्वारा करता है। प्राकृतिक प्राण, प्राणों के प्राणभूत परमेश्वर की कृपा द्वारा ही निज कार्यों के करने में समर्थ होते हैं। यथा—

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेणैव तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥

न प्राण द्वारा, न अपान द्वारा कोई मर्त्य जीवित होता है। इन दोनों से अतिरिक्त एक अन्य प्राण हैं जिस द्वारा मर्त्य जीवित होते है, जिस में कि ये प्राण और अपान आश्रित हैं। इस श्लोक में इतर शब्द द्वारा परमेश्वर सूचित किया है। इसलिये जो व्यक्ति निज प्राणों में संचालकरूप में, परमेश्वर की अनुभूति वाला होकर, तदनुकूल जीवन व्यतीत करता है वह मानों प्राणों द्वारा परमेश्वर का स्तवन करता हैं]।

(घ)

तदिदं चक्षुः सृष्टमाविरबुभूषत् निरुक्ततरं मूर्तंतरम्, तदात्मानमन्वैच्छत्, तत् तपोऽतप्यत, तत् प्रामर्च्छत्, तत् षट्त्रिँशतँ सहस्राण्यपश्यदात्मनो ऽग्नीनर्कान् चक्षुर्मयान् चक्षुश्चितः। ते चक्षुषैवाधीयन्त चक्षुषा ऽचीयन्त। चक्षुषैषु ग्रहा ऽअगृह्यन्त। चक्षुषा ऽस्तुवत चक्षुषा ऽशँसन्। यत्किं च यज्ञं कर्म क्रियते, यत्किं च यज्ञियं कर्म चक्षुषैव। तेषु तच्चक्षुर्मयेषु चक्षुश्चित्सु चक्षुर्मयमक्रियत। तद् यत्किं चेमानि भूतानि चक्षुषा पश्यन्ति तेषामेव सा कृतिः। तानेवादधति ताँश्चिन्वन्ति। तेषु ग्रहान् गृह्णन्ति, तेषु स्तुवते तेषु शँसन्ति। एतावती वै चक्षुषो विभूतिः, एतावती विसृष्टिः, एतावच्चक्षुः षट्त्रिँशत्सहस्राण्यग्नयो ऽर्काः। ६॥

वह चक्षु पैदा हुई, उसने आविर्भूत होना चाहा, अर्थात् अधिक अभिव्यक्त और अधिक मूर्तरूप। उसने अपना प्रकटरूप चाहा, उस ने तप किया, वह मूर्तरूप हो गई। उसने अध्यात्म 'अग्निचयन' की चक्षुर्मयी, और चक्षु द्वारा चिनी गईं, संचित की गईं ३६००० स्तुत्य अग्नियों को अपने भीतर देखा। आग्नेय, अर्थात् प्रकाशमयी उन अग्नियों का आधान चक्षु द्वारा ही किया गया, चक्षु द्वारा ही चिना गया, संचित किया गया। इन अग्नियों में चक्षु द्वारा ग्रहों का ग्रहण किया गया। उपासकों ने चक्षु की सहायता से सामगान किया और चक्षु की सहायता से मन्त्रोच्चारण किया। जो कोई कर्म यज्ञ में किया जाता है जो कोई यज्ञिय कर्म होता है वह चक्षु की सहायता से ही

किया जाता है। उन चक्षुर्मय और चक्षु की सहायता से चिने गए, संचित किये गए कर्मों में जो कुच्छ किया गया वह चक्षुर्मय किया गया। ये प्राणी चक्षु द्वारा जो कुच्छ देखते हैं वह उन्हीं चाक्षुष आग्नेय कर्तव्यों की ही कृति है, अनुकृति है। उपासक उन्हीं अग्नियों का आधान चित्तों में करते हैं, उन्हीं का चयन या संचय करते हैं। उन अग्नियों में ग्रहों का ग्रहण करते हैं, उन्हीं में सामगान करते हैं, उन्हीं में मन्त्रोच्चारण करते हैं। इतनी निश्चय से चक्षु की विभूति है, इतनी चाक्षुष विविध-सृष्टि है। इतनी चक्षु है अर्थात् ३६००० अग्निमय स्तुतियां यां अग्नियां।

[चक्षु का विषय है दृश्यमान जगत्। दृश्यमान जगत् का प्रयोजन है भोग और अपवर्ग अर्थात् मोक्ष। जब तक चक्षु जगत् को देखती है भोग की दृष्टि से, तो चक्षु अनभिव्यक्तावस्था में है,अध्यात्म दृष्टि में। परन्तु चक्षु जब जगत् को देखेगी अपवर्ग के साधनरूप में, तो मानो चक्षु अध्यात्म दृष्टि से अभिव्यक्त हुई है। बिना तप तपश्चर्या के ऐन्द्रियक प्रत्याहार असम्भव है, और बिना प्रत्याहार के चक्षु में अध्यात्म-अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। जब चक्षु की यह अभिव्यक्तावस्था हो जाती हैं, तब सैंकड़ों और हजारों प्रकार की अध्यात्मिक स्तुतियों में यह सहायक हो जाती है। जगत् की नानाविध रचनाओं में परमेश्वर की नानाविध शक्तियां दृष्टिगोचर होने लगती हैं, और तदनुसार अध्यात्म-द्रष्टा नानाविध स्तुतियां करने लगता है। इन स्तुतियों द्वारा चित्त में आध्यात्मिक संस्कारों का चयन अर्थात् संचय होने लगता है, और चक्षु सहायक हो जाती है जगत् को देखते ही परमेश्वर के गुणानुवादों के लिये। उस समय स्वभावतः द्रष्टा के मुख से परमेश्वर के प्रति सामगान होने लगते हैं,—यह है चक्षु द्वारा परमेश्वर की उपासना। चक्षु की अध्यात्म दृष्टि, और सामगान, मन्त्रोच्चारण तथा उपासना के प्रति उन्मुखता,—ये सब अध्यात्म यज्ञिय कर्म हैं]।

(ङ)

तदिदꣳ श्रोत्रꣳ सृष्टमाविरबुभूषत् निरुक्ततरं मूर्ततरम्। तदात्मानमन्वैच्छत्, तत्तपोऽतप्यत, तत्प्रामूर्च्छत्, तत् षट्त्रिꣳशतꣳ सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान्, श्रोत्रमयान्

श्रोत्रचितः। ते श्रोत्रेणैवाधीयन्त श्रोत्रेणा ऽचीयन्त, श्रोत्रेणैषु ग्रहा ऽअगृह्यन्त, श्रोत्रेणास्तुवत श्रोत्रेणाश ँसन्। यत्किं च यज्ञे कर्म क्रियते,यत्किं च यज्ञियं कर्म श्रोत्रेणैव। तेषु तच्छ्रोत्र-मयेषु श्रोत्रचित्सु श्रोत्रमयमक्रियत। तद्यत्किं चेमानि भूतानि श्रोत्रेण शृण्वन्ति तेषामेव सा कृतिः। तानेवादधति तांश्चि-न्वति, तेषु ग्रहान् गृह्णन्ति, तेषु स्तुवते तेषु श ँसन्ति। एतावती वै श्रोत्रस्य विभूतिः, एतावती विसृष्टिः, एताव-च्छ्रोत्र ँ षट्त्रि ँशत्सहस्राण्यग्नयोऽर्काः ॥७॥

वह श्रोत्र पैदा हुआ, उसने आविर्भूत होना चाहा, अर्थात् अधिक अभिव्यक्त और अधिक मूर्तरूप। उसने अपना प्रकटरूप चाहा, उसने तप किया, वह मूर्तरूप हो गया। उसने अध्यात्म 'अग्निचयन' की श्रोत्रमयी, श्रोत्र द्वारा चिनी गई संचित की गई ३६००० स्तुत्य-अग्नियों को अपने भीतर देखा। आग्नेय अर्थात् प्रकाशमयी उन अग्नियों का आधान श्रोत्र द्वारा ही किया गया, श्रोत्र द्वारा ही चिना गया, संचित किया गया। इन अग्नियों में श्रोत्र द्वारा ग्रहों का ग्रहण किया गया। उपासकों ने श्रोत्र की सहायता से सामगान किया और श्रोत्र की सहायता से मन्त्रोच्चारण किया। जो कोई कर्म यज्ञ में किया जाता है, जो कोई यज्ञिय कर्म होता है वह श्रोत्र की सहायता से ही किया जाता है। उन श्रोत्रमय और श्रोत्र की सहायता से चिने गये,संचित किये गए कर्मों में जो कुच्छ किया गया वह श्रोत्रमय किया गया। ये प्राणी श्रोत्र द्वारा जो कुच्छ सुनते हैं वह उन आग्नेय कर्तव्यों की ही कृति है, अनुकृति है। उन अग्नियों का ही आधान चित्तों में उपासक करते हैं, उनका ही चयन अर्थात् संचय चित्त में करते हैं। उन स्तुतियों में ग्रहों का ग्रहण करते हैं, उनमें सामगान करते हैं, उन में मन्त्रोच्चारण करते हैं। इतनी श्रोत्र की विभूति है, इतनी श्रोत्र की विविध सृष्टि है,इतना श्रोत्र है अर्थात् ३६००० अग्निमय स्तुतियां या अग्नियां।

[श्रोत्र जब तक सांसारिक शब्दों और गानों के सुनने में रत रहता है जब तक उसे अनभिव्यक्तावस्था का जानना चाहिये। उस की अभिव्यक्त और मूर्तरूप अवस्था तब प्रकट होती है जब कि श्रोत्र उन श्रुतियों के श्रवण के अभिमुख होता है जिन में कि परमेश्वर का

गुणानुवदन होता है। तब श्रोत्र, पक्षियों और पशुओं की आवाजों में, विजुली की कड़क में, वादलों की गर्जन में और नदियों के प्रवाहों में उत्पन्न ध्वनियों में भी परमेश्वर सम्वन्धी गीतों का अनुभव करने लगता है। उपनिषद् में कहा है कि श्वा[1] भी जब भौं-भौं करता है तो मानो वह परमेश्वर की स्तुति में सामगान करता है, (छान्दोग्य, अ० १, खं० १२)। इस प्रकार के विविध शब्दों में, श्रोत्र सम्वन्धी हजारह स्तुतियां निहित हैं जो कि अग्निमय हैं, जिनमें कि परमेश्वर प्रकाशित हो रहा है। श्रोत्र की ऐसी आध्यात्मिक मूर्तावस्था में, श्रोत्र द्वारा ग्रहण किये गए प्रत्येक शब्द में, उपासक, परमेश्वर की विभूति का अनुभव करता है। यह है श्रोत्र द्वारा परमेश्वरोपासना]।

(च)

तदिदं कर्म सृष्टमाविरबुभूषत् निरुक्ततरं मूर्ततरम्। तदात्मानमन्वैच्छत्, तत् तपो ऽतप्यत, तत्प्रामूर्च्छत्। तत् षट्त्रिँशतँ सहस्राण्यपश्यदात्मनो ऽग्नीनर्कान् कर्ममयान् कर्मचितः। ते कर्मणैवाधीयन्त कर्मणा ऽचीयन्त। कर्मणैषु ग्रहा ऽअगृह्यन्त। कर्मणा ऽस्तुवत कर्मणा ऽशँसन्। यत्किं च यज्ञे कर्म क्रियते, यत्किं च यज्ञियं कर्म कर्मणैव। तेषु तत्कर्ममयेषु कर्मचित्सु कर्ममयमक्रियत। तद् यत्किं चेमानि भूतानि कर्म कुर्वते तेषामेव सा कृतिः। तानादधति ताँश्चिन्वन्ति, तेषु ग्रहान् गृह्णन्ति, तेषु स्तुवते तेषु शँसन्ति। एतावती वै कर्मणो विभूतिः, एतावती विसृष्टिः, एतावत्कर्म षट् त्रिँशत्सहस्राण्यग्नयोऽर्काः ॥६॥

वह कर्म पैदा हुआ, उसने आविर्भूत होना चाहा, अर्थात् अधिक अभिव्यक्त और अधिक मूर्तरूप। उसने अपना प्रकटरूप चाहा, उस ने तप किया अर्थात् तपस्या की, वह मूर्तरूप हो गया। उसने अध्यात्म

१. "अथातः शौव उद्गीथः" अर्थात्— अब श्वा-सम्बन्धी उद्गीथ कहा जाता है। तथा "पशुषु पञ्चविधं सामोपासीत", "ऋतुषु पञ्चविधं सामोपासीत", "वृष्टौ पञ्चविधं सामोपासीत"—इत्यादि (छान्दोग्य अ० २, खं० ६,५,३)।

अग्निचयन की कर्ममयी, और कर्म द्वारा चिनी गईं, संचित की गईं ३६००० स्तुत्य अग्नियों को अपने भीतर देखा। आग्नेय अर्थात् प्रकाशमयी उन अग्नियों का आधान कर्म द्वारा ही चिना गया, संचित किया गया। कर्म द्वारा इन अग्नियों में ग्रहणयोग्य पदार्थों का ग्रहण किया गया। उपासकों ने कर्म द्वारा [परमेश्वर] के प्रति सामगान किये और कर्मपूर्वक मन्त्रोच्चारण किये। जो कोई कर्म यज्ञ में किया जाता है, और जो कोई यज्ञिय कर्म होता है वह कर्म द्वारा ही किया गया, उन कर्ममय और कर्म द्वारा चिने गए, संचित किये गए कर्मों में वह सब कुच्छ कर्ममय किया गया। ये प्राणी जिस किसी कर्म को करते हैं वह उन यज्ञिय कर्मों के सदृश ही कृति है उनकी अनुकृति है। उन कर्मों का वे प्राणी आधान करते हैं, उनका चयन अर्थात् संचय करते हैं। उपासक उन कर्मों के निमित्त ग्राह्यवस्तुओं का ग्रहण करते या इन्द्रियों का प्रयोग करते हैं। उन कर्मों के संचय के निमित्त सामगान करते और मन्त्रोच्चारण करते हैं। इतनी ही कर्म की विभूति है, इतनी कर्म की विविध सृष्टि है। इतना ही कर्म है अर्थात् ३६००० अग्निमय अर्थात् प्रकाशदायिनी स्तुतियां या अग्नियां।

[कर्म का अभिप्राय है शारीरिक-कर्म। ऐन्द्रियिक अर्थात् मानसिक, वाचिक, चाक्षुष और श्रावण आदि कर्मों का वर्णन पूर्व की कण्डिकाओं में हुआ है। शारीरिक-कर्म अभिव्यक्त तथा मूर्तरूप ही होते हैं। शारीरिक कर्मों में भी उन्नति की आवश्यकता है। राजस और तामस कर्म अवनत कर्म हैं। सात्त्विक कर्म ही वस्तुतः समुन्नत कर्म होते हैं। क्योंकि सात्विक कर्म अन्तिम ध्येय मोक्ष के हेतुभूत होते हैं। कर्मों का सात्विकरूप ही कर्मों का अभिव्यक्त और मूतरूप है। इन सात्विक-कर्मों द्वारा की गई परमेश्वरीय स्तुतियां प्रकाशदायिनी होती हैं। शारीरिक-सात्विक कर्मों के लिये मित तथा हितकर अन्न का ग्रहण, तथा अपरिग्रह की भावना द्वारा आवश्यक शरीरोपयोगी वस्तुओं का ग्रहण करना चाहिये। ऐसे सात्विक-कर्म यावज्जीवन करते रहना चाहिये। सात्विक-कर्म, मनुष्य को, सांसारिक लेपों में लिप्त नहीं करते। क्योंकि ये निष्काम भाव से किये जाते हैं। जैसे कि वैदिक श्रुति है कि "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ (यजु० ४०।२)]।

(छ)

सोऽयमग्निः सृष्ट ऽआविरबुभूषत्, निरुक्ततरः मूर्ततरः। स आत्मानमन्वैच्छत्, स तपो ऽतप्यत, स प्रामूर्च्छत्, स षट् त्रिँशतँ सहस्राण्यपश्यदात्मनो ऽग्नीनर्कान् अग्निमयान् अग्निचितः, त ऽअग्निनैवाधीयन्ताग्निना ऽचीयन्त, अग्निनैषु ग्रहा ऽअगृह्यन्त। अग्निना ऽस्तुवताग्निना ऽशँसन्। यत्किं च यज्ञे कर्म क्रियते, यत्किं च यज्ञियं कर्माग्निनैव। तेषु तदग्निमयेष्वग्निचित्स्वग्निमयमक्रियत। तद्यत्कि चेमानि भूतान्यग्निमिन्धते तेषामेवं सा कृतिः। तानेवादधति ताँश्चिन्वन्ति, तेषु ग्रहान् गृह्णन्ति, तेषु स्तुवते तेषु शँसन्ति। एतावती वा ऽअग्नेर्विभूतिः, एतावती विसृष्टिः। एतावानग्निः षट्त्रिँशत्सहस्राण्यग्नयोऽर्काः ॥११॥

वह अग्नि पैदा हुआ, उसने आविर्भूत होना चाहा, अर्थात् अधिक अभिव्यक्त और अधिक मूर्तरूप। उसने अपना प्रकटरूप चाहा, उसने तप अर्थात् तपस्या की, वह मूर्तरूप हो गया। उसने अपने भीतर ३६००० स्तुत्य अग्नियों को देखा, जोकि अग्निमय थीं, और अग्नि द्वारा चिनी गई थीं। उन अग्नियों का आधान अग्नि द्वारा ही किया गया, और अग्नि द्वारा ही चयन किया गया। अग्नि द्वारा इन अग्नियों में ग्रहणयोग्य पदार्थों का ग्रहण किया गया। उपासकों ने अग्नि द्वारा [परमेश्वर] के प्रति सामगान किये, और मन्त्रोच्चारण किये। जो कोई कर्म यज्ञ में किया जाता है, और जो यज्ञकर्म होता है वह सब अग्नि पूर्वक ही हुआ। उन अग्निमय और अग्नि द्वारा चिने गये, संचित किये गये कर्मों में वह सब कुच्छ अग्नि द्वारा ही किया गया। ये प्राणी जिस किसी अग्नि को समिद्ध करते हैं वह उन यज्ञिय अग्नियों की अनुकृतिरूप है। उन्हीं का वे आधान करते हैं, उन्हीं का चयन करते हैं। उन्हीं अग्नियों में ग्रहों अर्थात् ग्राह्यपदार्थों का ग्रहण करते हैं, उन्हीं में [परमेश्वर] के प्रति सामगान करते, और मन्त्रोच्चारण करते हैं। निश्चय से इतनी विभूति अग्नि की है, इतनी उस की विविध सृष्टि है, इतनी ही अग्नि है, अर्थात् प्रकाशमयी ३६००० अग्नियां।

[यह अग्नि ज्ञानाग्नि है। ज्ञानपूर्वक सब कर्म करना, ज्ञानपूर्वक

ग्राह्यवस्तुओं का उपार्जन करना, ज्ञानपूर्वक परमेश्वर के गीत गाना, तथा मन्त्रोच्चारण करना,—इनका विधान कण्डिका में हुआ है। सात्त्विक कर्म करते हुए, और उन्हें ज्ञानपूर्वक करते हुए, ज्ञानाग्नि सभी राजस-तामस कर्मों का दहन कर मोक्ष[1] प्राप्त कराती है। यथा "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन" (गीता)। वेदानुसार मनुष्य की औसतन आयु १०० वर्षों की हैं (जीवेम शरदः शतम्)। वेदानुसार एक वर्ष में दिन ३६० हैं[2]। अतः प्रतिदिन उपार्जित की गई ज्ञानाग्नियों को एक एकाई मानकर ३६० दिनों की ज्ञानाग्नियां भी ३६० होती है। अतः १०० वर्षों में ये ज्ञानाग्नियां ३६०×१००= ३६००० हो जाती हैं[3]। ये अग्नियां ज्ञानाग्नियां हैं, इसमें निम्नलिखित कण्डिका प्रमाण है। यथा,—

ते हैते विद्याचित ऽएव। हैतान् विद्याविदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्ति, अपि स्वपते,विद्यया ह वैते ऽएवं विदश्चिता भवन्ति ॥१२॥

ये अग्नियां वस्तुतः विद्या द्वारा चिनी जाती हैं,अर्थात् ज्ञान द्वारा। इस प्रकार जानने वाले के लिये सब भूतभौतिक पदार्थ सदा ज्ञाना-ग्नियों का चयन करते हैं, चाहे ज्ञानी सोया हुआ भी हो[स्वप्नावस्था में हो। जागरितावस्था में संचित ज्ञानाग्नियां ही स्वप्न में भासित होती हैं], इस प्रकार के ज्ञानी के लिये ये ज्ञानाग्नियां ज्ञान द्वारा ही चिनी जाती हैं[4]।

---

१. यथा—"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः"।

२ वृत्त अर्थात् गोल पदार्थ में ३६० डिगरियां होती हैं। पृथिवी तथा द्युलोक के वृत्तों को भी ३६० डिगरियों में बाण्टा जाता है। इन डिगरियों की दृष्टि से वर्ष को ३६० दिनों का माना है।

३. इसी प्रकार मनोमग, वाङ्मय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय और कर्ममय क्षेत्रों के भी ३६००० भाग जानने चाहियें।

४. इन कण्डिकाओं में मनस्, वाक्, प्राण, चक्षुः, श्रोत्र, कर्म और ज्ञानाग्नि में क्रमिक आविर्भाव दर्शाया है। अथवा कर्मनिष्पाद्य अग्निचयन की अग्नि अभिप्रेत है जिस द्वारा कि याज्ञिक लोग स्वःस्वरूप नाक अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति मानते हैं।

कां० १० । अध्याय ५ । ब्राह्मण ४

नानाविध अग्निचित्-अग्नियां

अध्यात्म रहस्य

१. अयं वाव लोक ऽएषो ऽग्निश्चितः ॥१॥, अर्थात् यह पृथिवी लोक वस्तुतः चयन की गई अग्नि है, अग्निचयन है। पृथिवी के गर्भ में स्थित, अग्नि, तथा पृथिवी पर प्रज्वलित की गई अग्नियों के कारण पृथिवी को अग्निश्चितः कहा है।

२. अन्तरिक्षꣳ ह त्वेवैषो ऽग्निश्चितः ॥२॥, अर्थात् अन्तरिक्ष वस्तुतः चयन की गई अग्नि है, अग्निचयन है। अन्तरिक्षस्थ वायु में विद्युत् की सत्ता के कारण अन्तरिक्ष को अग्निश्चितः कहा है।

३. द्यौर्हं त्वेवैषो ऽग्निश्चितः ॥३॥, अर्थात् द्युलोक नक्षत्र ताराओं के कारण चयन की गई अग्नि है, अग्निचयन है।

४. आदित्यो ह त्वेवैषो ऽग्निश्चितः ॥४॥, अर्थात् आदित्य निज रश्मियों के कारण चयन की गई अग्नि है, अग्निचयन है।

५. नक्षत्राणि ह त्वेवैषो ऽग्निश्चितः ॥५॥, अर्थात् नक्षत्र निज चमक के कारण चयन की गई अग्नि है, अग्निचयन है।

६. छन्दाꣳसि ह त्वेवैषो ऽग्निश्चितः ॥७॥, अर्थात् वैदिक छन्द वस्तुतः यह चयन की गई अग्नि है, अग्निचयन है। वैदिक छन्दों में ज्ञानाग्नि अथवा ब्रह्माग्नि का चयन है।

७. संवत्सरो ह त्वेवैषो ऽग्निश्चितः ॥१०॥, संवत्सर अर्थात् वर्ष वस्तुतः यह चयन की गई अग्नि है, अग्निचयन है।

८. आत्मा ह त्वेवैषो ऽग्निश्चितः ॥१२॥, आत्मा अर्थात् शरीर वा प्राण वस्तुतः यह चयन की गई अग्नि है, अग्निचयन है। इस शरीर में का ताप, तथा जीवात्मा-ज्योति अग्नि है, जो कि शरीर में चिनी हुई है।

९. सर्वाणि ह त्वेव भूतानि, सर्वे देवा ऽएषो ऽग्निश्चितः ॥१४॥ सब भूत और सब देव वस्तुतः यह चयन की गई अग्नि है, अग्निचयन है। भूत हैं पृथिवी, अप्, तेज, वायु और आकाश तथा देव हैं सूर्य, चन्द्र,

नक्षत्र, तारागण, पृथिवी तथा ओषधि वनस्पतियां आदि। इन सब में यह हिरण्मय पुरुष इन सबकी आत्मा है, और अन्तिम तत्त्व है। वह सब कामनाओं से सम्पन्न है, सब कामनाओं से सम्पन्न हुआ भी वह कामना शून्य है, क्योंकि इसे स्वार्थं किसी वस्तु की कामना नहीं है। यह आत्म-ज्योति भूतों और देवों में चिनी हुई है, अतः सब भूत और सब देव अग्निचयनरूप हैं। जैसे कि कहा है कि—"सो ऽस्यैष सर्वस्यान्तमेवात्मा, स ऽएष सर्वासामपां मध्ये, स ऽएष सर्वैः कामैः सम्पन्न ऽआपो वै सर्वे कामाः, स ऽएषो ऽकामः सर्वकामः, नह्येतं कस्यचन कामः" (श० १०।५।४।१५)। वह हिरण्मय परमेश्वर इस समग्र-जगत् की अन्तिम आत्मा है। वह व्यापक-प्रकृतिरूप सब जगत् के मध्य में स्थित है। वह सब कामनाओं से सम्पन्न है। व्यापक जगत् ही तो सर्वकाम रूप अर्थात् काम्य है। वह परमेश्वर अकाम होता हुआ, सर्वकामना वाला है। क्योंकि इसे किसी वस्तु की [स्वार्थ] कामना नहीं।

[अभिप्राय यह कि परमेश्वर महानात्म-रूप से समग्र-जगत् की आत्मा है, उस आत्मा के कारण समग्र-जगत् चेष्टावान् सा हो रहा है। उसे किसी वस्तु की स्वप्रयोजन के लिये कामना नहीं। वह समग्र जगत् का रचयिता और स्वामी है, कोई वस्तु उसके लिये अलभ्य नहीं, जिस की कि वह कामना करे। उसकी कामना परार्थ है, स्वार्थ नहीं। अतः वह अकाम है, कामना रहित है। आपः=आप्लृ व्याप्तौ, अर्थात् व्यापक प्रकृति। समग्र-जगत् व्यापक प्रकृति का ही रूपान्तर है। अपां मध्ये="अग्न्यात्मना ध्येयानां मध्ये" (सायण)]।

इस प्रकार इस ब्रह्मविद्या के वेत्ता को, समग्र-ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड के सब घटकावयव अग्निचयनरूप में दृष्टिगोचर होने लगते हैं, जिनमें कि परमपुरुष प्रजापतिरूप अग्नि चिनी हुई है। यथा,—"तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमा" (यजु० ३२।१)।

तदेष श्लोको भवति।"विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः। न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वाँसस्तपस्विन ऽइति"। न हैव तं लोकं दक्षिणाभिर्न तपसा ऽनैवंविदश्नुते ऽएवंविदाँ हैव स लोकः ॥१६॥

इस सम्बन्ध में यह श्लोक है। विद्या द्वारा [श० १०।५।३।१२] उसे पहुंच जाते हैं जिस में कि कामनाएँ नहीं हैं। यहां न दक्षिणाएँ पहुचती हैं, न अविद्वान् तपस्वीजन। अर्थात् उस लोक अर्थात् दर्शनीय सर्वात्मा को [लोक्ृ दर्शने] न ही दक्षिणाओं द्वारा, इसे न जानता हुआ न तप द्वारा प्राप्त होता है। इसे जानने वालों का ही वह लोक अर्थात् वह दर्शनीय सर्वात्मा है।

श्लोक में लोक पद द्वारा विशिष्ट स्थान भी अभिप्रेत हो सकता है जहां पहुंच कर लौकिक सब कामनाएँ मिट जाती हैं।

विशेषः--कां १०।५।३।१-१२ में "आविरबुभूषत्" में इच्छार्थक 'सन्' का प्रयोग, ऐच्छत् और तपो ऽतप्यत, तथा अपश्यत्,—आदि शब्दों का प्रयोग गौणार्थक ही है, क्योंकि मन, वाक् आदि चेतन तत्त्व नहीं। यहां केवल इस सच्चाई को दर्शनामात्र अभीष्ट है कि प्रत्येक पदार्थ में निज प्राणशक्ति है जिस द्वारा प्रत्येक वस्तु का स्वरूप बना रहता है, और उसमें संवर्धन होता रहता है और उसमें उस का पूर्ण-मूर्त्तरूप तथा पूर्ण अभिव्यक्तरूप, कालान्तर में, विकसित हो जाता है। "कालान्तर में विकसित होना" यह उस पदार्थ का तपोरूप है। बीज-निष्ठ प्राणशक्ति द्वारा तथा संवर्धन शक्ति द्वारा बीज से अङ्कुर पैदा हो कर, कालान्तर में, वृक्षरूप हो जाता है, यही बीज की पूर्ण अभिव्यक्ति तथा पूर्ण मूर्त्तरूपता है।

दशवां काण्ड सम्पूर्ण

शतपथब्राह्मण परिशिष्ट (१)

पशुहिंसाविनियुक्त मन्त्रों के अर्थ

१. युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः ।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्याऽअध्याभरत् ॥
यजु० ११।१॥ (श० ६।३।१।१२,१३)

(सविता) प्रेरक परमेश्वर, (तत्त्वाय[1]) तात्त्विक-ज्ञान के लिये (प्रथमम्) पहिले योगाभ्यासी के (मनः, धियः) मन को, और ज्ञानों तथा कर्मों को (युञ्जानः) योगाभ्यास में लगाता है,(निचाय्य) और योगाभ्यासी की योगशक्ति को देखकर (पृथिव्याः अधि) उसके पार्थिव-शरीर से (अग्नेः ज्योतिः) अग्नि की ज्योति को (आभरत्) प्रकट करता या परिपुष्ट करता है।

[योग की ओर मनुष्य की प्रवृत्ति में, तथा योगसम्पदा की प्राप्ति में, प्रेरक-परमेश्वर सहायक होता है। ध्यान में,शरीर के किसी यथोचित स्थान अर्थात् हृदय, नासिकाग्र, भ्रुकुटि आदि पर, चित्त को टिकाना होता है, और ध्यानाभ्यास की स्थिरता हो जाने पर उस-उस स्थान से अग्नि की ज्योति प्रकट होती है]।

धीः कर्मनाम (निघं० २।१) तथा प्रज्ञानाम (निघं० ३।९)

२. युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे।
स्वर्ग्याय शक्त्या ॥ यजु० ११।२॥ (श० ६।३।१।१४)

(देवस्य सवितुः) प्रेरक परमेश्वर देव की (सवे) प्रेरणा पर, (युक्तेन मनसा) योगयुक्त मन के द्वारा (शक्त्या) प्राप्त शक्ति से (वयम्) हम योगी (स्वर्ग्याय) स्वर्गीय सुख के लिये [अधिकारी होते है]।

---

१. तत्त्वाय (महीधर), तनित्वा, तनु विस्तारे, क्त्वा प्रत्ययः, "क्त्रो यक्" इति यक्।

३. युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम् ।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्र सुवाति तान् ॥
यजु० ११।३॥ (श० ६।३।१।१५)

(धिया) निज कर्मों तथा प्रज्ञा द्वारा (स्वः) सुखविशेष को तथा (दिवम्) द्युति को (यतः) प्राप्त हुओं, और (बृहत् ज्योतिः करिष्यतः) जोकि महती ब्राह्मी-ज्योति को प्रकट करेंगे उन (देवान्) देवकोटि के योगिजनों को, (सविता) प्रेरणाप्रद परमेश्वर (युक्त्वाय) अपने स्वरूप में योगयुक्त करके, (सविता) प्रेरणाप्रद परमेश्वर (तान्) उन्हें (प्र सुवाति) प्रेरणाएँ देता रहता है, या प्रेरणाएँ देता रहे।

[धिया=धीः कर्मनाम (निघं० २।१), प्रज्ञानाम् (निघं० ३।९)। देवान्='देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये" (यजु० ३१।९)। साध्याः=सिद्धाः योगिनः, साध्य+अच् (अर्श आदिभ्योऽच्, अष्टा ५।२।१२७)=साध्ययोगसम्पन्नाः। ऋषयः= मन्त्रार्थदृष्टारः। दिवम् =द्युतिं प्रकाशम्]।

४. युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥
यजु० ११।४॥ (श० ६।३।१।१६)

(विप्राः) मेधावी उपासक, (विप्रस्य) मेधावी तथा (बृहतः विपश्चितः) महाज्ञानी परमेश्वर के स्वरूप में (मनः) मन को (युञ्जते) लगाते हैं। (उत धियः) और कर्मों तथा बुद्धियों को (युञ्जते) लगाते हैं। (वयुनाविद्) प्रज्ञासम्पन्न (एक इत्) अकेला परमेश्वर ही (होत्राः) उपासकों की स्तुतिवाणियों को (वि दधे) सफल करता है। (सवितुः) प्रेरक परमेश्वर की (परिष्टुतिः) वेदों में सर्वत्र की गई स्तुति (मही) महान् है।

[विप्रः मेधाविनाम (निघं० ३।१५)। विपश्चित् मेधाविनाम (निघं ३।१५)। होत्रा=वाङ्नाम (निघं० १।११)। वयुनम् प्रज्ञानाम (निघं० ३।९)]।

५. युञ्जे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः ।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥
यजु० ११।५॥ (श० ६।३।१।१७)

(वाम्) तुम दोनों को, अर्थात् हे उपासक ! तुझे और (पूर्व्यम्) पूर्वकाल से विद्यमान अनादि (ब्रह्म) ब्रह्म को, (नमोभिः) निज नमस्कारों द्वारा (युञ्जे) मैं योगाचार्य, परस्पर जोड़ता हूं, परस्पर सम्बद्ध करता हूं। (सूरेः) विद्वान् की (पथ्या) हितकारिणी तथा कल्याणमयी वाणी (इव) के सदृश हे उपासक ! (श्लोकः) तेरी कीर्त्ति या यश (वि एतु) विशेषतया फैले। (अमृतस्य) अमृत परमेश्वर के (विश्वे पुत्राः) सब पुत्र (ये) जोकि (दिव्यानि धामानि) दिव्य धामों में (आ तस्थुः) आस्था रखते हैं, वे (शृण्वन्तु) मेरे इस कथन को सुनें।

[श्लोकः=Celebrity, fame, renown, तथा श्लोकः कीर्त्तिः (श० ६।३।१।१७)। पथ्या=वाग्वै पथ्या स्वस्तिः (श० ३।२।३।८), तथा काठक सं० २३।६)। पथ्या=हितकारिणी वाक्, यथा पथ्यमन्नम्=हितकर अन्न। तथा पथ्य=beneficial; अप्रियस्य तु पथ्यस्य श्रोता वक्ता च दुर्लभः (आप्टे)]।

६. यस्य प्रयाणमन्वन्य इद्ययुर्देवा देवस्य महिमानमोजसा।
य: पार्थिवानि विममे स एतशो रजाꣳसि देवः सविता महित्वना॥
यजु० ११।६॥ (श० ६।३।१।१८)

(यस्य देवस्य) जिस देव को (प्रयाणम्, अनु, इत्) प्रयाण के पश्चात् हो (अन्ये देवाः) अन्य सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारा आदि दिव्य पदार्थ (ययुः=प्रययुः) प्रयाण करते हैं, और (यस्य देवस्य) जिस देव के (ओजसा) ओज द्वारा (अन्ये देवाः) अन्य सूर्यादि दिव्य पदार्थ (महित्वना) निज महिमा के कारण (पार्थिवानि) पृथिवी पर प्रसिद्ध पदार्थों को, तथा (रजांसि) लोकलोकान्तरों को (विममे) नाप रखा है और उनका निर्माण किया है, (सः) वह (सवितादेवः) प्रेरक देव (एतशः) इस ब्रह्माण्ड में शयन कर रहा है या व्याप्त हो रहा है।

[प्रयाणम्=प्रलयावस्था में जगत् से पृथक् हो जाना। जब सविता निज तुर्यावस्था[1] में हो जाता है तब जगत् भी प्रकृति में लीन हो जाता है, और जब वह पुनः ओज से सम्पन्न हो जाता है, तब जगत् के पदार्थ भी अपनी-अपनी महिमा को प्राप्त हो जाते हैं। जगत् की

१. देखो, ओङ्कार-आत्मा की चतुर्थपादावस्था (माण्डूक्योपनिषद्)।

सीमा का निर्धारण हमारे लिये अशक्य है, परन्तु प्रेरकदेव ने इसकी महिमा को नाप रखा हैं। एतशः=एतत्+शेते; अथवा एतत्+अश्नुते, व्याप्नोति। सविता मानो निज प्रसुप्त शक्ति द्वारा जगत् का संचालन कर रहा है। परमेश्वर के शयन का वर्णन अन्यत्र भी हुआ है। यथा—"इयं कल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे। यस्मै कृता शये स यश्चकार जजार सः" (अथर्व० १०।८।२६), "यह कल्याणकारी, अजरा, अमरा, परमेश्वर-माता, मर्त्य के घर अर्थात् शरीर या हृदय में, जिसके लिये सोई हुई है,—वह है वह जो कि कर्म करता है और जीर्ण होता है"। जैसे सोए मनुष्य के शरीर के सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग काम करते रहते हैं, शरीर में जीवात्मा की केवल सत्ता के कारण; इसी प्रकार जगत् के सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग, जगत् में प्रसुप्त शक्तिरूप में विद्यमान परमेश्वर के सन्निधान मात्र से सक्रिय हो रहे हैं। परमेश्वर निज प्रबुद्धावस्था में तो केवल योगी के हृदय में ही प्रकट होता हैं। प्रयाणम्=Departure; प्रस्थान अपसरण (प्रयाण=परमेश्वर का निज धारण शक्ति को जगत् से निकाल लेना)]।

७. देव सवितः प्र सुव यज्ञं प्र सुव यज्ञपतिं भगाय।
दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः पुनातु वाचस्पतिर्वाचं न स्वदतुः॥
यजु० ११।७॥ (श० ६।३।१।१९)

(सवितः देव) हे प्रेरक देव! (भगाय) योगसम्बन्धी सम्पदा, धर्म, यश, ज्ञान आदि की प्राप्ति के लिये, हमारे(यज्ञम्) योगयज्ञ को (प्रसुव) प्रेरित कीजिये, और(यज्ञपतिम्) योगयज्ञ के अधिपति योगाचार्य को (प्रसुव) हमारे लिये प्रेरित कीजिये। (दिव्यः) हे सवितः! आप दिव्य गुणों तथा कर्मों वाले हैं, (गन्धर्वः) वेदवाणी तथा जगती के धारण करने वाले हैं, (केतपूः) वेदवाणी द्वारा आप हमारे ज्ञानों को पवित्र करने वाले हैं, आप (नः) हम सबके (केतम्) ज्ञानों को (पुनातु) पवित्र कीजिये, (वाचस्पतिः) आप वाणियों के अधिष्ठाता हैं (नः) हम सबकी (वाचम्) वाणियों को (स्वदतु) स्वादु अर्थात् कोमल और मधुर कीजिए।

[भगाय="ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा"। गन्धर्वः=गो (वेदवाणी+धर्वः) (धृञ् धारणे); तथा गो (गतिमान् जगत्)+धर्वः। केतपूः=केतः

प्रज्ञानाम (निघं० ३।९)+पूञ् (पवने)। वाचं स्वदतु=यथा—"वाचा वदामि मधुमत् भूयासं मधुसंदृशः" (अथर्व० १।३४।३), अर्थात् मैं वाणी द्वारा मधुर बोलता हूं, मैं मधु के सदृश हो जाऊँ] ।

८. इमं नो देव सवितर्यज्ञं प्रणय देवाव्यँ सखिविदँ सत्राजितं धनजितँ स्वर्जितम् । ऋचा स्तोमँ समर्धय गायत्रेण रथन्तर बृहद् गायत्रवर्त्तनि स्वाहा ।। यजु० ११।८।। (श० ६।३।१।२०)

(देव सवितः) हे प्रेरक देव ! (देवाव्यम्) तुझ देव द्वारा सुरक्षा के योग्य, (सखिविदम्) तुझ सखा को प्राप्त कराने वाले, (सत्राजितम्) यथार्थ ज्ञान पर विजय कराने वाले अर्थात् यथार्थज्ञान के प्रदाता, (धनजितम्) योग सम्पदा पर विजय कराने वाले, उसके प्रदाता (स्वर्जितम्) तथा उत्तम सुखों के प्रदाता आप (नः) हमारे (इमम् यज्ञम्) इस योगयज्ञ को (प्रणय) सन्मार्ग में प्रवृत्त कीजिये । (ऋचा) ऋग्वेद के मन्त्रों द्वारा (स्तोमम्[1]) हमारी स्तुतियों को (समर्धय) समृद्धिसम्पन्न कीजिए, (गायत्रेण[2]) गायत्री छन्द द्वारा सम्पन्न (रथन्तरम्) रथन्तर सामगान को समृद्धिसम्पन्न कीजिए। (गायत्रवर्तनि[3]) गायत्रीछन्दवर्ती (बृहद्) बृहद् नामवाले सामगान को समृद्धिसम्पन्न कीजिए। (स्वाहा) हम आपके प्रति आत्मसमर्पण करते हैं।

[सखिविदम्='द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'(अथर्व० ९।९।२०)द्वारा जीवात्मा और परमात्मा को परस्पर सखा कहा है । योगसाधना द्वारा जीवात्मा, परमेश्वर-सखा को प्राप्त करता है । सत्रा सत्यनाम (निघं० ३।१०) । प्रणय=यथा—"अग्ने नय सुपथा राये ऽस्मान्" (यजु० ४०।१६) । रथन्तरम्, बृहद्=ये दो सामगान हैं । सामगान द्वारा चित्तवृत्ति सात्त्विक बनती तथा स्थिरता को प्राप्त होती है, चित्तवृत्तियों की सात्त्विकता तथा स्थिरता योगसाधना में उपकारी है ।

---

१. अथवा ऋचाओं के परस्पर मेल द्वारा सम्पादित त्रिवृत् आदि गेय को।

२. अथवा गायत्र सामगान सहित रथन्तर सामगान को ।

३. अथवा गायत्र सामगान है मार्ग जिसका उस बृहत्-नाम वाले सामगान को ।

स्वाहा=सु+आ+हा (ओहाक् त्यागे), उत्तमतया तथा पूर्णतया परमेश्वर के प्रति आत्मसमर्पण। इसे "ईश्वरप्रणिधान" भी कहते हैं]।

याज्ञिक व्याख्या

ये ८ मन्त्र स्पष्टतया योगविद्या का प्रतिपादन करते हैं। इनमें अग्निचयन सम्बन्धी किसी विधि का विधान लेशमात्र भी प्रतीत नहीं होता। तो भी याज्ञिक व्याख्याकारों ने इन मन्त्रों में भी याज्ञिक क्रियाओं का प्रवेश कर दिया है। यथा—मन्त्र १ में "अग्ने ज्योतिर्निचाय्य" का अर्थ "चीयमानस्य वह्नेः सम्बन्धि तेजः निश्चित्य", तथा "पृथिव्याः" का अर्थ "पशुशरीरान्वितायाः भूमेः", और "धियः" का अर्थ "बुद्धीरिष्ठकादिविषयाणि ज्ञानानि" आदि किया है। इसी प्रकार अवशिष्ट ७ मन्त्रों में भी स्थान-स्थान में स्वाभीष्ट याज्ञिक-पद्धतियों का प्रवेश कर दिया है। (देखो महीधर)।

९. मधुवाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः॥ यजु० १३।२७॥ (श० ७।५।१।४)

(वाताः) वायुएँ (मधु) मधुरता के साथ (ऋतायते=ऋतायन्ते) जल[1] के समान चलती हैं, वहती हैं। (सिन्धवः) स्यन्दन करने वाली नदियाँ (मधु) मधुर जल को (क्षरन्ति) प्रस्रवित करती हैं। हे परमेश्वर! (नः) हमारे लिये (ओषधीः) ओषधियाँ (मधु सन्तु) मधुर रसवाली हों। मधु=उदकम् (निघं० १।१२)।

१०. मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवं रजः।
मधु द्यौरस्तु नः पिता॥ यजु० १३।२८॥ (श० ७।५।१।४)

[हे परमेश्वर!] (नक्तम्) रात्रि (उत) तथा (उषसः) उषाकाल (नः) हमारे लिये (मधु) मधुर हों, (पार्थिवं रजः) मनोरंजक

---

१. यजुर्वेद भाष्य, महर्षिदयानन्द। ऋतायते=ऋतायन्ते। ऋतम् उदकनाम (निघं० १।१२)। ऋतमिवाचरन्ति (क्यङ्)। वसन्तर्तु में नदियों के जल जैसे शान्तरूप अर्थात् मधुरूप में प्रस्रवित होते हैं, वैसे वायुएं भी मधुररूप में बहती हैं।

पृथिवीलोक (मधुमत्) मधुर हो। (द्यौः) द्युलोक (मधु) मधुर, और (पिता) के सदृश पालक और रक्षक (अस्तु) हो।

११. मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ २ अस्तु सूर्यः।
माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥ यजु० १३।२९॥ (श० ७।५।१।४)

हे परमेश्वर! (वनस्पतिः) वनस्पति जगत् (नः) हमारे लिये (मधुमान्) मधुर हो, (सूर्यः) सूर्य (मधुमान्) मधुर (अस्तु) हो। (नः) हमारे लिये (गावः) गौएँ (माध्वीः) मधुर दुग्ध देने वाली (भवन्तु) हों।

[मन्त्र १३।२५ में "मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू" द्वारा वसन्त ऋतु का वर्णन हुआ है, जिस ऋतु में कि पुष्पों में मधु का संचय होता है। मन्त्र १३।२६ में "सहस्रवीर्या आषाढा" अर्थात् हजारों बलवाली अपराभवनीया सेना का वर्णन हुआ है। तथा "सहस्व पृतनायतः" द्वारा सेना के प्रति कहा है कि तू उसका पराभव कर जो कि पृतना अर्थात् सेना द्वारा हम पर आक्रमण करना चाहता है। वसन्त ऋतु में शैत्य कम हो जाने पर विजयैषी राजा के लिये विजय निमित्त आक्रमण सुलभ हो जाता है। तथा प्राकृतिक हृदय मधुर प्रतीत होने लगते हैं। ओषधियों और वनस्पतियों में नवरसों का संचार होने लगता है। दिन, रात, तथा उषाएँ भव्य प्रतीत होने लगती हैं। वायुएँ मधु अर्थात् सुखद रूप में बहने लगती हैं। सूर्य का ताप भी मधुर हो जाता है, न अधिक ठण्डा और न अधिक गर्म। नदियाँ भी मधुर अर्थात् सुखस्पर्शि रूप में मधुर जल प्रवाहित करने लगती हैं, शीतकाल में नदियों का जल सुखस्पर्शि नहीं होता। तथा वर्षर्तु मे नदियों का जल मटियाला हो कर मधुर नहीं रहता[1]]।

---

१. याज्ञिक पक्ष में इन तीन मन्त्रों (१३।२७,२८,२९) को पढ़कर (कूर्म) (कछुए) को दधि, मधु और घृत द्वारा चुपड़ा जाता है। यथा—"तमभ्यनक्ति दध्ना मधुना घृतेन" (श० ७।५।१।३,४)। परन्तु इन मन्त्रों में कूर्म के अभ्यञ्जन अर्थात् चुपड़ने का कोई निर्देश नहीं। मन्त्रों में न तो कूर्म पद है, और न दधि और घृत पद। सम्भवतः मन्त्रों में "मधुपद" देखकर मधु की, और "गावः" पद देखकर गोदुग्धजन्य दधि और घृत की भी कल्पना कर ली हो।

१२. अपां गम्भन्सीद मा त्वा सूर्यो ऽभिताप्सीन्माग्निर्वैश्वानरः।
अच्छिन्नपत्राः प्रजा अनुवीक्षस्वानु त्वा दिव्या वृष्टिः सचताम्॥
यजु० १३।३०॥ (श० ७।४।१।८)

(अपाम्) जल अर्थात् रक्त के (गम्भन्) गम्भीर स्थान हृदय में (सीद) तू बैठ, ध्यानावस्थित हो। इस अवस्था में (त्वा) तुझे (सूर्यः) सूर्य (मा अभिताप्सीत्) न तपाए, (मा) और न (वैश्वानरः अग्निः) सब नरों-नारियों का हितकारी पार्थिव-अग्नि तुझे तपाए। (अच्छिन्नपत्राः) अखण्डित पत्तों वाले वृक्षों और ओषधियों के सदृश शोभायमान तथा सम्पन्न प्रजाओं की (अनुवीक्षस्व) निरन्तर देखभाल किया कर। (दिव्या वृष्टिः) समाधिजन्य दिव्य वृष्टि [न कि अन्तरिक्ष की वृष्टि] (त्वा) तुझे (सचताम्) प्राप्त हो।

["अपाम्" पद रक्तरूपी जलों के लिये भी प्रयुक्त होता है। (अथर्व० १०।२।११)[1] योगी जब समाधिस्थ हो जाता है तब उसे न सूर्य का ताप अनुभूत होता है, और न पार्थिवाग्नि का ताप। उस पर दिव्यानन्दवृष्टि होती रहती है। ऐसे योगी को निर्देश दिया है कि तू प्रजाओं की निरन्तर देखभाल किया कर। महीधर ने इस मन्त्र का विनियोग कूर्मपरक किया है, और साथ ही यह भी कहा है कि "कूर्मः प्रजापतिरादित्यो वा" (यजु० १३।३०)]।

---

१. को अस्मिन्नापो व्यदधाद् विषूवृतः पुरूवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः।
तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः॥
अथर्व० १०।२।११

किसने इस पुरुष में आपः अर्थात् जल स्थापित किये हैं, जोकि पुरुष में सब शरीर में विद्यमान हैं, और परिमाण में पुरू अर्थात् बहुमात्रा में वर्तमान हैं, तथा जो सिन्धु की ओर तथा उस से शरीर में सरण करने के लिये उत्पन्न हुए हैं, जो स्वाद में तीव्र, चमकीले, लाल या लोहमिश्रित हैं, तथा ताम्बे के धूएं सदृश नीले हैं, जो ऊपर की ओर, नीचे की ओर तथा टेढ़ी-मेढ़ी गतियां करते हैं। धमनियों में रक्तरूपी आपः लाल होते हैं, और शिराओं में ताम्रधूम सदृश नीले। ताम्बे को अग्निज्वाला में प्रतप्त करने पर अग्नि का वर्ण नीला हो जाता है।

१३. त्रीन्त्समुद्रान्त्समसृपत्स्वर्गानपांपतिर्वृषभ इष्टकानाम् ।
पुरीषं वसानः सुकृतस्य लोके तत्र गच्छ यत्र पूर्वे परेताः ॥
यजु० १३।३१॥ (श० ७।५।१।१६)

पूर्वोक्त योगी (स्वर्गान्) सुखप्राप्तकारी (त्रीन् समुद्रान्) ब्रह्मचर्य गृहस्थ और वानप्रस्थरूपी तीन समुद्रों को (सम् असृपत्[1]) सम्यक् तया लांघ आया है, वह (अपांपतिः) वह निज रस-रक्त या प्राणों का स्वामी है, (इष्टकानाम्) वह प्रजाओं पर उनके अभीष्टों को सिद्ध करने वाले सदुपदेशों की (वृषभः) वर्षा करता है। (सुकृतस्य लोके) वह सुकर्मी योगियों की समाज में (पुरीषं वसानः) जलवत् स्वच्छ तथा शान्तिदायक शरीर को ओढ़े हुए होता है। हे योगिन् (तत्र गच्छ) वहाँ तू जा (यत्र) जहाँ (पूर्वे) पूर्वकाल के योगी (परेताः) गए हैं।

[मनु० (६।९०) में गृहस्थ को समुद्र सदृश कहा है यथा —"नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्। तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्" (सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थसमुल्लास)। तथा महर्षिदयानन्द ने ब्रह्मचर्याश्रम को समुद्र कहा है (ब्रह्मचर्याश्रम, ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका)। "योगी निज रक्त-रस और प्राणों का स्वामी है" इसका अभिप्राय यह है कि वह निज शरीर का नियन्ता है। पुरीष का अर्थ है उदक (निघं० १।१२)। योगी की आत्मा मानो, उदकवत् स्वच्छ और शान्त हुई शरीर वस्त्र की ओढ़नी ओढ़े हुई है। गीता में भी शरीर को वस्त्रवत् निर्दिष्ट किया है (२।२२)। इष्टकानाम् = इष्टं कुर्वन्ति सम्पादयन्तीति इष्टकाः"]।

१४. मही द्यौः पृथिवी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम् ।
पिपृतां नो भरीमभिः ॥ (यजु० १३।३२), श० ८।५।१।१०

(मही) महान् अर्थात् महाचेता (द्यौः पृथिवी च) द्यौः सदृश गृहस्थ

---

१. "असृपत" में सर्पणक्रिया द्योतित होती है, जोकि कूर्म में स्वभावतः है। कूर्म शीघ्रगतिवाला प्राणी नहीं। योगी आदि व्यक्तियों में सर्पणक्रिया का सम्बन्ध इसलिये किया प्रतीत होता है कि १०० वर्षों की आयु में व्यक्ति लगभग पच्चीस-पच्चीस वर्ष एक-एक आश्रम समुद्र को पार करने में लगा देता है। पार्थिव किसी भी समुद्र के पार करने में इतने वर्ष नहीं लगते। अतः सर्पण द्वारा मन्दगति द्योतित की है।

पुरुष, और पृथिवी सदृश गृहस्थिन् स्त्री (नः) हम उपासकों के (इमं यज्ञम्) इस योगसाधनारूपी यज्ञ को (मिमिक्षताम्) निज प्रेम-रस से सींचने की इच्छा वाले हों, (नः) तथा हमें(भरीमभिः) भरण-पोषण की सामग्रियों द्वारा (पिपृताम्) पालित करें।

[योगिजन धन नहीं अर्जित करते। उनका पालन-पोषण उदार-गृहस्थी ही करते हैं। "मही" का अभिप्राय है उदार। मन्त्र में "मिमिक्षताम्" पद सन्नन्त मिह (सेचने) द्वारा उपपन्न होता है। जड़ द्यौः और जड़ पृथिवी में इच्छा नहीं होती। अतः द्यौः और पृथिवी के लाक्षणिक अर्थ किये हैं। कहा भी है "**द्यौरहं पृथिवी त्वं ताविह सं भवाव प्रजामा जनयावहै**" (अथर्व० १४।२।७१)। विवाह काल में वर करता है वधू को कि मैं द्यौः हूं और तू पृथिवी है। हम दोनों इकट्ठे हों या परस्पर मिलें, और प्रजा को उत्पन्न करें।

द्यौः द्वारा सींची गई पृथिवी स्थावर-जङ्गम सृष्टि को उत्पन्न करती है। इसी प्रकार पति द्वारा सींची गई पत्नी प्रजा को उत्पन्न करती है। इन तीन मन्त्रों के आधिभौतिक मिश्रित अध्यात्मिक अर्थ किये हैं। आधिदैविक अर्थ भी इनके अभिप्रेत हैं]।

विशेषः—यजु० १३।२७-३२ के ६ मन्त्रों में किसी भी मन्त्र में कूर्म का वर्णन नहीं। इसलिये कूर्म के चुपड़ने तथा उसके तीन समुद्रों में सर्पण का वर्णन काल्पनिक है। मन्त्र १३।२७-२९ में "मधु" पद पठित है, तथा "गावः" पद भी पठित है। इन पदों के कारण सम्भवतः मधु,दधि, घृत की कल्पना की गई हो। तथा "**अपां गम्भन् सीद**" (१३।३०) और "**त्रीन् समुद्रान् समसृपत्**"(१३।३१) द्वारा सम्भवतः कूर्म की कल्पना की गई हो। क्योंकि कूर्म जलवासी है। उपर्युक्त कल्पनाएँ शतपथ ब्राह्मण तथा तदनुसारी महीधर आदि भाष्यकारों ने की हैं। कूर्म का अर्थ कछुवा है।

कूर्म का पर्यायवाची शब्द है कश्यप (श० ७।५।१।५)। कछुआ या कच्छप,कश्यप का विकृतरूप है। ज्योतिष के नक्शों में एक तारा-मण्डल है काश्यपीय-तारामण्डल, जिसे अंग्रेजी में Cassiopeia Constellation कहते हैं।

यथा—"In the north, it [आकाश गङ्गा] flows through

the Constellation Kashpiya (काश्यपीय), Cassiopeia of the west" (Popular Hindu Astronomy, by कालिनाथ मुखेर जो)। अर्थात् उत्तर में यह आकाश-गङ्गा काश्यपीय तारामण्डल में गुजरती है जिसे कि यूरोपवासी Cassiopeia कहते हैं।

१५. सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः।
घृतस्य धारा अभिचाकशीमि हिरण्यो वेतसो मध्ये अग्नेः॥
यजु० १३।३८॥ (श० ७।५।२।६-१२)

(अन्तर्हृदा मनसा) हृदयस्थ मन द्वारा (पूयमानाः) पवित्र होती हुईं (धेनाः) दुधार गौओं के सदृश फलदायिनी स्तुतिवाणियाँ (सरितो न) सरण करने वाली नदियों के सदृश (सम्यक्) ठीक प्रकार से (स्रवन्ति) प्रवाहित हो रही हैं। (घृतस्य) प्रकाश की (धाराः) धाराओं को (अभिचाकशीमि) अपने सम्मुख में देख रहा हूं, (अग्नेः) अग्नि के प्रकाश के (मध्ये) मध्य में (हिरण्ययः) हिरण्य सदृश चमकीला (वेतसः) जगत्पट का बुनने वाला [परमेश्वर] विद्यमान् है।

[याज्ञिकार्थों के अनुसार पञ्चपशुपक्ष में पांचपशुसिरों के मुखों में एक-एक हिरण्य-शकल, तथा एकपशुपक्ष में केवल बकरे के सिर के मुख में एक हिरण्यशकल स्थापित किया जाता है। मन्त्र में "हिरण्य वेतस" में हिरण्यय शब्द देखकर यह कल्पना कर ली प्रतीत होती है।

मन्त्र में कहा है कि मुझ उपासक के हृदयस्थ-मन अर्थात् मनन द्वारा पवित्र हुईं मेरी स्तुतिवाणियाँ, स्वतः प्रवाहित होने वाली नदियों के सदृश, अनायासेन स्वाभाविकतया प्रवाहित हो रही हैं, और मैं परमेश्वरीय प्रकाशों की धाराओं अर्थात् प्रवाहों को अपने अभिमुख प्रत्यक्ष देख रहा हूं, और इन प्रकाशधाराओं में,—जोकि अग्निरूप हैं,—अग्निस्वरूप परमेश्वर के हिरण्यमय स्वरूप को भी देख रहा हूं, जोकि वेतस अर्थात् जगत्पट का बुनने वाला है। घृतस्य=घृ (दीप्तौ)+क्त। वेतसः—"वेञस्तुट् च" (उणा० ३।११८) द्वारा "वेञ् तंतुसंताने" के अनुसार तन्तु संतानार्थक वेञ् धातु से निष्पन्न है। "वयति संतनोतीति वेतसः" महर्षि दयानन्द। वेतस शब्द के लिये देखो (अथर्व० १०।७।४१,४२)]।

१६. **ऋचे त्वा रुचे त्वा भासे त्वा ज्योतिषे त्वा ।**
अभूदिदं विश्वस्य भुवनस्य वाजिनमग्नेर्वैश्वानरस्य च ॥
यजु० १३।३९॥ (श० ७।५।२।१-१२)

हे हिरण्यय वेतस ! [यजु० १३।३८] (ऋचे त्वा) तेरी स्तुति के लिये तुझे, (ज्योतिषे त्वा) तेरी ज्योति के लिये तुझे [अभिचाकशीमि, यजु० १३।३८] अपने सम्मुख मैं तुझे देख रहा हूं। (इदम्) यह ब्रह्म (विश्वस्य भुवनस्य) समग्र ब्रह्माण्ड का, (च) और (वैश्वानरस्य अग्नेः) सब नर-नारियों अर्थात् नर-मादाओं के लिये हितकर अग्नि [सूर्यादि] का, (वाजिनम्) बलरूप (अभूत्) हुआ है।

[याज्ञिक पद्धति में "ऋचे त्वा" द्वारा पशु के बाएँ नासिका छिद्र में, और "रुचे त्वा" द्वारा दाएँ नासिका छिद्र में एक-एक हिरण्यशकल डाला जाता है "भासे त्वा" द्वारा बाईं आंख में, और "ज्योतिषे त्वा" द्वारा दाहिनी आंख में एक-एक हिरण्यशकल डाला जाता है। 'अभूदिदं विश्वस्य भुवनस्य वाजिनम्" तथा "अग्नेर्वैश्वानरस्य च" इन दो मन्त्र खण्डों द्वारा दो श्रोत्रों में एक-एक हिरण्यशकल डाला जाता है।

मन्त्र १३।३८ में "हिरण्ययः" शब्द देख कर, मन्त्र १३।३९ में हिरण्ययशकलों के डालने की विधि कल्पित करली है। यह याज्ञिकों की लोभवृत्ति की प्रदर्शिका है।

पञ्चपशुपक्ष में ५ पशुओं की इन्द्रियों में, और एक पशुपक्ष में केवल बकरे की इन्द्रियों में हिरण्यशकल डाले जाते हैं। मन्त्र में "वाजिनम्" का अर्थ है "बल"। यथा—"उद्धर्ष तां मघवन् वाजिनानि" (अथर्व० ३।१९।६) में वाजिनानि=बलानि]।

१७. **आदित्यं गर्भं पयसा समङ्ग्धि सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपम् ।**
परि वृङ्ग्धि हरसा माभिमꣳस्थाः शतायुषं कृणुहि चीयमानः॥
यजु० १२।५१॥ (श० ७।५।२।१७)

जैसे माता (गर्भम्) निज शिशु को (पयसा) निज दुग्ध के द्वारा (समङ्ग्ध) सम्यक्तया कान्तिसम्पन्न करती है, वैसे हे आचार्य ! (सहस्रस्य) हजारों पदार्थों में (प्रतिमाम्) प्रत्यक्षरूप में ज्ञाता, तथा (विश्वरूपम्) विश्व का निरूपण करने वाले (आदित्यम्) आदित्यब्रह्मचारी को (पयसा) ज्ञान-दुग्ध द्वारा (समङ्ग्धि) सम्यक्तया

कान्तिसम्पन्न कीजिये। (हरसा) और निज पापहरणशक्ति द्वारा (परिवृङ्ग्धि) इस ब्रह्मचारी को पाप से वर्जित कीजिये, पृथक् कीजिये। (अभिमंस्थाः मा) इस सम्बन्ध में अभिमान न कीजिये। (चीयमानः) ब्रह्मचारियों द्वारा वृद्धि को प्राप्त हुए आप (शतायुषम्) आदित्य ब्रह्मचारी को १०० वर्षों की आयु वाला कीजिये।

[गर्भम्=गर्भः A child (आप्टे।) मन्त्र में लुप्तोपमा है, गर्भमिव। मा अभिमंस्थाः=आचार्य को कहा है कि "मैंने शिक्षा द्वारा आदित्य ब्रह्मचारी शिक्षित किये हैं, एतत्सम्बन्धी अभिमान न कीजिये"। चीयमानः=ब्रह्मचारियों की संख्या द्वारा वृद्धि को प्राप्त होता हुआ आचार्य। इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य (अथर्व० ११।५।१-२६) ब्रह्मचर्य सूक्त। "शतपथ ब्राह्मण, उव्वट तथा महीधर के याज्ञिक अर्थों के अनुसार, पुरुष के कटे सिर को अग्निचयन में स्थापित करने का विधान यजु० (१३।४१) में है जोकि मन्त्र के अभिप्राय के नितान्त प्रतिकूल है"। "मा [1]अभिमंस्थाः" का "न हिंसा कर"—यह अर्थ मानते हुए भी जो याज्ञिक पुरुष के सिर को काटकर उसे अग्निचयन की वेदि में स्थापित करते हैं, वे अपने किये अर्थ और क्रिया में परस्पर विरोध पर विचार नहीं करते]।

१८. वातस्य जूतिं वरुणस्य नाभिमश्वं जज्ञानꣳ सरिरस्य मध्ये।
शिशुं नदीनाꣳ हरिमद्रिबुध्नमग्ने मा हिꣳसीः परमे व्योमन्॥
यजु० १३।४२; (श० ७।५।२।१०)

(वातस्य) वायु को (जूतिम्) गति देने वाले, (वरुणस्य नाभिम्) आकाश का आवरण करने वाले मेघ को आकाश में बान्धने वाले, (नदीनाम्) नदियों को (शिशुम्) तनुकृत् करने वाले, (हरिम्) अन्धकार का हरण करने वाले, (अद्रिबुध्नम्) मेघ के मूलकारणभूत, (सरिरस्य) सरणशील अर्थात् गतिशील संसार के (मध्ये) बीच में (जज्ञानम्) पैदा हुए सूर्य के समान उपकारी (अश्वम्) अश्व-प्राणी को (अग्ने[2]) हे अग्रणि! यज्ञ के अग्रनेतः यजमान! (परमे व्योमन्) परमरक्षास्थान यज्ञशाला या महाकाश में (हिंसीः मा) हिंसा न कर।

---

१. मा अभिमंस्थाः=अभिपूर्वको मन्यतिर्हिंसाकर्मा (महीधर)।
२. अग्निः अग्रणीर्भवति (निरुक्त ७।४।१४)।

[वातस्य=वायु में गति सूर्य के ताप के कारण होती है। वरुणस्य=वृञ् वरणे, आवरण करने वाले मेघ को आकाश में बान्धे रखने वाला सूर्य है। सूर्य के ताप से समुद्र का जल, वाष्पीभूत होकर, आकाश में स्थित होता है। (नाभिम्) नह, बन्धने। (सरिरस्य) सृ गतौ। (नदीनां शिशुम्) श्यति तनू करोतीति (उणा० १।२०, महर्षि दयानन्द)। ग्रीष्म ऋतु में प्रखर ताप के कारण सूर्य नदियों को तनुकृत् कर देता है, सुखा देता है। (हरिम्) हृञ् हरणे। सूर्य निज प्रकाश के कारण अन्धकार का अपहरण करता है। अद्रिबुध्नम्=अद्रिः=मेघ (निघं० १।१०)+बुध्नम् (जड़, मूल)। वर्षाऋतु में मेघ का मूलकारण सूर्य ही होता है। अश्वम्=लुप्तोपमा,अश्वमिव अश्वम्, अर्थात् सूर्य के सदृश उपकारी अश्वप्राणी। अश्वः=सूर्यः। यथा—"सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा" ऋ० (१।१६४।२); एकोऽश्वो वहति सप्तनामा=आदित्यः(निरुक्त ४।४।२७)। व्योम="यद्वा विविधम्, ओम् अवनं रक्षणं, परममुत्कृष्टं यद् तद्" (महीधर, यजु० १३।४२)।

लुप्तोपमा द्वारा सूर्य समान उपकारी अश्व की हिंसा का निषेध मन्त्र में है यथा—"मा हिंसीः"। फिर भी याज्ञिक, अश्व का सिर काट कर, अग्निचयन की वेदि पर रखते हैं]।

१९. अजस्रमिन्दुमरुषं भुरण्युमग्निमीडे पूर्वचित्तिं नमोभिः।
स पर्वभिर्ऋतुशः कल्पमानो गां मा हिंसीरदितिं विराजम्॥
यजु० १३।४३॥ (श० ७।५।२।१९)

(अजस्रम्) अमर, (इन्दुम्) चन्द्रसम-शीतलस्वभाव वाले या परमैश्वर्यवान्, (अरुषम्) रोषरहित, (भुरण्युम्) भरण-पोषण करने वाले, (पूर्व चत्तिम्) पूर्व अर्थात् अनादिकाल से, "चित्तिम्" चेतनस्वरूप, (अग्निम) आगे अर्थात् उन्नति पथ पर ले जाने वाले परमेश्वर की (नमोभिः) नमस्कारों द्वारा (ईडे) मैं स्तुति करता हूं, और उससे याचना करता हूं कि (सः) वह आप,-(पर्वभिः) चान्द्रपर्वों द्वारा (ऋतुशः) ऋतु-ऋतु में (गाम्) गौ को (कल्पमानः) सामर्थ्ययुक्त करते हुए,-(अदितिम्) अनवखण्डनीया और (विराजम्) दीप्यमान अर्थात् शोभायमान गौ की (हिंसीः मा) हिंसा न होने दीजिये या पूर्णायु से पूर्व उसकी मृत्यु न कीजिये।

[अजस्रम्=अ+जसु (हिंसायाम् चुरादिः) अर्थात् जिसकी हिंसा नहीं हो सकती, जो अमर है। इन्दुम्=इदि परमैश्वर्ये, इन्दतीति इन्दुः, ऐश्वर्योपेतम् (महीधर)। भुरण्युम्=भर्तारं सर्वेषां पोष्टारम् (महीधर)। अग्निम्=अग्रं नयति। यथा—"अग्ने[1] नय सुपथा"। (यजु० ४०।१६)

ईडे=ईड स्तुतौ, तथा "इट्टे याचामि" (निरुक्त० ७।४।१५)। कल्पमानः=क्लृपु सामर्थ्ये। अदितिम्=आ+दो (अवखण्डने)+क्तिन्; अथवा अ+दीङ् (क्षये)+क्तिन्। परमेश्वर से प्रार्थना की गई है कि गौ की नियत जीवनावधि से पूर्व आप उसकी हिंसा न होने दीजिये या न कीजिये; ऐसी अवस्था में मन्त्र किसी ऋत्विक् आदि को, परमेश्वरकृत जीवनायुः से पूर्व गौ की हत्या की अनुज्ञा कैसे दे सकता है। परन्तु ऋत्विक् फिर भी गौ के सिर को काट कर सिर को वेदि में चिनते हैं]।

२०. वरूत्रीं त्वष्टुर्वरुणस्य नाभिमविं जज्ञानाँ रजसः परस्मात्।
महीँ साहस्रीमसुरस्य मायामग्ने मा हिँसीः परमे व्योमन्॥
यजु० १३।४४॥ (श० ७।५।२।२०)

(त्वष्टुः) कारीगर परमेश्वर की [सृष्टि में] या छेदन-भेदनकर्त्ता सूर्य के [सौरमण्डल में] (वरूत्रीम्) प्रावृत अर्थात् आच्छादित करने वाली [ऊन निर्मित वस्त्रों द्वारा]। (वरुणस्य) वरण किये गए सम्राट् के राष्ट्र में (नाभिम्) नाभि के समान पालन करने वाली, (परस्मात्) श्रेष्ठ (रजसः) रञ्जक पृथिवीलोक के (जज्ञानाम्) उत्पन्न, (महीम्) महिमा वाली, (साहस्रीम्) हजारों प्रकार से उपकार करने वाली, (असुरस्य) सम्पत्तिशाली, प्रज्ञासम्पन्न परमेश्वर की (मायाम्) कृतिरूप (अविम्) भेड़ की,—(अग्ने) हे अग्रणी यजमान! (परमे व्योमन्) परमरक्षास्थान यज्ञशाला तथा महाकाश में (हिंसीः मा) हिंसा न कर।

[वरूत्रीम्=वृणोति छादयति कम्बलादिना (महीधर)। वरुणस्य द्रष्टव्य (यजु० १३।५०)। रजसः=रजांसि वै लोकाः (निरुक्त ४।३।३९), पृथिवीलोक सर्वाधिक रञ्जक है। परस्मात्=श्रेष्ठ (महर्षि

१. "अग्ने नय" में "नय" द्वारा अग्नि में "नी" (णीञ्) धातु के प्रयोग को सूचित किया है।

दयानन्द)। असुरस्य=वसुरस्य, "व" आदिलुप्तम्; प्रज्ञावत्वम् वा (निरुक्त १०।३।३४)। मायाम्=निर्मितिरूपाम्। मन्त्र में स्पष्ट कहा है "अविं मा हिंसीः", तब भी याज्ञिक लोग भेड़ का सिर काट कर, सिर को अग्निचयन की वेदि में स्थापित करते हैं। वरुणस्य राज्ञः, यथा— "निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा। साम्राज्याय सुक्रतुः। मृत्योः पाहि विद्योत् पाहि" (यजु० २०।२)]।

२१. यो अग्निरग्नेरध्यजायत शोकात्पृथिव्या उत वा दिवस्परि।
येन प्रजा विश्वकर्मा जजान तमग्ने हेडः परि ते वृणक्तु॥
यजु० १३।४५॥ (श० ७।५।२।२१)

(यः) जो (अग्निः) अग्नि (अग्नेः) [अरणि जन्य] अग्नि से, (पृथिव्याः) जो पृथिवी की (शोकात्) दीप्ति से, (उत वा) अथवा (दिवः परि) जो द्युलोक से अर्थात् सूर्य से (अध्यजायत) उत्पन्न हुई है, (येन) तथा जिस अग्नि द्वारा (विश्वकर्मा) विश्व के कर्त्ता ने (प्रजाः) प्रजाओं को (जजान) उत्पन्न किया है, (तम्) उस प्रत्येक अग्नि को,—(अग्ने) हे अग्रणी यजमान! (ते) तेरी (हेडः) अनादर भावना (परिवृणक्तु) परित्यक्त करे, अर्थात् उन अग्नियों का तू निरादर न कर, उनका सदुपयोग तथा प्रयोग कर। इन अग्नियों के लिये पशुओं के सिर काटने, मानों अग्नियों का निरादर करना है।

[शोकात्=शुच् दीप्तौ घञन्तः (महीधर)। हेडः=हेडृ अनादरे, तथा Disregard (आप्टे)। अग्नि, अरणिजन्य अग्नि से, तथा पृथिवी की उद्दीप्ति अर्थात् ज्वालामुखी पर्वतों से, तथा सूर्य के ताप से उत्पन्न होती है। सूर्य की रश्मियों द्वारा शक्ति (Energy) प्राप्त करने के लिये वर्तमान में अनुसन्धान किये जा रहे हैं। विश्वकर्मा ने अग्नि द्वारा विश्व को उत्पन्न किया है, "तस्माद्वा ऽएतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निरग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः" (तैत्तिरियो उपनिषद्) इस प्रमाण में अग्नि को प्रजोत्पत्ति का कारण दर्शाया है। इसी प्रकार "ततो विराडजायत विराजोऽधिपूरुषः। स जातोऽत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथोपुरः"। (यजु० ३१।५) में परमेश्वर-पुरुष से विराट् अर्थात् विशेषतया दीप्त "अग्निपिण्ड" की उत्पत्ति कह कर उसके

अतिविभाजन के पश्चात् भूमि तथा जीवात्माओं की देह-पुरियों की उत्पत्ति दर्शाई है। इस मन्त्र में भी अग्निपूर्वक प्रजोत्पत्ति कही है।

तथा **"तदण्डमभवदेकं सहस्रांशुसमप्रभम्"** (मनु०) में भी अण्डाकृतिक तथा सूर्यसदृश प्रभावाले आग्नेयपिण्ड से जगदुत्पत्ति कही है। इसलिये व्याख्येय मन्त्र में "येन" पद द्वारा अग्निपूर्वक प्रजोत्पत्ति का कथन प्रमाणों द्वारा परिपुष्ट है। परन्तु उव्वट तथा महीधर ने, यथाक्रम, मन्त्रस्थ "यो अग्निः" पदों के अर्थ "यः अजः अग्निः", तथा "योऽग्निरग्निरूपोऽजः" कर दिये हैं। तथा मन्त्रस्थ "येन प्रजाः" के उव्वट में "येनाजेन", तथा महीधर ने "येनाजेनवाग्रूपेण" अर्थ किये हैं। मन्त्रस्थ 'अग्नि" पद का अर्थ अज अर्थात् बकरा असङ्गत प्रतीत होता है। शतपथ के कर्त्ता ने मन्त्रस्थ "येन" पद द्वारा "अज" का परामर्श करके "वाग् वा ऽअजो, वाचो वै प्रजा विश्वकर्मा जजान" के अनुसार "अज" पद का अर्थ "वाक्" अर्थात वेदवाणी द्योतित किया है. परन्तु यह अर्थ भी मन्त्रभावना के अनुकूल नहीं। मन्त्र में अग्नि का अर्थ अग्नि ही है। न "अज" और न "वाक्"। मन्त्रस्थ सबुद्ध्यन्त "अग्ने" पद द्वारा अग्नि का अर्थ अग्रणी-यजमान सुसंगत प्रतीत होता है। महर्षि दयानन्द ने भी इसका अर्थ "हे विद्वान् जन" किया है]।

२२. इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुं सहस्राक्षो मेधाय चीयमानः।
मयुं पशुं मेधमग्ने जुषस्व, तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद।
मयुं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु॥
यजु० १३।४७॥ (श० ७।५।२।३२)

(अग्ने) हे अग्रणी पुरुष! राजन्! (सहस्राक्षः) हजारों पर कृपादृष्टि वाला, तथा (मेधाय) राष्ट्र-यज्ञ के लिये (चीयमानः) वृद्धि को प्राप्त होता हुआ तू, (पशूम्) पशुसमान अज्ञ (द्विपादम्) दो पैरों वाले (इमम्) इस पुरुष की (हिंसीः मा) हिंसा मत कर। (मेधम्) पवित्र (मयुम्) कफप्रधान शान्त-प्रकृति वाले (पशुम्) पुरुष-पशु की (जुषस्व) प्रीति-पूर्वक सेवा कर। (तेन) उस पुरुष द्वारा (चिन्वान) राष्ट्रयज्ञ की वृद्धि करता हुआ तू, (तन्वः) राष्ट्र और प्रजारूपी तनू अर्थात् शरीर के बीच (निषीद) निरन्तर स्थित हो। (मयुम्) पित्तप्रधान प्रकृति वाले क्रोधी पुरुष के प्रति (ते) तेरा (शुक्) उद्दीप्त मन्यु

(ऋच्छतु) प्राप्त हो, अर्थात् (यम्) जिस क्रोधी पुरुष के साथ (द्विष्मः) हम प्रजाजन द्वेष अर्थात् अप्रीति करते हैं (तम्) उसके प्रति (ते) तेरा (शुक्) उद्दीप्तमन्यु (ऋच्छतु) प्राप्त हो।

[द्विपादं पशुम्:—जो अज्ञ पुरुष है, केवल आहार, निद्रा, भय और मैथुन को ही जानता है वह पशुसमान ही है। "आहार निद्राभयमैथुनं च समानमेतत्पशुभिर्नराणाम्"। ऐसे पुरुष की भी प्रीतिपूर्वक सेवा करनी चाहिये। चीयमानः=वृद्धि को प्राप्त होता हुआ। यथा—"चीयते बालिशस्यापि सत्क्षेत्रपतिता कृषिः"। मयुं पशुम् मयुः पित्तं कफः श्लेष्मा (अमर कोष)। पित्त प्रधान प्रकृति वाला पुरुष क्रोधी होता है, और कफ प्रधान प्रकृति वाला शान्तरूप। मन्त्र में दो वार मयुशब्द द्वारा दो प्रकार के पुरुष-पशुओं का ग्रहण किया है। तन्वः= तनू के बीच। यजुर्वेद २०।८ में राष्ट्र को राजा की पीठ तथा राष्ट्र में सर्वत्र फैली प्रजाओं को राजा के शरीर के अङ्गों के समान कहा है। यथा "पृष्ठीर्मेराष्ट्रमुदरमंसौग्रीवाश्च श्रोणी। ऊरू ऽअरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः"। अतः तन्वः का अर्थ है 'राष्ट्र और प्रजारूपी शरीर'। शुक्=यद्यपि "शुक्" का अर्थ शोक या सन्ताप है, परन्तु मन्त्र में यह अर्थ उपपन्न नहीं होता। इसलिये उद्दीप्त-मन्यु अर्थ किया गया है। शोक या सन्ताप अर्थ में यह भावना होगी कि ऐसे मयु की हिंसा तो करनी ही है जिसकी कि प्रजाजन सिफारिश करें। परन्तु ऐसी हिंसा के पश्चात् भी हे राजन्! तुझे शोक-सन्ताप अवश्य होना चाहिये, क्योंकि है तो यह हिंसा ही।

विशेषः—शतपथ ब्राह्मण में "मयु" का अर्थ किया है "किं पुरुष", यथा—"किं पुरुषो वै मयुः" (७।५।२।३२)। "किम्" शब्द आक्षेपार्थक हैं; किमः क्षेपे (अष्टा० ५।४।७०)। अतः किं पुरुषः कुत्सितः पुरुषः। अज्ञ और क्रोधी पुरुष "किं पुरुष" ही है। इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण के अनुसार "मयु" पुरुष है, चतुष्पाद् पशु नहीं]।

२३. इमं मा हिंसीरेकशफं पशुं कनिक्रदं वाजिनं वाजिनेषु।
गौरमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद।
गौरं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु॥
यजु० १३।४८॥ (श० ७।५।२।३३)

हे अग्रणी पुरुष: ! राजन् ! (कनिक्रदम्) हिनहिनाहट की आवाज करने वाले (वाजिनेषु वाजिनम्) वेगवालों में अधिक वेगवान्, (एकशफम्) एक अर्थात् अनफटे खुरों वाले (इमं पशुम्) इस अश्वपशु की (हिंसी: मा) हिंसा मत कर। (अनु) इसके पश्चात् (अरण्यम्) जङ्गली (गौरम्) श्वेत वर्ण वाले मृग को (ते) तेरे लिये (दिशामि) मैं निर्दिष्ट करता हूं, अर्थात् उसकी भी हिंसा मत कर। अपितु (तेन) उस गौरमृग द्वारा (चिन्वान:) प्रजाजन का और अपनी वृद्धि करता हुआ, (तन्व:) निज शरीररूपी राष्ट्र और प्रजाजन के बीच (निषीद) नितरां स्थित हो। (गौरम्) उस गौरमृग के प्रति (ते) तेरा (शुक्) उद्दीप्त मन्यु (ऋच्छतु) प्राप्त हो अर्थात् (यम्) जिस गौरमृग के साथ (द्विष्म:) हम प्रजाजन द्वेष अर्थात् अप्रीति करते हैं (तम्) उसके प्रति (ते) तेरा (शुक्) उद्दीप्त मन्यु (ऋच्छतु) प्राप्त हो।

[नागरिक तथा आश्रमवासी गौरमृगों की हिंसा का निषेध किया है। वे मृग भी प्रजारूप हैं। सभी जङ्गली गौरमृगों की भी हिंसा न करनी चाहिये। अपितु प्रजा की प्रार्थना पर उन्हीं गौरमृगों की हिंसा करनी चाहिये जो कि ग्रामों में आकर कृषि का विनाश करते हैं। इसलिये महर्षि दयानन्द ने इस मन्त्र के भाष्य में लिखा है कि "जो हानिकारक पशु हों उनको मारे" तथा "तेरा शोक शस्यादि विनाशक जङ्गली पशु को प्राप्त होवे" तथा "जिन जङ्गली पशुओं से ग्राम के पशु, खेती और मनुष्यों की हानि हो उनको राजपुरुष मारें और बंधन करें" (यजु० १३।४७) के मन्त्रार्थ और भावार्थ]।

२४. इमं साहस्रं शतधारमुत्सं व्यच्यमानं सरिरस्य मध्ये।
घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्।
गवयमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद।
गवयं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥
यजु० १३ ४९॥ (श० ७।५।२।३४)

(साहस्रम्) हजारहों उपकार करने वाले, (शतधारम्) सैंकड़ों दुग्ध धाराओं वाले, (सरिरस्य मध्ये) सलिल प्रधान अनूप प्रदेश में (व्यच्यमानम्) विचरते हुए, (इमम्) इस (उत्सम्) दुग्ध के स्रोतरूप, (जनाय) तथा जनसमुदाय के लिये मानो (घृतम्) घृत को (दुहानाम्) दुग्धरूप में देती हुई, (अदितिम्) न मारने योग्य गौ को, — (अग्ने)

हे अग्रणी पुरुष ! राजन् ! (परमे व्योमन्) इस परम रक्षक महाकाश में, या यज्ञस्थल में, (हिंसीः मा) हिंसा मत कर। (अनु) इसके पश्चात् (आरण्यम्) जङ्गली (गवयम्) नील गाय (ते) तेरे लिये (दिशामि) मैं निर्दिष्ट करता हूं। (तेन) उस नील गाय द्वारा (चौयमानः) वृद्धि को प्राप्त होता हुआ तू, (तन्वः) राष्ट्र और प्रजारूपी निज शरीर के बीच (निषीद) नितरां स्थित हो। (गवयम्) उस नील गाय को (ते) तेरा (शुक्) उद्दीप्त मन्यु (ऋच्छतु) प्राप्त हो, (यम्) अर्थात् जिस नील गाय के साथ (द्विष्मः) हम प्रजाजन द्वेष या अप्रीति करते हैं, (तम्) उसे (ते) तेरा (शुक्) उद्दीप्त मन्यु (ऋच्छतु) प्राप्त हो।

[मन्त्र में अदिति अर्थात् गौ को "उत्स" कहा है। अतः मन्त्र के पूर्वभाग में अदिति का वर्णन पुलिङ्ग में हुआ है। और मन्त्र के उत्तर भाग में अदिति पद द्वारा गौ का वर्णन स्त्रीलिङ्ग में हुआ है। महर्षि दयानन्द ने पुलिङ्ग द्वारा बैल के वर्णन का नया सुझाव दिया है। बैल भी निज वीर्य से बैलों और गौओं के प्रदान द्वारा, हल जुताई द्वारा, तथा भारवाहन और शकटवहन द्वारा सहस्रों का उपकारक है, और और सैकड़ों का धारण-पोषण करता है। यह वीर्य का स्रोत या कूप है।[1] शेष अभिप्राय पूर्ववत्।

उत्सः=कूपः (निघं० ३।२३); तथा स्रोत यथा—"ये नदीना-मुत्सासः" (अथर्व० १।१५।३)। सरिरस्य=सलिलस्य। अभिप्राय जलप्रधान अनूप प्रदेश का है। ऐसे स्थान में विचरती गौएं खाद्य और पेय के बाहुल्य के कारण दूध प्रभूतमात्रा में देती हैं। यथा—"अनूपे गोमान् गोभिरक्षाः सोमो दुग्धाभिरक्षाः" (ऋ० ९।१०७।९)। अदितिः =गौः (निघं० २।११) =अ+दो (अवखण्डने)+क्तिन्। द्यतिस्यतिमास्थामित् ति किति" (अष्टा० ७।४।४०) द्वारा "दो" के "ओ" के स्थान में इत्व हुआ। व्योमन्=वि+अव (रक्षणे)+मनिन्। तथा परमे व्योमन्=परमे व्यवने, विविध प्रकारेण रक्षास्थाने, (निरुक्त० ११।४।४०; तथा १३।१।११)। व्यवने वि+अव् (रक्षणे)+ल्युट् (अन)]।

---

१. महर्षि दयानन्द के अनुसार मन्त्र में बैल और गौ दोनों की हिंसा का निषेध हुआ है।

२५. इममूर्णायुं वरुणस्य नाभिं त्वचं पशूनां द्विपदां चतुष्पदाम् ।
त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनित्रमग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् ।
उष्ट्रमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद ।
उष्ट्रं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ।'
यजु० १३।५०।। (७।५।२।३५)

(वरुणस्य) प्रजा द्वारा वरण किए हुए श्रेष्ठ सम्राट् के लिए (नाभिम्) नाभि समान पालक, (द्विपदाम्) दो पैरों वाले तथा (चतुष्पदाम्) चार पैरों वाले (पशूनाम्) पशुओं की (त्वचम्) त्वचा के सदृश रक्षक, तथा (त्वष्टुः) कारीगर परमेश्वर की (प्रजानाम्) प्रजाओं में (प्रथमं जनित्रम्) प्रथमोत्पन्न या श्रेष्ठ उत्पत्तिरूप (इमम्) इस (ऊर्णायुम्) ऊन वाली भेड़ की (अग्ने) हे अग्रणी पुरुष ! राजन् ! (हिंसीः मा) हिंसा न कर। (परमे व्योमन्) परम रक्षा स्थान महाकाश, या यज्ञस्थल में। (अनु) इसके पश्चात् (आरण्यम् उष्ट्रम्) जङ्गली ऊँट (ते) तेरे लिये (दिशामि) मैं निर्दिष्ट करता हूं, अर्थात् उसकी भी हिंसा मत कर। अपितु (तेन) उस जङ्गली ऊँट द्वारा (चिन्वानः) प्रजा को तथा अपने आप को बढ़ाता हुआ तू (तन्वः) राष्ट्र और प्रजारूप निज तनू के मध्य (निषीद) नितरां स्थित हो। (उष्ट्रम्) उस ऊँट के प्रति (ते) तेरा (शुक्) उद्दीप्त मन्यु (ऋच्छतु) प्राप्त हो, अर्थात् (यम्) जिस ऊँट के साथ (द्विष्मः) हम प्रजाजन द्वेष या अप्रीति करते हैं (तम्) उसके प्रति (ते) तेरा (शुक्) उद्दीप्त मन्यु (ऋच्छतु) प्राप्त हो।

["हे राजन् ! जिस भेड़ आदि के रोम और त्वचा, मनुष्यों के सुख के लिये होते हैं, और जो ऊँट भार उठाते हुए मनुष्यों को सुख देते हैं उनको जो दुष्टजन मारा चाहें उनको संसार के दुःखदायी समझो, और उनको अच्छे प्रकार दण्ड देना चाहिए। महर्षि दयानन्द भावार्थ, १३।५०"];

वरुणस्य=वरण अर्थात् चुना गया, प्रजा द्वारा स्वीकृत किया गया सम्राट्। यथा—"निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा। साम्राज्याय सुक्रतुः। मृत्योः पाहि विद्योत् पाहि।। (यजु० २०।२।।) मन्त्र १३।५० में पठित वरुणस्य पद के सदृश वरुण शब्द का, तथा मन्त्र

१३ ५० में पठित निषीद के सदृश निषसाद का प्रयोग यजु० २०।२ में हुआ है।

नाभिम्=मातृगर्भस्थ शिशु की पालना नाभि की नली द्वारा होती है। भेड़ भी नाभि-नली के सदृश पालना करती है। तथा ऊन से कम्बल आदि की रचना द्वारा प्राणियों की रक्षा, त्वचा के सदृश, भेड़ करती है। प्राणियों की निज त्वचा, प्राणियों की मांसपेशियों की रक्षा करती है। इसलिये भेड़ की ऊन, त्वचा के सदृश, रक्षक है।

त्वष्टुः=कारीगर परमेश्वर। यथा—"य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद् भुवनानि विश्वा। तमद्य होतरिषितो यजीयान् देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान्॥ ऋ० १०।११०।९॥ इस मन्त्र में द्युलोक और पृथिवी के जनयिता, और सब भुवनों में रूपों के भरने वाले परमेश्वर की त्वष्टा कहा है, जोकि परमेश्वर ही हो सकता है।

प्रथमं[1] जनित्रम्:—मनुष्य-सृष्टि से पूर्व[1],या साथ-साथ पशु उत्पन्न हुए थे (देखो यजु० ३१।८)। इन पशुओं में अवि अर्थात् भेड़ का भी वर्णन है। अथवा "प्रथमं जनित्रम्" का अर्थ है श्रेष्ठ उत्पत्ति। ऊन के कारण उपकारक होने से भेड़ को "श्रेष्ठ उत्पत्ति" कहा है।

ऊर्णायुः=ऊर्णाया युस् (अष्टा० ५।२।१२३)=ऊर्णावान्, ऊन वाली]।

२६. अजो ह्यग्नेरजनिष्ठ शोकात्सो अपश्यज्जनितारमग्रे।
तेन देवा देवतामग्रमायँस्तेन रोहमायन्नुप मेध्यासः।
शरभमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद।
शरभं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु॥
यजु० १३।५१॥ (श० ७।५।२।३६)

(हि) निश्चय से व्यक्ति, (अग्नेः) अग्नि नामक या आदित्य वर्ण परमेश्वर के (शोकात्) प्रकाश से, (अजः[2]) जन्म से रहित (अज-

---

१. विकासवादियों के अनुसार पशुसृष्टि, मनुष्यसृष्टि से पूर्व अर्थात् प्रथम हुई है।

२. अज के सम्बन्ध में जुलियस एगलिङ्ग लिखते हैं कि 'He-goat is here again takenl n the sense of "A-ga" unborn.' (श० ७।५।२।३६) की टिप्पणी। अर्थात् मन्त्र में "अज" का अर्थ है "उत्पन्न

निष्ट) हो जाता है ; परन्तु (अग्रे) "अज" अर्थात् जन्मरहित हो जाने से पूर्व (सः) वह (जनितारम्) जन्मदाता परमेश्वर का (अपश्यत्) दर्शन पा लेता है। (तेन) उस दर्शन के कारण (देवाः) दिव्यगुणी (देवताम्) देवपन को, तथा (अग्रम्) उच्चता या श्रेष्ठ मोक्ष को (उप आयन्) प्राप्त होते हैं या प्राप्त होते रहे हैं। (तेन) उस दर्शन के कारण (मेध्यासः) योगयज्ञ द्वारा पवित्र होकर (रोहम्) आरोहण को (उप आयन्) प्राप्त होते हैं या प्राप्त होते रहे हैं। (आरण्यम्) वनवासी, (शरभम्) शान्त जीवन आरम्भ या प्राप्त किये हुए वानप्रस्थी को (ते) तेरे लिये (अनु दिशामि) अनुकूलरूप में मैं निर्दिष्ट करता हूं। (तेन) शान्त जोवन वाले उस वानप्रस्थी द्वारा (चिन्वानः) प्रजा और अपने को बढ़ाता हुआ तू हे राजन्! (तन्वः) राष्ट्र और प्रजारूपी निज तनू के वीच (निषीद) नितरां स्थित हो। (शरभम्) शर अर्थात् वाण के सदृश तीखे स्वभाव वाले वनवासी के प्रति (ते) तेरा (शुक्) उद्दीप्त मन्यु (ऋच्छतु) प्राप्त हो, अर्थात् (यम्) जिस तीखे स्वभाव वाले के प्रति (द्विष्मः) हम प्रजाजन द्वेष या अप्रीति करते हैं (तम्) उसके प्रति (ते) तेरा (शुक्) उद्दीप्त मन्यु (ऋच्छतु) प्राप्त हो। (शोकात्) उद्दीप्तादग्नेः (महीधर)।

[शतपथ ब्राह्मण से लेकर सभी भाष्यकारों ने "अज" का अर्थ बकरा किया है। परन्तु मन्त्र के शब्दार्थ बकरे के सम्वन्ध में उपपन्न नहीं हो सकते। इसलिये मुझे जो अर्थ ठीक प्रतीत हुआ है, किया है। इस आध्यात्मिक अर्थ के अनुकूल "अज" और "शरभ" पदों के भी अर्थ किये हैं। पहिले "शरभ" शब्द का अर्थ, "श (शम, शान्ति) + रभ (आरम्भ, प्रारम्भ या आलम्भ करने वाला)" ऐसा अर्थ किया है। और दूसरे शरभ का अर्थ, शर (तेज वाण) × भ (शरवत् भान होने वाला) किया है। तभी पहिले शरभ के सम्वन्ध में अनुकूलता, और द्वितीय शरभ के सम्वन्ध में उद्दीप्त मन्यु अर्थ यथार्थ प्रतीत होता है। "अज" और "शरभ" का वर्णन अथर्व० ९।५।९ में भी हुआ है। यथा—"अजारोह सुकृतां यत्र लोकः शरभो न चत्तोति दुर्गाण्येषः। पञ्चौदनो ब्रह्मणे दीयमानः स दातारं तृप्त्या तर्पयाति"।। इस मन्त्र में "चत्तः" शब्द हैं जिसका अर्थ है याचितः, प्रर्थितः। यदि इस अथर्व०

न होने वाला" अर्थात् जन्म-मरण से रहित।

मन्त्र में "अज" द्वारा बकरे का और "शरभ" द्वारा पशु का वर्णन हो तो बकरे या पशु से याचना या प्रार्थना का कोई अभिप्राय समझ नहीं पड़ता। चत्तः=चते याचने+क्त। महीधर ने यजु० (१३।५१) में शरभः का अर्थ दिया है "अष्टापदो मृगविशेषः सिंहघाती" अर्थात् आठ पैरों वाला एकविशेष पशु जो कि शेर को मार देता है]।

अथर्व० ९।५।९ का अर्थ निम्न प्रकार है,—

(अज) हे जन्म के बन्धन से रहित जीवनमुक्त महात्मन्! (यत्र) जहां (सुकृतां लोकः) सुकर्मियों का लोक है वहां (आरोह) तू आरोहण कर, और (चत्तः) याचित अर्थात् प्रार्थित हुए (शरभः न) शान्तिलाभ किये योगी के सदृश तू, (दुर्गाणि) दुर्गम मार्गों को (अति) लांघ कर भी (एषः) आ। (पञ्चौदनः) पांचों इन्द्रियों के भोग जिसने (ब्रह्मणे) ब्रह्म के प्रति (दीयमानः) समर्पित कर दिये हैं (सः) वह योगी (दातारम्) सबके दाता ब्रह्म को (तृप्त्या तर्पयति) तृप्ति से तृप्त अर्थात् प्रसन्न करे, या करता है। चत्तः=चते याचने (भ्वादि)। शरभः=श (शम्)+रभ (लभ्) रलयोरभेदः।

उपर्युक्त १९ से २६ तक के मन्त्रों में निर्देश राजा के लिये हैं,— इसका निश्चय निम्नलिखित मन्त्र द्वारा होता है। यथाः—

२७. त्वं यविष्ठ दाशुषो नॄः पाहि शृणुधि हवम्।
रक्षा तोकमुत त्मना॥ यजु० १३।५२॥ (श० ७।५।२।३९)

(यविष्ठ) हे युवतम! राजन्! (त्वम्) तू (दाशुषः नॄन्) "कर" रूप में धन देने वाले प्रजाजनों की (पाहि) रक्षा किया कर, और (गिरः) उनके कथनों को (शृणुधि) सुना कर। (उत) तथा (त्मना) अपने-आप (तोकम्) पुत्रसमान प्रजाजनों की (रक्ष) रक्षा किया कर।

[नॄन्=मनुष्या वै नराः; तथा तोकम्=प्रजा वै तोकम् (श० ७।५।२।३९)]।

शतपथब्राह्मण परिशिष्ट (२)

पशु तथा पश्वङ्गों के अप्राणि स्वरूप

स्वकीय पुस्तक "वैदिक पशुयज्ञ मीमांसा" से कतिपय उद्धरण, पंच पशु सम्बन्धी यज्ञों के स्वरूपों के सम्बन्ध में निम्नलिखित हैं:—

पुरुष यज्ञ—अथर्ववेद काण्ड ७, सूक्त ५, मन्त्र ४ निम्नलिखित हैं:—

> यत्पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत ।
> अस्ति नु तस्मादोजीयो यद् विहव्येनेजिरे ।।

अर्थात्—पुरुषरूपी हवि द्वारा, देव अर्थात् मदमस्त लोग जिस यज्ञ को करते हैं, निश्चय ही उससे अधिक ओजवाला यह यज्ञ है जो कि विना हवि के किया जाता है, अर्थात् ध्यानयज्ञ उपासनायज्ञ आदि। इस मन्त्र पर सायणाचार्य का भाष्य विशेष प्रकाश डालता है। यथा,—

> दीव्यन्तीति देवा यजमानाः, पुरुषेण हविषा, यज्ञं पुरुषमेधाख्यं विस्तारितवन्तः। एवं पुरुषहविष्कयज्ञ इति यदस्ति, तस्मादोजीय अतिशयेनोजस्वि सारवदस्ति नु, विद्यते खलु, यद् विहव्येन विगत हविष्केण ज्ञानयज्ञेनेजिरे इष्टवन्तः[1]।

---

१. "पुरुषेण हविषा" का भाव निम्नलिखित मन्त्र द्वारा अधिक स्पष्ट होता है। यथा—"यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत। वसन्तो ऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः" (यजु० ३१।१४)। इस मन्त्र पर महीधर का भाष्य निम्नलिखित है।

"यत् यदा देवाः पुरुषस्वरूपमेव मनसा हविष्ट्वेन संकल्प्य पुरुषेण पुरुषाख्येन हविषा मानसं यज्ञमतन्वततानिषत तदानीमस्य यज्ञस्य वसन्तः ऋतुरेवाज्यमासीत्। ग्रष्म इध्म आसीत्। शरद् हविरासीत्"। इस प्रकार महीधर ने "पुरुषेण हविषा यज्ञम्" को मानसयज्ञ माना है"।

भाष्यकार उव्वट ने मन्त्र की व्याख्या में लिखा है कि "योगिनोऽपि पुरुषेणैवामृतभूतेन दीपितेनात्मना आत्मयज्ञं समिध कृतवन्तः"। इस प्रकार उव्वट के

"देव का अर्थ है यजमान। इन्हों ने पुरुषरूप हवि द्वारा जिस पुरुष मेधाख्य यज्ञ का विस्तार किया, उस से तो अतिशय ओजवाला सारवाला, निश्चय से, वह यज्ञ है जिसे कि विना हवि के ज्ञानयज्ञ किया जाता है"। [देवाः=मदमस्त; दिवु=मद (दिवादिगण)]।

अजमेध—अजमेध के सम्बन्ध में, महाभारत शान्तिपर्व के निम्नलिखित श्लोक हैं,—

बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः।
अजसंज्ञानि बीजानि छागं नो हन्तुमर्हथ॥
नैष धर्मः सतां देवा यत्र वध्येत वै पशुः।
इदं कृतयुगं श्रेष्ठं कथं वध्येत वै पशुः॥

ऋषियों ने देवताओं को कहा कि हे देवो! यज्ञों में बीज द्वारा यज्ञ करना चाहिये, यही वैदिक श्रुति है। बीजों की संज्ञा "अज" है, अतः यज्ञ में बकरा मारना उचित नहीं। हे देवो! पशुवध करना सत्पुरुषों का धर्म नहीं। यह सत्-युग तो सबसे श्रेष्ठ युग है, इसलिये इस युग में किस प्रकार हिंसा हो सकती है।

पञ्चतन्त्र और अज शब्द—पञ्चतन्त्र, तन्त्र ३, कथा २ में अज के सम्बन्ध में निम्नलिखित पंक्तियां हैं,—

एतेऽपि ये याज्ञिका यज्ञकर्मणि पशून् व्यापादयन्ति ते मूर्खाः परमार्थं श्रुतेर्न जानन्ति। तत्र किलैतदुक्तमजैर्यष्टव्यमिति। अजा व्रीहयस्तावत् सप्तवार्षिकाः कथ्यन्ते न पुनः पशुविशेषाः।

अनुसार "पुरुष का अभिप्राय है अमृतात्मा। उस द्वारा योगी आत्मयज्ञ करते हैं,—ऐसा अभिप्राय उव्वट ने मन्त्र का प्रकट किया है"।

महीधर और उव्वट के उपरिलिखित अर्थों की छाया में अथर्व० ७।५।४ का अर्थ निम्नलिखित भी सम्भव है। यथा—"दिव्य योगिजन, जो कि पुरुष अर्थात् परमेश्वर-पुरुषरूप हवि के द्वारा मानस अध्यात्मयज्ञ करते हैं, निश्चय से इसलिये, यह मानसयज्ञ द्रव्ययज्ञ की अपेक्षया अधिक ओजवाला है, चूंकि यह मानसयज्ञ विना प्राकृतिक हवि के किया जाता है"।

अतन्वत और ईजिरे प्रयोग "वर्तमान" के द्योतक हैं, भूतकाल के नहीं। "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" (अष्टा० ३।४।६) के अनुसार वेद में लुङ् लङ् तथा लिट् तीनों कालों में प्रयुक्त होते हैं। तस्मात्=तस्मात् हेतोः=इसलिये।

जो याज्ञिक लोग यज्ञकर्म में पशुओं का घात करते हैं, वे मूर्ख,वेद के परम अर्थ को नहीं जानते। वेद में इतना ही कहा है कि अज द्वारा यज्ञ करना चाहिये। परन्तु अज का अर्थ है "सातवर्षों के पुराने धान" न कि पशु विशेष।

अतः प्रतीत होता है कि अजमेध में बकरे के मांस द्वारा यज्ञ करने की परिपाटी अवैदिक है। तथा "यजबीजैः सहस्राक्ष त्रिवर्षपरमोषितैः" (महाभारत, अश्वमेध पर्व, अध्याय ९१)। इस प्रमाण में तीन वर्षों के या इनसे पुराने बीजों द्वारा यज्ञ करने का विधान हुआ है। ये बीज "अज" हैं। सम्भवतः तीन या इनसे भी पुराने बीजों में अङ्कुर को जन्म देने की शक्ति न रहती हो। अज=अ(न)+ज(जन्म देने वाले बीज)। नए बीज अङ्कुरोत्पादक होते हैं, अतः उन द्वारा यज्ञ न करना चाहिये।

तथा "अग्निः पशुरासीत्तेनायजन्त (यजु० २३।१७)। वायुः पशुरासीत्तेनायजन्त (यजु० २३।१७)। सूर्यः पशुरासीत्तेनायजन्त (यजु० २३।१७)"। अर्थात्—अग्नि, वायु, और सूर्य पशु हैं, इन द्वारा यज्ञ किये जाते हैं। अग्नि आदि तीन पशु हैं, इनके सहयोग द्वारा यज्ञ सम्पादन होता है। पशु का काम है भार को एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुंचाना। आहुत पदार्थ को अग्नि, वायु और सूर्य मिलकर अन्तरिक्ष में पहुंचा कर, उसके सूक्ष्मांश को सब दिशाओं में फैलाते हैं। अतः ये पशु हैं।

तथा परमेश्वर है पशु। पश्यतीति पशुः, जोकि सबको देखता है, सर्वद्रष्टा है। यथा—"अबध्नन् पुरुषं पशुम्" (यजु० ३१।१५), अर्थात् योगाभ्यासी परम-पुरुष सर्वद्रष्टा परमेश्वर को चित्तों में बान्धते हैं, धारित करते हैं।

रुधिर, मांस, मज्जा आदि के सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि "(क) पशु हं वा एष आलभ्यते यत्पुरोडाशः" (१।२।३।५), अर्थात् निश्चय से पुरोडाश है पशु। धान तथा जौं की पीठी के भटूरे या कछुए की आकृति सदृश पिण्ड को पुरोडाश कहते हैं। (ख) स यावद् वीर्यवद् ह वा ऽस्यैते सर्वे पशवः आलब्धाः स्युः, तावद् वीर्यवद् हास्य हविरेव भवति, य एवमेतद् वेद अत्रो सा सम्पद्यदाहुः पांक्तः पशुरिति

(१।२।३।७), अर्थात् इस यजमान के लिये सब आलब्ध पशु जितने सामर्थ्य वाले होते हैं, उतने वीर्य अर्थात् सामर्थ्य वाली, इस यजमान के लिये पुरोडाश की हवि होती है जो यज्ञकर्म में इस तत्त्व को जानता है, उसके लिये, इस पुरोडाश में सब सम्पदा है जितनी की पांच पशुओं में होती है। पांचपशु=गावः, अश्वाः, पुरुषः, अजाः, अवयः। (ग) यदा पिष्टान्यथ लोमानि भवन्ति, यदाप आनयत्यथ त्वग् भवति, यदा संयौत्यथ मांसं भवति, सन्तत इव हि स तर्हि भवति, सन्ततमिव हि मांसम्, यदा शृतो ऽथास्थि भवति, दारुण इव हि स तर्हि भवति, दारुणमित्यस्थि, अथ यदुद्वासयिष्यन्नभिघारयति तं मज्जानं दधाति, एषो सा सम्पद् यदाहुः पांक्तः पशुरिति (१।२।३।८), अर्थात् व्रीहि और यव के पिसे दाने लोमरूप हैं; पानी डालने से जो इस पीठी पर पिप्पड़ी बन जाती है वह त्वचा है; जल और पीठी के परस्पर मिलाने पर, गूंधने पर, पीठी मांसरूप हो जाती है, चूंकि जल के मिला देने के बाद गूंधने पर वह पीठी फैल जाती है, और मांस भी फैला हुआ ही होता है; जब पीठी पकाई जाती है तब वह अस्थि (हड्डी) रूप हो जाती है, उस समय वह कठोर हो जाती है, और अस्थि भी कठोर ही होती है; जब पकी पीठी को अङ्गारों से उतारने को होता है, और उस पर घी डालता है तब अस्थिरूप पीठी में मज्जा स्थापित करता है। इस प्रकार इस पुरोडाश में वह सब सम्पद् विद्यमान होती है जितनी कि पांच पशुओं में विद्यमान कहते हैं।

शतपथ ब्राह्मण के इन उद्धरणों द्वारा प्रतीत होता है कि शतपथ ब्राह्मण की दृष्टि से धान या जौं की पीठी ही पशु है। अत एव पशु-यज्ञों में इसी पीठी द्वारा यज्ञ करने चाहियें, न कि प्राणिपशुओं के मांसों द्वारा। ऊपर के उद्धरणों से यह भी स्पष्ट है कि धान और जौं में पांचों पशुओं की सम्पदा विद्यमान है। इन कथनों द्वारा ब्राह्मण-कार ने पांच प्राणिपशुओं द्वारा यज्ञों के करने का निषेध किया है, और यजमान की श्रद्धा को पुरोडाश-पशु या पिष्ट-पशु (पीठी-पशु) द्वारा यज्ञ करने की ओर प्रेरित किया है। यद्यपि यह कथन हविर्यज्ञ के सम्बन्ध में है, तो भी इस कथन द्वारा पशुहिंसा के ह्रास की ओर शतपथ से सूचना मिलती है।

स वा एष पशुरेवालभ्यते यत्पुरोडाशः। तस्य यानि किशा-

रूणि तानि रोमाणि, ये तुषाः सा त्वक्, ये फलीकरणास्तद-सृक्, यत् पिष्टं किक्नसाः तन्मांसम्, यत् किं चित्कं सारं तदस्थि। सर्वेषां वा एष पशूनां मेधेन यजते यः पुरोडाशेन यजते। तस्मादाहुः पुरोडाशसत्रं लोक्यमिति। ऐत० ब्राह्मण (पं० २, अ० १, खं० ९)।

वास्तव में पुरोडाश की प्राप्ति ही पशु की प्राप्ति है। इस व्रीहि (धान) की मञ्जरी में जो वाल होते हैं वे रोम हैं, जो छिलके हैं, वह त्वचा है, तण्डुलों को श्वेत करने के लिये, अवघात द्वारा, उन तण्डुलों पर से जो अंश पृथक् किया जाता है वह असृक् है, रुधिर[1] है, तण्डुलों की पीठी और उसके अवयव मांस है, व्रीहि का वह भाग जोकि सार-रूप है, कठिन है अस्थि (हड्डी) है। अतः जो पुरोडाश द्वारा यज्ञ करता है, वह सम्पूर्ण पशुओं के पवित्र भाग द्वारा यज्ञ करता है। इस लिये कहते हैं कि पुरोडाशयज्ञ दर्शनीय या लोकसम्मत है।

इस सन्दर्भ में भी पुरोडाश का वर्णन पशुरूप से किया है। अतः ब्राह्मण ग्रन्थों में, और वेदों में भी, जहां कहीं भी, पशु या उसके अव-यवों अथवा उसकी वपा द्वारा यज्ञ करने का वर्णन मिले, वहां व्रीहि (धान), जौं और उनकी पीठी के भिन्न-भिन्न अवयवों से अभिप्राय सम्भव है.—यह जानना चाहिये। इसलिये ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार व्रीहि यव द्वारा किया यज्ञ पशुयज्ञ है।

तदाहुर्यदेष हविरेव पशुः······पशुभ्यो वै मेधा उदक्रामन्, तौ व्रीहिश्चैव यवश्च भूतावजायेताम्। तद्यत्पशौ पुरोडाशमनु-निर्वपति समेधेन नः पशुनेष्टमसत्, केवलेन पशुनेष्टमसदिति समेधेन हास्य पशुनेष्टं भवति, केवलेन हास्य पशुनेष्टं भवति य एवं वेद॥ (ऐत० ब्राह्मण पं० २, अ० २, ब्रा० १ खं०११)

कहते हैं कि यह हवि ही पशु है। पशुओं से यज्ञियांश निकल गया। वह व्रीहि और यव के रूप में पैदा हुआ। अतः पशुयज्ञ में पुरोडाश (व्रीहि और यव) का प्रयोग करते हैं। इस यज्ञिय पुरोडाश-पशु के द्वारा हमारा इष्ट सिद्ध होता है। केवल इस ही यज्ञिय पुरोडाश-पशु

---

१. षष्टिका अर्थात् सठ्ठी या साठी के तण्डुलों पर लालिमा होती है, इस लालिमांश की दृष्टि से सम्भवतः इस अंश को असृक् (रुधिर) कहा हो।

द्वारा हमारा इष्ट सिद्ध होता है। जो इस सिद्धान्त को जानता है उस का इष्ट भी इस ही पुरोडाश-पशु द्वारा ही सिद्ध होता है।

ऐतरेय ब्राह्मण का यह सन्दर्भ भी पुरोडाश-पशु की कल्पना को परिपुष्ट करता है।

तैत्तिरीय यजुर्वेद—यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के अनुसार पशु-यज्ञ का स्वरूप निम्नलिखित हैं,—

दधि मधु घृतमापो धाना भवन्त्येतद्वै पशूनां रूपम्। रूपेणैव पशूनवरुन्धे ॥ (कां० २, अ० ३, अनु० २, खं० ८)

दही, मधु, घी, जल (दूध ?), भुने हुए जौं,—ये निश्चय से पशुओं के रूप हैं। इन रूपों के द्वारा ही पशुओं का अवरोध करता है।

इस उद्धरण द्वारा यह स्पष्ट होता है कि पशुओं का रूप है, दधि. मधु, घृत आदि। दधि, मधु, घृत आदि का ग्रहण ही पशुओं का ग्रहण है। इन द्वारा यज्ञ करना पशुयज्ञ करना है। अतः हिंसामय पशुयज ब्राह्मण ग्रन्थों की रहस्यमयी भाषा के अनुकूल नहीं।

आपः=अप् द्रवद्रव्य है, अतः उपलक्षक है। दूध का जो कि द्रव-द्रव्य है।

मधु=यह प्राणी मधुमक्षिका द्वारा प्राप्त होता है। प्राणि द्वारा प्राप्त होने से इसे पशुओं का रूप कहा है।

मांस शब्द=The flashy part of a fruit (आप्टे), फल का गुद्दा।

अस्थि शब्द=The kernal or stone of a fruit (आप्टे) फल की गुठली।

मज्जा शब्द=The pith of plants (आप्टे), पौधों, वनस्पतियों का सार।

त्वचा शब्द=Bark, Rind (आप्टे) वृक्ष का वल्कल, छिलका, फल का छिलका।

असृक् शब्द=Saffron (आप्टे), केसर।

रुधिर शब्द= " " "।

अथर्व० तथा आधिदैविक पशु—(क) अथर्ववेद (४।३९।१-८)

में धेनु और वत्स के स्वरूपों पर निम्नलिखित प्रकाश डाला है। यथा **"पृथिवी धेनुस्तस्या अग्निर्वत्सः"** (२) अर्थात् पृथिवी धेनु है और उस का वत्स (बछड़ा) है, अग्नि। अभिप्राय यह कि पृथिवीरूपी धेनु को दोहने के लिये अग्नि का प्रयोग करना चाहिये। कला कौशल द्वारा पृथिवी से सम्पत्तियां प्राप्त करने के लिये अग्नि का प्रयोग करना चाहिये। अङ्गारों की आग, भाप, विद्युत्, तैल और सूर्य आदि अग्नि के ही विविध रूप हैं। इन द्वारा पृथिवी का दोहन करना चाहिये। **"अन्तरिक्षं धेनुः तस्या वायुर्वत्सः"** (३), अर्थात् अन्तरिक्ष धेनु है उस का वत्स है, वायु। अर्थात् अन्तरिक्ष में विहार, देशविदेश में व्यापारार्थ गमनागमन के लिये अन्तरिक्षस्थ वायु का प्रयोग करना चाहिये। **"द्यौर्धेनुस्तस्या आदित्यो वत्सः"** (६), द्यौः धेनु है, उसका वत्स है, आदित्य[1]। अभिप्राय पूर्ववत्। **"दिशो धेनवस्तासां चन्द्रो वत्सः"** (८), दिशाएं धेनु हैं, उनका वत्स है, चन्द्रमा। अर्थात् रात्रिकाल में आकाश में चन्द्र की स्थिति के द्वारा दिग्दिगन्तर को जानकर, दिग्दिगन्तरों में गमनागमन कर दिशाओं का दोहन करना चाहिये, दिशाओं द्वारा व्यापारिक लाभ प्राप्त करना चाहिये।

इस प्रकार इन मन्त्रों में "धेनु और वत्स" के विविध स्वरूपों पर प्रकाश डाला है। तथा "धाना धेनुरभवत् वत्सो ऽस्यास्तिलोभवत्" (अथर्व० १८।४।३२), अर्थात् धानाः धेनु है, और तिल इसका वत्स है। अभिप्राय यह कि जैसे बछड़े के होते गौ पुष्टि कर दूध देती है, जैसे तिलों के साथ धाना का सेवन करने से धाना पुष्टि देती हैं। 'धानाः' पद नित्य बहुवचनान्त है। जैसे ओषधियों के अनुपात, ओषधियों के गुणों के अभिव्यञ्जक होते हैं वैसे धाना के अनुखाद्य अर्थात् तिल, धाना के गुणों के अभिव्यञ्जक होते हैं। देखो अथर्ववेद (१८।४।३२)

---

१. जगत् के रहस्यों के परिज्ञान के लिये, द्युलोक में गमनागमन करने के लिये, आदित्य की सापेक्ष स्थितः का ज्ञान आवश्यक है। आदित्य की स्थिति आकाश-गङ्गा (milky way) में है। तथा "भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्" (योग ३।२६) द्वारा सूर्य की सापेक्ष स्थिति द्वारा भुवनों का ज्ञान भी होता है।

२. जब धेनु जौं जितनी है, तब उसका वत्स तिल जितना ही तो होना हुआ।

का मदीय भाष्य। धाना:=भुने जौं या तण्डुल (आप्टे)। अनड्वान् =आदित्य (अथर्व० ४।११।१-१२)।

तथा अश्व=सूर्य, सूर्यरश्मियां, अश्वपर्णी या असगन्धा।

अज या छाग=पुराने धान, मेषराशि, अजा नामक ओषधि।

वृषभ=मेघ, ऋषभ ओषधि (अथर्व० ३।२३।४)।

गौ=नाना अर्थ (निरुक्त २।२।१-३)।

उक्षा=सोम ओषधि (ऋग्वेद १०।१८।११ पर सायण भाष्य)।

आयुर्वेद प्रसिद्ध कतिपय शब्द—अश्व=अश्वगन्धा। ऋषभ=ऋषभक कन्द। श्वा=कुक्कुरमुत्ता। वराह=वराही कन्द। काक=काकमाची। अज=अजमोद। मत्स्य=मत्स्याक्षी। लोम=जटामांसी। महिष=महिषाक्ष,गुग्गुल। मेष=चकवड़, मेषपर्णी। मातुल=धतूरा। मृग=सहदेवी औषध। पशु=मोथरा। कुमारी=घी कुमारी। हृद=दार चीनी,—इत्यादि।

रोहिणी-पौधे के भिन्न-भिन्न अङ्गों के नाम—रोहिणी, हल्दी का पौधा है। इसके प्रयोग द्वारा शरीर के क्षत-विक्षत अङ्ग स्वस्थ हो जाते हैं। इसके भिन्न-भिन्न भागों के निम्नलिखित नाम हैं यथा मज्जा, परुः, मांस, अस्थि, चर्म, असृक्, लोम और त्वचा (अथर्व० ४।१२।१-७)। इससे प्रतीत होता है कि वैदिक परिभाषा में मांस, अस्थि, असृक् आदि नाम ओषधियों के भिन्न-भिन्न अवयवों के लिये भी प्रयुक्त होते हैं। केवल पशु या जङ्गम प्राणियों के सम्बन्ध में ही इन शब्दों का प्रयोग सीमित नहीं। इन मन्त्रों में रोहणी को "अरुन्धती" भी कहा है, अरुः (व्रण)+धा(पोषण)+शतृ+ङीप्।

अङ्गों की दृष्टि से वनस्पति और पुरुष में उपमानोपमेयता—बृहदारण्यक उपनिषद् अ० ३। ब्रा० ९। कण्डिका २८ में वनस्पति और पुरुष में उपमानोपमेय भाव दर्शाया है। यथा,—

> यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा।
> तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः॥
> त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः।
> तस्मात्तदातृण्णात्प्रैति रसो वृक्षादिवाहतात्॥
> मांसान्यस्य शकराणि किनाटं स्नाव तत्स्थिरम्।
> अस्थीन्यन्तरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमा कृता॥

जैसे कि बड़ा वृक्ष होता है वैसा ही पुरुष है, यह सत्य है। उस वृक्ष के पत्ते लोम हैं, बाहर की छालें इस की त्वचा है। आहत होने पर पुरुष की त्वचा से रुधिर निकलता है, और वृक्ष की त्वचा से रस। इस वृक्ष का शकर (गुद्दा) मांस है, सूक्ष्म तन्तुएँ स्नायु हैं, भीतर की लकड़ी अस्थि हैं, लकड़ी में का स्नेह भाग (मज्जा) पुरुषास्थि की मज्जा है।"

इस वर्णन में स्पष्ट दर्शाया है कि रोम, त्वचा, रुधिर, मांस, स्नायु, अस्थि और मज्जा आदि शरीरावयववाची पद: वृक्षों के भिन्न-भिन्न अवयवों के भी वाचक हैं। अत: वेदों में मांस शब्द के दर्शनमात्र से ही पशुमांस की कल्पना कर लेना न्याय्य तथा युक्तिसंगत नहीं।

भोजन के लिये पशुओं से प्रापणीय क्या वस्तु है,-इस सम्बन्ध में निम्नलिखित मन्त्र है। यथा,—

पशुओं से प्राप्य दूध के लिये प्रार्थना, न कि मांस के लिये—

पुष्टिं पशूनां परिजग्रभाहं चतुष्पदां द्विपदां यच्च धान्यम्।
पय: पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पति: सविता मे नियच्छात्॥
(अथर्व० १९।३१।५)

चौपाय पशुओं और दोपायों की परिपुष्टि का, तथा जो धान्य है उसका, परिग्रह अर्थात् संग्रह मैंने किया हैं। प्रेरक बृहस्पति-परमेश्वर मुझे पशुओं का दूध तथा ओषधियों का रस प्रदान करे। मन्त्र में भोजनार्थ धान्य के संग्रह का, तथा पशुओं के दूध, और ओषधियों के रस का वर्णन हुआ है। चौपाय पशुओं का वर्णन दूध तथा कृषि-जन्य धान्योत्पादन के लिये हैं। दोपायों का वर्णन सन्तान के लिये तथा कृषिकर्म के लिये है। ध्यान में रखने की बात यह है कि मन्त्र में पशुओं से केवल दूध की प्राप्ति के लिये प्रार्थना है, मांस की प्राप्ति के लिये नहीं। ओषधियों के रस की प्रार्थना स्वास्थ्य के लिये है। तथा

"लाजीञ्छाचीन् यव्ये गव्ये एतदन्नमत्त देवा:। एतदन्नमद्धि प्रजापते॥
(यजु० २३।८)

अर्थात् हे देवो! तुम लाजाओं, सत्तुओं, जौं के बने पदार्थों, धाना आदि को, तथा गोविकार दधि आदि को खाया करो। हे प्रजा अर्थात् सन्तानों के रक्षक सद्गृहस्थ! तू इस अन्न को खाया कर।

मन्त्रोक्त भोज्य, देवों का अन्न है, और यही अन्न गृहस्थियों का अन्न है। मांस न तो देवों का अन्न है, और न गृहस्थियों का। यज्ञों में भी देवों के प्रति आहुति इन्हीं कथित मन्त्रों की देनी चाहियें, मांस की नहीं। लाजीन्=लाजानां समूहः; शाचीन्=सक्तूनां समूहः; यव्यः यव समूहः; गव्यः गोविकार समूहो दध्यादिः (महीधर)। शाचीन्= सक्तवो हि अतितरां शच्या कर्मणा सम्पाद्यन्त इति शचीनित्युवताः (उवट)। "सक्तु" पद में "पच्" धातु है, सम्भवतः वर्णव्यापत्ति द्वारा, शच्, शाचीन् पद व्युत्पन्न हुए हों। पच् समवाये (भ्वादि)।

शतपथब्राह्मण परिशिष्ट (३)

हविर्यज्ञों का विकास क्रम

ऐतरेय ब्राह्मण और पशु—

पुरुषं वै देवाः पशुमालभन्त,[1] तस्मादालब्धान्मेध उदक्रामत्[3]। ते ऽश्वमालभन्त, सो ऽश्वादालब्धादुदक्रामत्। ते गामालभन्त, स गोरालब्धादुदक्रामत्। ते ऽविमालभन्त, सो ऽवेरालब्धादुदक्रामत्। ते ऽजामालभन्त, सो ऽजादालब्धादुदक्रामत्। स इमां प्राविशत्। त एत उत्क्रान्तमेधा अमेध्याः पशवः, तस्मादेतेषां नाश्नीयात्। स व्रीहिरभवत्॥ (पं० २, अ० १, खं० ८)॥

देवों ने पुरुष को पशुरूप में (यज्ञार्थ) प्राप्त किया, उसके आलभन से उसमें से मेध अर्थात् यज्ञियांश निकल गया। उन्होंने अश्व का आलभन किया, उसके आलभन से वह मेध अर्थात् यज्ञियांस निकल गया। उन्होंने गौ का आलभन किया, उससे यज्ञियांस निकल गया। उन्होंने अवि अर्थात् भेड़ का आलभन किया, उससे यज्ञियांश निकल गया। उन्होंने अजा (बकरी) का आलभन णिया, उससे यज्ञियांश निकल गया। वह यज्ञियांश इस पृथिवी में प्रविष्ट हुआ। यह व्रीहि हुआ[2]। ये उक्त पशु, यज्ञियांश से रहित हैं, अतः यज्ञयोग्य नहीं, इस लिये इनका भक्षण[3] न करे।

---

१. आ+लभ् (प्राप्तौ)। आ+लभ (हिंसा) याज्ञिक अर्थ। आ+लभ् =To touch, to get, to kill (आप्टे)।

२. अभिप्राय यह कि प्राणिहनन को हिंसा जानकर, इनके माँस द्वारा यज्ञ करने की प्रथा जाती रही, और व्रीहि के पुरोडाश द्वारा यज्ञों के करने की प्रथा आरम्भ हुई।

३. अभिप्राय यह कि पशु जब तक जीवित रहता है, तभी तक उसमें मेध्य अर्थात् पवित्रांश रहता है। परन्तु इनके मरने पर इनमें मेध्यांश अर्थात्

यद्यपि भक्षण सम्बन्धी यह उद्धरण है। पशुओं के मांस द्वारा आहुति देने के पश्चात् उनके मांस का भक्षण किया जाता है। अतः भक्षण के निषेध द्वारा यज्ञ में मांसाहुति का निषेध अर्थापन्न है।

इस उद्धरण में आलभन के सम्बन्ध में ऐतिहासिक क्रम दर्शाया है। (क) सम्भवतः किसी समय पुरुष, अश्व, गौ, भेड़ और वकरी का प्रयोग याज्ञिक हविरूप में होता था। (ख) परन्तु शनैः-शनैः वह प्रयोग हटता गया। (ग) और ब्राह्मण ग्रन्थों के काल से पूर्व ही वह प्रयोग प्रायः हट चुका था, और उसका स्थान व्रीहि ने ले लिया था। सम्भवतः वेदाविर्भाव और ब्राह्मणग्रन्थों के मध्यकाल में एक ऐसा काल आया हो, जिसमें कि प्राणिहिंसा द्वारा यज्ञ करने की परिपाटी प्रचलित हुई हो, परन्तु ब्राह्मणग्रन्थों के काल में यह परिपाटी लगभग उच्छिन्न हो गई हो, जिसके उच्छेद में ब्राह्मणग्रन्थों का साहाय्य मिला हो। अतः ब्राह्मणग्रन्थों की सम्मति; रहस्य की दृष्टि से, हिंसामय पशुयज्ञों के विरोध में है।

ब्राह्मणग्रन्थों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि ब्राह्मणग्रन्थों के रचनाकाल के पूर्वकाल में जिस यज्ञिय कर्मकाण्ड का प्रचलन हुआ था, ब्राह्मणग्रन्थों में उनका अनुकथन कर, उनके आधिभौतिक, आधिदैविक, तथा आध्यात्मिक स्वरूपों पर प्रकाश डालने का यत्न किया है, ताकि अध्येताओं में याज्ञिक पक्ष के सम्बन्ध में उपेक्षावृत्ति पैदा हो जाय। इस यत्न का उत्तरोत्तर अधिक विकास आरण्यक ग्रन्थों तथा

पवित्रांश नहीं रहता। उदाहरणार्थ-जीवित पुरुष सम्पर्क के योग्य होता, है,परन्तु मरने पर उसके साथ सम्पर्क होने पर व्यक्ति को स्नान करना पड़ता है। अश्व जीवित रहते यात्रा तथा रथवहन योग्य होता है, परन्तु मरने पर फेंक देने योग्य होता है। गौ, अज और भेड़ जीवित रहते दूध, ऊन आदि यज्ञिय अर्थात् पवित्र वस्तुओं को देते हैं, मरने पर इनके शरीर अपवित्र हो जाते हैं। मांस तो विना मारे नहीं मिलता, और मरने के बाद ये पशु अपवित्र हो गए। इसलिये अपवित्र का मांस सर्वथा त्याज्य है, भक्षणयोग्य नहीं है। अथवा इस सन्दर्भ का यह अभिप्राय है कि अहिंसा के उत्तरोत्तर विकास में पुरुष आदि के मांस द्वारा यज्ञ करने की परिपाटी जाती रही, और व्रीहि द्वारा यज्ञ करने की परिपाटी चालू हो गई।

उपनिषदों में हुआ। मुण्डकोपनिषद् में तो याज्ञिक कर्मकाण्ड को अदृढ, प्लव और अवर अर्थात् अश्रेष्ठकर्म कहा है (मुण्डक १। खण्ड २। सन्दर्भ ७)। मुण्डकोपनिषद् में हविर्यज्ञों की कर्तव्यता का तो प्रतिपादन हुआ है (मुण्डक १, खण्ड २, सन्दर्भ १-६)।

यज्ञिय श्रौत-कर्मकाण्ड को तीन भागों में बाण्टा जा सकता है। आदिकाल, मध्यकाल तथा अवरकाल। आदिकाल में श्रौत कर्मकाण्ड पशुहिंसा से रहित था। इस सन्वन्ध में चरक संहिता के चिकित्सा स्थान के १९वें अध्याय में एक लेख मिलता हैं। यथा,—

> आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालम्भनीया बभूवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म। ततो दक्षयज्ञं प्रत्यवरकालं मनोः पुत्राणां नरिष्यन्नाभागेक्ष्वाकुनृगशर्य्यात्यादीनां च क्रतुषु पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात्पशवः प्रोक्षणमापुः। अतश्च प्रत्यवरकालं पृषध्रेण दीर्घसत्रेण यजमानेन पशूनामलाभात् गवामालम्भः प्रावर्त्तितः। तं दृष्ट्वा प्रव्यथिता भूतगणाः।

आदिकाल में यज्ञों में पशुओं का समालम्भन अर्थात् प्रदर्शनी के लिये संग्रह किया जाता था, आरम्भण अर्थात् हिंसार्थ पकड़ने के लिये नहीं। तदनन्तर दक्षयज्ञ के पश्चात् नरिष्यन्, नाभाग, इक्ष्वाकु, नृग तथा शर्याति आदि मनु के पुत्रों के यज्ञों में पशुओं की ही अभ्यनुज्ञा के कारण पशुओं के प्रोक्षण अर्थात् पवित्रता या शुद्धि के लिये जल सिञ्चन हुए। इसके बाद पृषध्र ने अन्य पशुओं के अभाव के कारण दीर्घसत्र, में गौ के बलिदान की प्रथा चलाई। यह देखकर सव प्राणि अत्यन्त व्यथित हुए।

इस सन्दर्भ में भी यज्ञों को तीन कालों में विभक्त किया गया है, आदिकाल और मनु के पुत्रों का काल, तथा पृषध्र काल। आदिकाल और मनु के पुत्रों के काल में तो यज्ञों में पशु बलि का निषेध किया है, और पृषध्र काल में पशुबलि का कथन हुआ है।

इस दृष्टि में चरक प्रदर्शित दो प्राथमिक काल तो आदि के काल हैं। पृषध्रकाल मध्यकाल है, जब कि यज्ञों (ऋतुओं) में पशुहिंसा का प्रसार हुआ। तथा अवरकाल ब्राह्मणग्रन्थों का काल है जिसमें कि प्रचलित याज्ञिक पद्धति का प्रदर्शन कर, उसके आधिभौतिक, आधि-

दैविक, और आध्यात्मिक स्वरूपों के प्रदर्शनों की ओर यत्न किया गया है।

तथा "सूतनिपात" नामक बौद्धग्रन्थ के एक प्रकरण "ब्राह्मण धार्मिक सूत" में महात्माबुद्ध ने निज शिष्यों के प्रति, प्राचीन ब्राह्मणों के सम्बन्ध में जो कहा है उसका अंग्रेजी भाषानुवाद निम्नलिखित है,—

"Having asked for rice, beds, garments, butter and oil, and gathered them justly, they made sacrifices out of these, and when the sacrifice came on, They did not kill cows." Gods, The fore-fathers, Indra, the asuras and rakshasas cried out, "This is injustice because of the weapon falling on the cows".

अर्थात्—ब्राह्मण लोग चावल, विस्तरे, पहिनने के कपड़े, घी और मक्खन तथा तैल, न्यायानुसार प्राप्त कर, इन्हीं वस्तुओं के द्वारा यज्ञ करते थे, और यज्ञों में गोघात न करते थे। देवलोग, पितर, इन्द्र, असुर और राक्षस चिल्ला उठे कि यह तो अन्याय है कि गौओं पर शस्त्रपात हो। इस प्रकार महात्मा बुद्ध ने दो काल माने हैं। प्रथम-काल अहिंसामय यज्ञों का, अवरकाल हिंसा प्रधान यज्ञों का। चावल घी, तैल द्वारा आग्नेय यज्ञों को सूचित किया है, और विस्तरों और पहिनने के कपड़ों द्वारा दानयज्ञ सूचित किया है। निरुक्त (७।६।२३) वैश्वानर की व्याख्या में यास्काचार्य ने "अथासावादित्य इति पूर्व याज्ञिका:" द्वारा पूर्व काल के निर्देश द्वारा अर्थापत्त्या 'उत्तरे याज्ञिका:' का निर्देश किया है। इस प्रकार यास्काचार्य की दृष्टि में भी याज्ञिक द्विविध हैं, पूर्वे याज्ञिका:, और उत्तरे याज्ञिका:। परन्तु यास्काचाय का "पूर्वे याज्ञिका:" से क्या अभिप्राय है,—वह अस्पष्ट है। तो भी इस द्विविध भेद द्वारा यह तो ध्वनित होता ही है कि याज्ञिकों में भी याज्ञिक विधियों तथा याज्ञिक प्रक्रियाओं में भेद रहा है।

तथा "सूतनिपात" के उद्धरण से यह भी स्पष्ट होता है कि जब

यज्ञों में गोवध आरम्भ हुआ तब देवों (विद्वानों), इन्द्र (राजाओं) असुरों और राक्षसों तक में गोघात के विरोध में हलचल मच गई। इस काल में असुर और राक्षस भी गोघात के विरोधी थे। ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल में धार्मिक कृत्यों में स्वतन्त्रता के कारण सब में हलचल तो मच गई, परन्तु ऐसे कृत्यों पर प्रतिवन्ध नहीं लगाया।

शतपथब्राह्मण परिशिष्ट (४)

अग्निचयन की पांच चितियों के नियामक तत्त्व

१. पांच चितियां=यदेता वा ऽअस्यै ताः पञ्च तन्वो व्यस्रंसत लोम त्वङ् माँसमस्थि मज्जा ता एवैताः पञ्च चितयस्तद् यत् चितीश्चिनोत्येताभिरेवैनं तत्तनूभिश्चिनोतीति, यत् चिनोति तस्माच्चितयः ॥ (६।१।२।१७)

जो इस प्रजापति के ये पांच तनू अर्थात् अङ्ग शिथिल हुए थे वे हैं लोम, त्वचा, मांस, अस्थि और मज्जा [हड्डियों में का गुद्दा], वे ही ये पञ्च चितियां हैं। जोकि पांच चितियां [वेदि में] चिनता है इन द्वारा ही इसे, उन चितियों [लोम आदि] द्वारा वह चिनता है। जो चिनता है इसलिये ये चितियां कहलाती हैं।

[इस कण्डिका द्वारा यह ज्ञात होता है कि याज्ञिक अग्निचयन की पांच चितियां, शारीरिक पांच लोम आदि अङ्गों की प्रतिनिधिरूप हैं। अग्निचयन का यह आध्यात्मिक स्वरूप है]।

२. अयं वै लोकः प्रथमा चितिः (श० ८।२।१।१)। एतां द्वितीयां चितिमपश्यन् यदूर्ध्वं पृथिव्या अर्वाचीनमन्तरिक्षात् (श० ८।२।१।२)। ते ऽचेतयमाना अन्तरिक्षमेव बृहतीं तृतीयां चितिमपश्यन् (८।३।१।२)। ते चेतयमाना ऽएतां चतुर्थीं चितिमपश्यन् यदूर्ध्वमन्तरिक्षादर्वाचीनं दिवः (८।४।१।२)। ते ऽचेतयमाना दिवमेव विराजं पञ्चमीं चितिमपश्यन् (८।५।१।२)।

यह लोक [पृथिवी] प्रथमा चिति है (१)। इस दूसरी चिति को उन्होंने देखा जोकि पृथिवी से ऊर्ध्व है, और अन्तरिक्ष से इधर है (२)। उन्होंने विचार करके अन्तरिक्ष को ही महती तीसरी चिति-रूप में देखा (८।३।१।२)। उन्होंने विचार करके इस चौथी चिति को

देखा जोकि अन्तरिक्ष से ऊर्ध्व है और दिव् से इधर है (८।४।१।२)। उन्होंने विचार करके विराज् अर्थात् विविध तारारूपों में दीप्यमान पांचवीं चिति को देखा (८।५।१।२)।

[इन कण्डिकाओं द्वारा "याज्ञिक; अग्निचयन" की पांच चितियां, आधिदैविक पृथिवी आदि की प्रतिनिधि या प्रतिच्छाया रूप कही हैं]।

३. इसी प्रकार याज्ञिक; अग्निचयन की पांच चितियों को, संवत्सर प्रजापति की अङ्गभूत पांच ऋतुओं की प्रतिनिधिरूप भी कहा है (६।१।२।१८,१९)।

४. पांच याज्ञिक-चितियों को प्राण-अपान आदि की प्रतिनिधिरूप भी कहा है। यथा,=

स प्रथमां चितिं चिनोति। सा हास्यैषा प्राण एव (श० १०।१।४।२)(१)। द्वितीयां चिति चिनोति। सा हास्यैषा ऽपान एव (२)। तृतीयां चितिं चिनोति। सा हास्यैषा व्यान ऽएव (३)। चतुर्थी चितिं चिनोति। सा हास्यैषोदान ऽएव (४)। पञ्चमीं चितिं चिनोति। सा हास्यैषा समान ऽएव (५)। षष्ठीं चितिं चिनोति। सा हास्यैषा वागेव (६)।

प्राण की इन ६ चितियों को प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, तथा वाक् कहा है। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में बहुत गौणवाद मिलते हैं। इसीलिये निरुक्त में कहा है कि **"बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति"**।

इस प्रकार अग्निचयन की पांच चितियों को शारीरिक पांच तत्त्वों, पृथिवी आदि पांच लोकों, संवत्सर की पांच ऋतुओं, और प्राण, अपान आदि पांच प्राण तत्त्वों के प्रतिनिधि कहा है। परन्तु अग्निचयन प्रकरण में केवल पृथिवी आदि पांच लोकों की दृष्टि से ही पांच चितियों का वर्णन हुआ है। अग्निचयन की प्रत्येक चिति में, ब्रह्माण्ड के प्रत्येक पृथिवी आदि आधिदैविक लोक में अवस्थित तत्त्वों को, इष्टकाओं के रूप में स्थापित किया गया है। पशुओं के सिरों, दर्भों, कूर्म, रुक्म, रुक्मपुरुष आदि को भी इष्टका कहा हैं, क्योंकि ये यजमान के इष्ट का सम्पादन करते हैं, **"इष्टं कुर्वन्तीति इष्टकाः"**।

रुक्म का अभिप्राय है रोचमान सूर्य और रुक्मपुरुष का अभिप्राय है रोचमान सूर्य में स्थित रोचमान-परमेश्वर। रुक्म अर्थात् सूर्य निज रश्मियों द्वारा पृथिवीस्थ माना है, और रुक्मपुरुष अर्थात् परमेश्वर सर्वव्यापक होने से पृथिवीस्थ भी है। रुक्म आदि के लिये देखो "अग्निचयन की पंच चितियों की इष्टकाएँ"।

शतपथब्राह्मण परिशिष्ट (५)

अग्निचयन की पंचचितियों की इष्टकाएं

(क) जो परिश्रित् पत्थर हैं वे ३६० होते हैं, उनमें २१ गार्हपत्य के चारों ओर स्थापित करता है, ७८ धिष्ण्यों के चारों ओर, २६१ आहवनीय के चारों ओर। (१०।४।३।१३)

(ख) यजुष्मती-इष्टकाएँ अर्थात् यजुर्वेद के मन्त्र भागों के उच्चारणपूर्वक स्थापित इष्टकाएँ,-यथा,—दर्भस्तम्ब, ४ लोगेष्टकाएँ,पुष्करपर्ण, रुक्म और रुक्मपुरुष, २ स्रुच्, स्वयमातृण्णा, दूर्वेष्टका, १ द्वियजुस्-इष्टका, २ रेतःसिच्, १ विश्वज्योतिः, २ ऋतव्या, १ अषाढा, कूर्म, उलूखल और मुसल, उखा, पांच पशुसिरियां, १५ अपस्याः, ५ छन्दस्याः, ५० प्राणभृतः,—ये ९८ इष्टकाएँ प्रथमाचिति की हैं ॥ (१०।४।३।१४)

[इष्टकाः=इष्ट सम्पादिकाः, न कि ईंटे। इष्टका=इष्टं करोतीति; अथवा इष्टे, कम् (सुखम्), अभवत्=इष्ट+क+अ =इष्टका]।

(ग) पांच आश्विनी, दो ऋतव्या, पांच वैश्वदेवी, पांच प्राणभृत्, पांच अपस्याः, १९ वयस्या,=ये ४१ इष्टकाएँ, द्वितीया चिति की हैं ॥ (१०।४।३।१५)

(घ) १ स्वयमातृण्णा, पांचदिश्याः, १ विश्वज्योतिः, चार ऋतव्या; १० प्राणभृत्, ३६ छन्दस्या; १४ बालखिल्याः—ये ७१ इष्टकाएँ, तृतीया चिति की हैं ॥ (१०।४।३।१६)

(ङ) १८ पहले, फिर १२, फिर १७,—ये ४७,—इष्टकाएँ, चतुर्थी चिति की हैं ॥ (१०।४।३।१७)

(च) ५ असपत्ना; ४० विराजः, २९ स्तोम भागाः, ५ नाकसदः, ५ पंचचूडाः, ३० छन्दस्याः, ८ गार्हपत्यकुण्ड की, ८ पुनश्चिति की, दो ऋतव्या, १ विश्वज्योतिः, १ लोकम्पृण्णा, १ विकर्णी, १ स्वयमातृण्णा, १ अश्मा पृश्निः,—ये १३८ इष्टकाएँ, पञ्चमी चिति की हैं ॥ (१०।४।३।१८)

इन सब इष्टकाओं की व्याख्या अग्निचयन के प्रकरण में कर दी गई है।

शतपथब्राह्मण परिशिष्ट (६)

अग्निचयन की इष्टकाओं के वास्तविक अभिप्राय

१. पुरुषः=प्रजापतिः (६।१।१।५)।

२. अश्वः रासभः और अजः(६।१।१।११) = द्युलोक के तारा-मण्डल, देखो संलग्न ज्योतिष चित्र (संख्या १, २)

३. कूर्मः (६।१।१।१२) = =कश्यपीय-तारामण्डल। अथवा "आदित्य"।

४. चिते ऽग्निः=आदित्यः (६।१।२।२०)।

५. यजुष्मत्य इष्टकाः=क्षत्रम् (६।१।२।२५)।

६. लोकम्पृणा इष्टकाः=विशः (६।१।२।२५)।

७. अविः=इयं [पृथिवी] वा ऽअविः (६।१।२।३३)।

८. अवी=इयं [पृथिवी] च, असौ [द्यौः] च (६।१।२।३४)।

९. गौः=इमे वै लोकाः; गमनात् (६।१।२।३५)।

१०. अजः=प्राजापत्यः, वायव्यश्च (६।२।१।३६; तथा ६।२।२।२,६,७)। तथा देखो परिशिष्ट (२)।

११. तूपरः लप्सुदी=शृङ्गविहीन, दाढ़ी वाला अज [इसमें पुरुष, अश्व, गौ, अवि के रूप हैं, अतः इसी एक के आलम्भन से शेष चार का भी आलम्भन हो जाता है] (६।२।२।१५)।

१२. पञ्चपशु शीर्षाणि=[पांच पशुओं,—पुरुष, अश्व, गौ, अज (बकरा), तथा अवि (भेड़ के सिर)] इन्हें अग्निचयन की प्रथमा-चिति में स्थापित करना होता है। इनके सम्बन्ध में विकल्प यथा, —

(क) इन सिरों को किसी प्रकार प्राप्त कर लिया जाय; [इन को नई हत्या से प्राप्त न किया जाय] (६।२।१।३७)।

(ख) कई पांच सिरों को सुवर्ण निर्मित कर लेते हैं(६।२।१।३८)

(ग) कई मिट्टी के बना लेते हैं (६।२।१।३९)।

(घ) परन्तु याज्ञिक नए सिरों की प्राप्ति के पक्षपाती हैं (६।२।१।३७,३९)।

प्रथमा चिति

१३. स्वयमातृण्णा-इष्टका अर्थात् स्वभावतः सच्छिद्र-इष्टका; (१)=पृथिवी (६।२।३।१)। (२) अन्तरिक्ष (६।२।३।३)। (३), तथा दिव् (६।२।६।५)।

१४. लोकम्पृणा-इष्टका=खाली स्थान भरने वाली इष्टका= आदित्यः (६।२।३।६)। आदित्य, रश्मियों द्वारा तीनों लोकों को भर रहा है।

१५. रासभ [गदहा] दो पशुओं का प्रतिनिधि है, गौ का और अवि का (६।३।१।२३)।

१६. पुरुषः=अनद्धा पुरुषः, पुरुष के स्थान में अनद्धा अर्थात् झूठा, अवास्तविक पुरुष। अद्धा सत्यनाम (निघं० ३,१०). अनद्धा= असत्य, अवास्तविक, तिनकों द्वारा निर्मित पुरुष (६।३।१।२४)। अनद्धा पुरुषः=अलीक पुरुषः (सायण)।

१७. अभ्रिः=खुरपी, बांस की बनी, दोनों पार्श्वों में तेज=वाक्। वाणी भी दोनों ओर से तेज होती है, क्योंकि यह दैवी और मानुषी, तथा सत्य और अनृत दो प्रकार की बातें भी बोलती है (६।३।१।३१-३४)।

१८. वपा=बल्मीक वपा=दीमक द्वारा बना, खोखली मिट्टी का ढेर (६।३।३।५)। तथा क्रम संख्या (३५)।

१९. अश्वः=असौ वा ऽआदित्य ऽएषो ऽश्वः (६।३।३।१०)।

२०. विश्वज्योतिषः=अग्निः, वायुः, आदित्यः (६।३।३।१६)।

२१. गार्हपत्यः= अयं [पृथिवी] वै लोकः गार्हपत्यः (७।१।१।६)।

२२. परिश्रितः [पत्त्थर]=आपः, समुद्रः (७।१।१।१३)।

२३. ऊषा [खारी मिट्टी]=पशवः (७।१।१।६)।

२४. सूददोहस्=प्राणः (७।१।१।२६)।

२५. सिकताः [रेतः]—वैश्वानर अग्नि का वीर्य (७।१।१।४१)।

२६. उखा [छोटी अंगीठी]—योषा (७।१।१।४२)।

२७. आहवनीयः—द्यौः (७।१।२।१९)।

२८. धिष्ण्याः—अन्तरिक्षम् (७।१।२।२३)।

२९. नैर्ऋतीः-इष्टकाएँ - निर्ऋति अर्थात् पाप को दूर करने की प्रतिनिधियां (७।२।१।३)।

३०. दर्भस्तम्बः [दर्भघास का गुच्छा]—यद् दर्भा ऽआपश्च ह्येता ऽओषधयश्च (७।२।३।२), अर्थात् दर्भघास जलों और ओषधियों की प्रतिनिधि है।

३१. सोमः—यो ऽयं वायुः पवत ऽएष सोमः (७।३।१।१)।

३२. पुष्करपर्णम्—आपः का प्रतिनिधि (७।३।१।९)।

३३. लोगेष्टकाः [मिट्टी के ढेले]—दिशः (७।३।१।१३)।

३४. आपश्चन्द्राः—मनुष्याः (७।३।१।२०)।

३५. वपा—यद्वै किं चास्याँ (पृथिव्याम्) सास्यै वपा (७।३।१।२१), अर्थात् पृथिवी में जो कुच्छ है वह पृथिवी की वपा है (देखो क्रम संख्या १८)।

३६. महिषः—अग्निः (७।३।१।३४)।

३७. शुक्लो ऽश्वः—आदित्यः (७।३।२।१०)।

३८. पुष्करपर्णम्—आपो वै पुष्करम्, तासामियं [पृथिवी] पर्णम् (७।४।१।८)।

३९. रुक्मः—आदित्यः (७।४।१।१७); रुक्मपुरुषः—य एष ऽएतस्मिन् मण्डले पुरुषः (७।५।१।१७) [यजु० ४०,१७]।

४०. द्रप्सः—आदित्यः (७।४।१।२०)।

४१. सप्तहोत्राः—दिशः (७।४।१।२०)।

४२. सर्पाः—इमे वै लोकाः (७।४।१।२७)।

४३. स्रुचौ—बाहू (७।४।१।३६)=इन्द्राग्नी (७।४।१।४३)।

४४. प्रतिसर मन्त्राः—यजु० (१३।९-१३), (श० ७।४।१।३३)।

४५. स्वयमातृण्णा-इष्टका—इयम् [पृथिवी], तथा अन्नम् [यतः पृथिवी पर सब अन्न होता है], (७।४।२।१); तथा स्वयमातृण्णा—प्राणः [यतः पृथिवी ही प्राण है, इस पर अन्न होता, और अन्न है प्राणदाता] (७।४।२।२)।

४६. दूर्वा-इष्टका—प्राणः, रसः (७।४।२।१२); तथा दूर्वा—पशवः (७।४।२।१०,१९)।

४७: द्वियजुः-इष्टका—यजमानः(७।४।२।१६)। [यतः दो यजु-मंन्त्रों द्वारा इस इष्टका को स्थापित किया जाता है]।

४८. रेतःसिचौ-इष्टके—इमौ लोकौ [पृथिवी, द्यौः], (७।४।२।२२); तथा आण्डौ (७।४।२।२४)।

४९. विश्वज्योतिः-इष्टका—अग्निः प्रथमा विश्वज्योतिः (७।४।२।२५); तथा प्रजा (७।४।२।२६); तथा प्राणः (७।४।२।२८)।

५०. दो ऋतव्ये-इष्टके—वसन्त ऋतु के दो मास मधु (चैत्र), माधव (वैशाख) सम्बन्धी, (७।५।२।२९)।

५१. अषाढा-इष्टका—वाक् (७।४।२।३४); तथा सर्वे प्राणा अषाढा (७।४।२।३६), [यद सहन्त तस्मादषाढा (७।४।२।३३)]।

५२. वामभृत्—इयम् [पृथिवी]; वाम—प्राण; पृथिवी प्राणियों का भरण-पोषण करती है; तथा वाक् (७।४।२।३५)।

५३. ५ अपस्याः-इष्टकाएँ—आपः=अन्नम्।

५४. कूर्म (कछुआ)। कूर्मः इमे लोकाः (७।५।१।१)। कूर्म का निचला भाग—पृथिवी; ऊपर का—द्यौः, मध्य का=अन्तरिक्ष (७।५।१।१)। कूर्मः—आदित्यः (७।५।१।६)। तथा कूर्म—प्राणः (७।५।१।७)।

५५. अवका-इष्टका—आपः (७।५।१।११)।

५६. उलूखलमुसले—अन्नं यदुलखलमुसले; उलूखलमुसलाभ्याँ ह्येवान्नं क्रियते (७।५।१।१२)। [उलूखल, मुसल=ओखली और मूसल]।

५७. उखा—इमे लोकाः (७।५।२।३)।

५८. पशु शीर्षाणि—पुरुष, अश्व, गौ, अज, अवि के सिर (७।५।२।१)। या वै ताः श्रिय ऽएतानि तानि पशुशीर्षाणि (७।५।२।३)।

५९. हिरण्यशकलम्—प्राणा वै हिरण्यम् (७।५।२।८)।

६०. अजः—वाक् वा ऽजः (७।५।२।३६)।

६१. अपस्याः-इष्टकाः—आप ऽएता यदपस्याः। अपस्या इष्टकाएँ जल की प्रतिनिधि हैं (७।५।२।४०)। ये संख्या में १५ होती हैं।

६२. छन्दस्या:-इष्टका:—ये संख्या में ५ होती हैं। गायत्र, त्रैष्टुभ:, जागत, आनुष्टुभ, पांक्त इन छन्दों वाले मन्त्रभागों [यजु० १३।५३] का उच्चारण करते हुए इन्हें स्थापित करना होता है, अतः इनका नाम छन्दस्या: है। ५ पशुओं के सिर ५ हैं, अतः ये इष्टकाएँ भी ५ हैं (७।५।२।४२)।

विशेष:—संख्या ६१,६२ की इष्टकाओं को हाथों-पैरों की अङ्गुलियों के प्रतिनिधि भी कहा है (७।५।२।६२)।

६३. प्राणभृत:-इष्टकाएँ—प्राणा: (८।१।१।१)। ये ५×१० =५० होती हैं। पशु हैं पांच। प्रत्येक पशु में दस-दस प्राण स्थापित करता है (८।१।१।२)।

६४. वसिष्ठः ऋषि:—प्राण: (८।१।१।६)।

६५. विश्वकर्मा—वायु: (८।१।१।७)। वैश्वाकर्मणम्—मन:। मन वायुरूप है, तद्वत् चञ्चल है (यजु० १३।५५)।

६६. भरद्वाज: ऋषि:—मन: (८।१।१।९)।

६७. विश्वव्यचा:—आदित्य: (८।१।२।१)। वैश्वव्यचसम्—चक्षु: (यजु० १३।५६)।

६८. जमदग्नि: ऋषि:—चक्षु: (८।१।२।३)।

६९. विश्वामित्र: ऋषि:—श्रोत्रम् (८।१।२।६)।

७०. उपरिमति:—चन्द्रमा:। मति—वाक् (७।१।२।७)।

७१. विश्वकर्मा-ऋषि:—वाक् (८।१।२।९)।

विशेष:-संख्या ६४-७१ तक की प्रतिनिधि भी इष्टकाएँ हैं, जोकि प्रथमाचिति में स्थापित की जाती हैं।

द्वितीया चिति

७२: अश्विनी-इष्टका:—ये पांच होती हैं। ये दो अश्विन्-देवों सम्बन्धी हैं——चार हैं दिश: (८।२।१।८), और पांचवीं-अश्विनी-इष्टका—ऊर्ध्वादिशा, अर्थात् आदित्य (८।२ १।९)।

७३. दो ऋतव्या-इष्टकाएँ—ग्रीष्म ऋतु की। शुक्र (ज्येष्ठ), तथा शुचि (अषाढ), ये दो मास (८।१।१।१६)।

७४. वैश्वदेवी-इष्टकाएँ—ता ऽएता: सर्वा: प्रजा: (८।२।२।५)।

ये ५ होती हैं। प्रजाएँ ५ प्रकार की हैं, गावः, अश्वाः, पुरुषाः, अजाः, अवयः।

७५. विधाः - आपः। वयोनाधाः—प्राणाः, तथा छन्दांसि (८।२।२।८)।

७६. प्राणभृतः—वायुः। प्राणभृत्-इष्टकाएँ ५ होती हैं, वायु के पांच दिशाओं में बहने से (८।२।३।२)। तथा प्राण, अपान, व्यान, चक्षुः, श्रोत्र,—इन पांच की रक्षक होने से (८।२।३।३); यजु० १४।८॥

७७. अपस्याः वृष्टिः। ये इष्टकाएँ ५ होती हैं, चूँकि पांचों दिशाओं में वर्षा होती है (८।२।३।५)। तथा ५ सिरियों के ५ प्राणों में जल को स्थापित करता हैं (८।२।३।६)।

७८. १९ छन्दस्या-इष्टकाएँ—पशवः। इन्हें 'वयस्याः' इष्टकाएँ भी कहते हैं। वयः—आयुः या अन्न (८।२।३।१०-१४; तथा ८।२।४।१-१६)।

७९. लोकम्पृणा—दो इष्टकाएँ,रिक्त स्थान भरने वाली इष्टकाएँ (८।२।४।२०)।

तृतीया चिति

८०. स्वयमातृण्णा—स्वभावतः सच्छिद्र इष्टका—प्राणः [वायुः] (८।३।१।१०)।

८१. ५ दिश्या इष्टकाएँ—पांच दिशाएँ (८।३।१।११)।

८२. १ विश्वज्योतिः-इष्टका—वायुः (८।३।२।१); तथा प्रजाः (८।३।२।२)।

८३. ४ ऋतव्या-इष्टकाएँ—ऋतुएँ। वर्षा-ऋतु की दो इष्टकाएँ नभः (श्रावण) तथा नभस्य (भाद्रपद), तथा इष (आश्विन) और ऊर्जस् (कार्तिक)। इस प्रकार ४ मासों की ४ इष्टकाएँ (८।३।२।५,६)।

८४. १० प्राणभृत्-इष्टकाएँ—प्राणाः (८।३।२।१४)—आयुः, प्राण, अपान, व्यान, चक्षुः, श्रोत्र,वाक्,मनः, आत्मा,ज्योतिः (यजु० १४।१७)।

८५. ३६ छन्दस्या इष्टकाएँ—पशवः (८।३।३।१,२), (यजु० १४।१८,१९)।

८६. १४ वालखिल्या इष्टकाएँ—प्राणाः—हाथ २, बाहु २, सिर

१, ग्रीवा १, नाभि १, ऊरू २, जानु (घुटने) २, पैर २, तथा नाभि से निचला भाग १, (८।३।४।१४,५)।

वालखिल्याः[1]—वालमात्रेणापि खिला अभिन्नाः, अर्थात् हाथ आदि प्राण परस्पर, वालमात्र की सीमा द्वारा, परस्पर से पृथक् हैं (८।३।४,१)।

८७. लोकम्पृणा-इष्टकाएँ—आदित्य (८।७।२।११)। तृतीया चिति में वेदि[2] की उत्तर-पश्चिम श्रोणी (कोने) से दो लोकम्पृणा [रिक्त स्थान भरने वाली] इष्टकाओं का स्थापन प्रारम्भ करता है (८।३।४।१५)। ये इष्टकाएँ चार होती हैं। वेदि के चारों कोनों में एक-एक। मानों आदित्य रश्मियों द्वारा समग्र स्थानों को भर रहा है। वेदि का चित्र देखो श० १०।४।३।१६, पृष्ठ संख्या १२३।

चतुर्थी चिति

८८. एतया वै चतुर्थ्या चित्येमे द्यावापृथिवी विष्टब्धे। ब्रह्म वै चतुर्थी चितिस्तस्मादाहुर्ब्रह्मणा द्यावापृथिवी विष्टब्धे ऽइति। स्तोमानुप दधाति। प्राणा वै स्तोमाः। प्राणा ऽउ वै ब्रह्म, ब्रह्म वै तदुप दधाति (८।४।१।३)।

इस चतुर्थी चिति द्वारा द्युलोक और भूलोक थमे हुए हैं। चतुर्थी चिति है ब्रह्म। इसलिये कहते हैं कि ब्रह्म द्वारा द्युलोक और भूलोक थामे हुए हैं। स्तोमेष्टकाओं को स्थापित करता है। स्तोम हैं प्राण। और प्राण है ब्रह्म। अतः ब्रह्म को ही स्थापित करता है। ब्रह्म प्राणों का भी प्राण है। अतः प्राणस्वरूप है।

८९. तद् या ऽएता ऽअष्टादश प्रथमाः। स्तोमानुप दधाति, प्राणा वै स्तोमाः, प्राणा ऽउ वै वायुः (८।४।१।८)।

पहली १८ ईंटों को स्थापित करता है। ये १८ स्तोमों की प्रतिनिधि हैं, अर्थात् १८ प्राणों की, वायुओं की। स्तोम का अर्थ है "सामगानों के आधारभूत मन्त्र-समूह"। १८ सोम देखो (यजु० १४।२३)।

---

१. "यद्वा ऽउर्वरयोरसम्भिन्नं भवति खिल इति वै तदा चक्षते, वालमात्राद् हेमे प्राणा ऽअसम्भिन्नं ते यद् वालमात्रादसम्भिन्नास्तस्माद् वालखिल्याः" (८।३।४।१)।

२. देखो वेदि का संलग्न चित्र। पृ० १२३

विशेष:-चतुर्थी चिति के सम्बन्ध में कहा है कि **"ऊर्ध्वमन्तरिक्षात्, अर्वाचीनं दिव:"** (८।४।२।१) । अन्तरिक्ष से ऊपर और दिव् से इधर 'आदित्य' प्रतीत होता है, जिसमें की ब्रह्म पुरुष की स्थिति है, यजु० (४०।१७) । इस ब्रह्म-पुरुष कि ब्रह्म-पुरुष की स्थिति है, यजु० (४०। १७) । इस ब्रह्म-पुरुष की स्तुति में १८ सामगानों के गान का विधान प्रतीत होता है । आदित्य-परिवार का संचालक ब्रह्म-पुरुष है ।

९०. स्पृत्-इष्टकाएं=सर्वाणि भूतानि पाप्मनो मृत्यो: "अस्पृणोत्" तस्मात्स्पृत: (८।४।२।२) ।

अत: स्पृत्-इष्टकाएँ, पाप और मृत्यु से सब भूतों को बचाने की प्रतिनिधिरूप हैं । ये १० हैं । यजु० (१४।२४-२६) इन तीन मन्त्रों में ब्रह्म, क्षत्र आदि १० को पाप और मृत्यु से बचाने का वर्णन हुआ हुआ है, अत: स्पृत्-इष्टकाएँ १० कही हैं । अस्पृणोत् का अर्थ हैं,—बचाया ।

९१. ऋतव्या दो इष्टकाएँ—हेमन्त ऋतु के दो मासों, सह: (मार्गशीर्ष) और सहस्य (पौष) की प्रतिनिधि हैं । (८।३।२।१४)

९२. सृष्टि-इष्टकाएँ—(१) ब्रह्मा या ब्रह्म (वेद) । (२) भूतानि । (३) सप्त ऋषय: ।(४) पितर: । (५) ऋतव: । (६)मासा: । (७) क्षत्रम् । (८) ग्राम्या: पशव: । (९, १०) शूद्रार्यौं । अर्थात् शूद्र और वैश्य, अर्य: स्वामिवैश्ययो:(महीधर) । (११) एकशफा पशव: । (१२) क्षुद्रा: पशव: ।(१३) आरण्या: पशव: ।(१४) द्यावापृथिवी । (१५) वनस्पतय: । (१६) प्रजा: । (१७) भूतानि अशाम्यन्त,—सृष्टि सम्बन्धी ये १७ इष्टकाएँ हैं (८।४।३।२०), तथा यजु० (१४। २८-३१) । शूद्रार्यौं=शूद्र और आर्य (महर्षि दयानन्द) ।

९३ दो लोकम्पृणा-इष्टकाएँ—इन दो इष्टकाओं का स्थापन करता है (८।४।४।१२) ।

चतुर्थी चिति के अन्य नाम—ब्रह्मचिति, प्रजापतिचिति, ऋषिचिति, वायुचिति, स्तोमचिति, प्राणचिति (८।४।४।१२) ।

पञ्चमी चिति[1]

९४. पञ्चमी चिति को दिव् अर्थात् द्युलोक कहा है, जो कि

१. चितियों की संख्या निश्चित नहीं । इन्हें ५ भी कहा है, ६ भी, और

विराज् अर्थात् विविध ताराओं द्वारा दीप्त है। केवल दिव्, आदित्य है, और विराज्-दिव्, द्युलोक है (८।५।१।२)।

९५ असपत्ना-इष्टकाएँ--लोक को शत्रु रहित कर देने सम्बन्धी ५ इष्टकाएँ (८।५।६।४)।

९६. चालीस विराज्-इष्टकाएँ—चार दिशाओं में से प्रत्येक में दस-दस विराज्-इष्टकाएँ स्थापित करता है(८।५।१।५)। इन विराज्-इष्टकाओं को 'छन्दस्याः' भी कहते हैं (यजु० १५।४५)। ये ४० इष्टकाएँ,—पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः, दिशाएँ, अन्न, मन [प्रजापति], आदित्य आदि ४० पदार्थों की प्रतिनिधि हैं (८।५।२।३-६)।

९७. स्तोमभागा-इष्टकाएँ—ये २९ होती हैं। ये इष्टकाएँ नानाविध अन्नरसों की प्रतिनिधि हैं (८।५।३।२)। स्तोम हैं आदित्य, क्योंकि स्तोमों अर्थात् गेयमन्त्रों द्वारा आदित्य या आदित्यस्थ पुरुष की स्तुति की जाती है। यतः नानाविध अन्नरसों का भागी आदित्य हुआ है, अतः स्तोम अर्थात् आदित्य के भाग सम्बन्धी इष्टकाएँ हैं (८।५।३।२)। नानाविध अन्नरसों सम्बन्धी मन्त्र (यजु० १५।६-९)।

९८. नाकसद्-इष्टकाएँ—देवाः; नाक अर्थात् सुख के अभाव से रहित स्वर्ग में बैठने वाले देव। अग्निचयन की ये इष्टकाएँ हैं, नाक या स्वर्ग की प्रतिनिधिरूप (८।६।१।१,३)। "नाकः=कम् इति सुखनाम, तत्प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्येत" (निरुक्त २।४।१४)। कम् (सुखम्); अकम् (सुखाभाव); न+अकम् सुखाभाव का अभाव। नाकसद्-इष्टकाएँ ५ होती हैं, ४ दिशाओं में चार तथा मध्य में एक, इस प्रकार इन्हें स्थापित करता है।

विशेषः—याज्ञिकों की दृष्टि में नाक है स्वर्ग, क्योंकि याज्ञिक कर्मों द्वारा व्यक्ति स्वर्ग का ही लाभ कर सकता है। वेदों की दृष्टि में नाक है मुक्ति, स्वर्ग से श्रेष्ठ। "येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा। येन स्व स्तभितं येन नाकः" (यजु० ३२।६) में स्वर्ग और नाक का पृथक्-पृथक् वर्णन हुआ है। नाक अर्थात् मोक्ष का लाभ ज्ञान द्वारा होता है, याज्ञिक कर्मों द्वारा नहीं। ऋते ज्ञानात्, न मुक्तिः।

९९. पञ्च चूडा-इष्टकाएँ—ये नाकसद्-इष्टकाओं पर स्थापित

७ भी, तथा तीन भी (८।५।४।८-१२)।

की जाती हैं, मानो पञ्चचूडा-इष्टकाएँ नाकसदों की चूडा अर्थात् चोटियां हैं। चूडा=चोटी; यथा—चूडाकर्म संस्कार में चूडा=चोटी। ये इष्टकाएँ ५ होती हैं।

विशेष:—पांच नाकसद्, पांच देव हैं। सम्भवत: ४ ऋत्विक्, और १ यजमान (८।६।१।११)। ये मानुष देव हैं। ५ नाकसदों पर, ५ पञ्चचूडाएँ स्थापित की जाती हैं, मानो ४ ऋत्विजों और १ यजमान पर एक-एक चूडा (चोटी) रखने का विधान किया गया हैं।

१००. छन्दस्या-इष्टकाएँ—ये इष्टकाएँ ३ × १० अर्थात् ३० होती हैं। तीन-तीन करके इष्टकाओं को १० वार, १० स्थानों में स्थापन करना होता है। ये इष्टकाएँ वैदिक छन्दों की प्रतिनिधि हैं (८।६।२।१-१९)। इन इष्टकाओं को वेदि की श्री कहा है, पशु और अन्नरूप भी (८।६।२।१)।

१०१. गार्हपत्यकुण्ड—अग्निचयन की पांचवीं-चिति पर गार्हपत्य-कुण्ड का निर्माण पुनः किया जाता है। पहला गार्हपत्य-कुण्ड वेदि के बाहर बनाया गया था अब वेदि के भीतर पांचवीं चिति पर बनाया जाता है। गार्हपत्यकुण्ड के लिये ८ इष्टकाएँ चिनता है।

१०२. पुनश्चिति—यह कुण्ड, गार्हपत्यकुण्ड पर, ८ इष्टकाओं से बनाया जाता है, पांच वार करके अर्थात् ५ तहों में। गार्हपत्यकुण्ड को योनि, और पुनश्चिति को वीर्य कहा है (८।६।३।१०)।

अभिप्राय:—पहले गार्हपत्यकुण्ड वेदि के बाहर बनाया था। अब वेदि के भीतर अर्थात् पंचमी-चिति पर गार्हपत्यकुण्ड को बनाकर, उस पर पांच तहों में आठ-आठ इष्टकाएँ चिनी जाती हैं। जैसे पहिले अग्निचयन की ५ चितियां चिनी गई हैं, इसी प्रकार पुनश्चिति में पुनः पांच चितियां चिनी जाती हैं। इसलिये पुनः चयन की चितियों को पुनश्चिति कहते हैं। आठ-आठ इष्टकाओं को ५ वार चिनने के कारण ८+५=१३ संख्या कही है (८।६।३।१२)।

१०३. तदनन्तर दो ऋतव्या-इष्टकाओं को जोकि शिशिर-ऋतु के तपः (माघ) और तपस्य (फाल्गुन) मासों की प्रतिनिधि हैं, स्थापित करता है (८।७।१।१,५)।

१०४. एक विश्वज्योति-इष्टका को स्थापित करता है। यह आदित्य की प्रतिनिधि है (८।७।१।१५)।

१०५. एक लोकम्पृणा-इष्टका को स्थापित करता है। यह आदित्य (८।७।२।१), और वाक् (८।७।२।७) की प्रतिनिधि है, तथा प्राण की भी (८।७।२।१४)।

१०६. एक विकर्णी-इष्टका—वायुः (८।७।३।६), [विकीर्ण अर्थात् विरलावयव वायु], तथा आयुः (८।७।३।१०)।

१०७. एक स्वयमातृण्णा-इष्टका—यह तीसरी स्वयमातृण्णा= द्यौः, तथा प्राण (८।७।३।६,१०)।

१०८. अब हिरण्यशकल अर्थात् स्वर्ण के टुकड़े स्थापित करता है। दो-दो सौ करके, ५ वार। कुण्ड के पश्चिम, उत्तर, पूर्व, दक्षिण फिर पश्चिम में,—इस प्रकार १००० हिरण्य-शकल स्थापित करता है (८।७।४।७,६,१०)। "सहस्रस्य प्रमा ऽसि, सहस्रस्य प्रतिमा ऽसि, सहस्रस्योन्मा ऽसि, साहस्रो ऽसि, सहस्राय त्वा" (यजु० १५।६५)। मन्त्र का उच्चारण कर, हिरण्यशकल स्थापित करता हैं। मन्त्र में सहस्र शब्द है, इसलिये एक हजार हिरण्यशकल कहे हैं। सहस्र पद पांच वार पठित हैं, इसलिये ५ वार हिरण्यशकल स्थापित करता हैं, दो-दो सौ करके।

विशेषः—अध्यात्म में प्रतिष्ठा अर्थात् पैर प्रथमा चिति है। पैरों से ऊपर और कमर से नीचे द्वितीया चिति है। कमर तीसरी चिति है। कमर से ऊपर और गर्दन से नीचे चौथी चिति हैं। गर्दन पांचवीं चिति है। सिर षष्ठी चिति है। प्राण सप्तमी चिति है (८।७।४।१६, २०,२१)।

मुख्य चितियां ५ होती हैं। इन पर गार्हपत्यकुण्ड, तथा गार्हपत्यकुण्ड पर आहवनीयकुण्ड का चयन किया जाता हैं। इसलिये अध्यात्म में भी सात चितियाँ कही प्रतीत होती हैं।

———

शतपथ ब्राह्मण, परिशिष्ट (७)

अप्रसिद्धार्थ पद सूची, पदों के आद्याक्षर क्रम से

अग्निः—ब्रह्म (१०।४।१।५)।

अघ्न्याः—वृषभाः, अथैनान् (पुंल्लिङ्ग) विमुञ्चति अघ्न्या इति, अघ्न्या ह्येते देवत्रा देवयानाः, दैवं ह्येभिः कर्म करोति (७।२।२।२१), इस द्वारा वृषभों को भी अघ्न्य अर्थात् न-हनन-योग्य कहा है। गौओं को तो अघ्न्याः कहते ही हैं।

अङ्गिराः—प्राणः, प्राणो वा अङ्गिराः (६।१।२।३)।

अजः—वाक् वाऽअजः (७।५।२।२१,२६)।

अञ्जिभिर्वाघद्भिः—रश्मयो वाऽएतस्य [आदित्यस्य] अञ्जयो वाघतः (६।४।३।१०)। "अञ्जिभिः द्रव्याणां व्यञ्जकैः रश्मिभिः, वाघद्भिः हविषां वोढृभिः" (महीधर, यजु० ११।४२)।

अथर्वा—प्राणो वाऽअथर्वा (६।४।२।२)।

अदितिः—(१) इयं [पृथिवी] वाऽअदितिः (८।२।१।१०); (२) वाक् वाऽअदितिः (६।५।२।१०); (३) सर्वं वा ऽअत्तीति, तददितेरदितित्वम् (१०।६।५।५),[अत्ता]।

अदितः मही—इयम् [पृथिवी] (६।५।१।१०)।

अनड्वान्—अग्निरेष यदनड्वान् (७।३।२।१)।

अपाम् एमन्—वायु र्वाऽअपाम्, एम। यदा ह्येष [वायुः] इतश्चेतश्च वात्यथापो यन्ति (७।५।३।४६)। एमन्—इण गतौ+मनिन्।

अपाम् ओद्मन्—ओषधयो वाऽअपामोद्म। यत्र ह्यापऽ उन्दत्यस्तिष्ठन्ति तदोषधयो नायन्ते (७।५।२।४७)।

अपां भस्मन्—अभ्रं वाऽअपां भस्म (७।५।२।४८)।

अपां ज्योतिषि—विद्युद् वाऽअपांज्योतिः (७।५।२।४६)।
अपाम् अयने—इयं [पृथिवी] वाऽअपाम् अयनम् (७।५।२।५०)।
अर्णवे सदने—प्राणो वाऽअर्णवः (७।५।२।५१)।
अपां क्षये—चक्षुर्वाऽअपां क्षयः। तत्र हि सर्वदैवापः क्षियन्ति (७।५।२।५४)।
अपां सधिषि—[1]श्रोत्रं वाऽअपां सधिः (७।५।२।५५)।
अपां सदने—द्यौर्वाऽअपां सदनम् (७।५।२।५६)।
अपां सधस्थे—अन्तरिक्षं वाऽअपां सधस्थम् (७।५।२।५७)।
अपां योनौ—समुद्रो वाऽअपां योनिः (७।५।२।५८)।
अपां पुरीषे—सिकता वाऽअपां पुरीषम् (७।५।२।५९)।
अपां पाथसि—अन्नं वाऽअपां पाथः (७।५।२।६०)।
अभ्रिः—वाक् (७।५।२।५२; ६।४।१।५)।
अर्णवः—प्राणः (७।५।२।५१)।
अश्मा पृश्निः—असौ वाऽआदित्योऽअपां पृश्निः, रश्मिभिर्हि मण्डलं पृश्निः (६।२।३।१४) [पृश्निः प्राश्नुत एनं वर्णः]।

---

१. श्रोत्र (कान) भी जलों का स्थान है यथा—

Within the middle ear secretions are constantly forming. It is their function to lubricate the ear and keep them in good condition. (पृ० 611-612)।

Cochlia (snail shaped) in the inner ear consists 3 tiny semicircular canals. These canals are filled with a special fluid called endolymph (पृ० ६१३)। अर्थात्—कान के मध्यभाग में लगातार स्राव बनते रहते हैं। इन स्रावों का काम है कान को चिकना करना और उसे स्वस्थ करना।

कोकलिया (घोंघे की आकृति का कोष्ठ) कान के भीतरे तीसरी भाग में है। इस में तीन अर्धवृत्ताकार सूक्ष्म नहरें हैं या नालियां हैं। इस में एक विशेष प्रकार का द्रव होता है जिसे कि भीतरी-द्रव कहते हैं (शीर्षक The gift of hearing," "your guide to Health", Oriental Watchman Publishing House, Poona, India, June 15।1971)।

अश्वं शुक्लम्—असौ वाऽआदित्यऽएषऽअश्वः [शुल्कः] (७।३।२।१०,१२,१३)।

अश्वमेधः—एष वाऽअश्वमेधो यऽएष तपति [सूर्यः] (१०।६।५।८)।

अस्त्रीवयः—अन्नमस्त्रीवयः। तद्यदेषु लोकेष्वन्नं तदस्त्रीवयोऽथो यदेभ्यो लोकेभ्यो ऽन्नं स्रवति तदस्त्रीवयः (८।३।३।५)। [वयः अन्ननाम, निघं० २।७]।

आपः चन्द्राः—मनुष्या वाऽआपः चन्द्राः (७।३।३।२०)।

आहवनीयः—द्यौः (७।३।१।१)।

आहुतयः—तस्मिन् [अग्नौ] यत्किचाभ्यादधत्याहितयऽएवास्य ताः। आहितयो वै ताऽआहुतयः (१०।६।२।२)।

इन्द्रः—क्षत्रम् (१०।४।१।५)। यदैन्ध तस्मात् इन्द्रः। इन्धो वैतमिन्द्र इत्याचक्षते (६।१।१।२)।

उत्सौ सारस्वतौ—मनो वा सरस्वान्; वाक् सरस्वती, एतौ सारस्वता ऽउत्सौ (७।५।१।३६)।

उखा—इमे वै लोकाऽउखा (७।५।२।२७)। योषा वाऽउखा (६।६।२।५)।

उलूखलम्—उरु मेऽअकरत् तस्मादुलूखलम् (७।५।१।२३)।

ऋषयः—प्राणाः (७।२।३।५; ८।४।१।५)।

कपुच्छलम्—स्रुच् के दण्ड के अग्रभाग की आकृति (७।४।१।३६)।

कंल्कुषी—दो कलाइयां अर्थात् दो मणिवन्ध (१०।२।६।१४)।

किं पुरुषः—अनद्धा पुरुषः बनावटी, क्रित्रिम पुरुष। [अद्धा सत्यनाम् (निघं० ३।१०), अनद्धा—असत्य, क्रित्रिम]

कूर्मः—(१) प्रजापतिः, प्रजा अकरोत् (७।५।१।५)। (२) कश्यपो वै कूर्मः (७।५।१।५)। (३) कूर्मोऽसौ सऽआदित्यः (७।५।१।६)। (४) प्राणः कूर्मः (७।५।१।७)। [शरीर की नाड़ी, "कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्" (योग ३।३१), सम्भवतः कण्ठ-कूप के नीचे छाती में कछुए के आकारवाली नाड़ी (पातञ्जल योगप्रदीप)]

गार्हपत्यः—अयं [पृथिवी] वै लोको गार्हपत्यः (७।३।१।१)।

[गार्हपत्य कुण्ड गोलाकार होता है, इस द्वारा पृथिवी को गोलाकार दर्शाया है]

ग्नाः देवीः—छन्दांसि, छन्दोभि र्हि स्वर्गं लोकं गच्छन्ति (६।५।४।७)। [ग्नाः, गम् धातु]

ग्रहाः—ग्रहेण गह्णाति, यद् गृह्णाति तस्माद् ग्रहाः (१०।४।१।१३)। [ग्रहाः—छोटी प्यालियां]

घर्मः—असौ आदित्यः (६।४।२।१६)।

जनयः देवीः—नक्षत्राणि वै जनयः (६।५।४।८); तथा "आपः" (६।८।२।३)।

तमसः पारम्—अशनाया वै तमः, अशनायै पारम् (७।२।२।२१)।

त्रिवृत् स्तोमः आशुः—वायुर्वाऽआशुः त्रिवृत् सऽ एषु त्रिषु लोकेष वर्तते (८।४।१।६)।

दध्यङ् ऋषिः पुत्रः अथर्वणः—वाग् वै दध्यङ् आथर्वणः (६।४।२।३)। [अथर्वा—प्राणः (६।४।२।२) प्राण से वाक् पैदा होती है, प्राणी ही बोलता है]

दूर्वा—धूर्वा, यदधूर्वीत्। तदेतत् क्षत्रम्, प्राणः, रसः (७।४।२।१२)।

देवानां पत्न्यः—ओषधयो वै देवानां पत्न्यः (६।५।४।४)।

देवेभ्यः—ऋतवो वै देवाः (७।२।४।२६)।

द्रप्सः—असौ वाऽआदित्यो द्रप्सः (७।४।१।२०)।

द्रविणोदाः—प्राणाः (६।७।२।३)।

धिषणा—वाक् (६।५।४।५)।

धिष्ण्याः देवाः—प्राणाः। प्राणा हि सर्वां धियऽइष्णन्ति (७।१।१।२४)।

नमस्ते—नायज्ञियं ब्रूयात् 'नमस्ते' इति। यथा ह्येनं ब्रूयात् यज्ञस्तऽइति, तादृक् तत् (७।४।१।३०)। अर्थात् जो यज्ञ का अधिकारी नहीं उसे नमस्ते न करे, क्योंकि इस कथन का अभिप्राय यह होगा कि तुम्हारे लिये यज्ञ हो।

निर्ऋतिः—भूमिः (७।२।१।११)। पाप्मा (७।२।१।३)।

नैर्ऋतिः—दिक् [दक्षिण-पश्चिम दिशा] (७।२।१।८)।

न्युत्ता—एषा समित् घृते न्युत्ता भवति (६।६।२।१३) [नि+उन्दी क्लेदने]

परिदा—समर्पण (६।१।१।१७)।

पलाशः—ब्रह्म (६।६।३।७)।

पञ्चदशः स्तोमः भान्तः—चन्द्रमा वै भान्तः पञ्चदश। स च पञ्चदशाहानि आ पूर्यते, पञ्चदशापक्षीयते, भाति हि चन्द्रमाः (८।४।१।१०)।

पाथ्योवृषा—मनः (६।४।२।४)। [पाथसि अन्तरिक्षे, हृदयान्तरिक्षे भवः, महीधर, यजु० ११।३४]

पितरः—विशः [७।१।१।४); ऋतवः (६।४।३।८)।

पुरीषम्—मृत् [मिट्टी] (७।१।१।३६); पशवः (६।३।१।३८)। तथा उदकम् (निघं० १।१२)।

पुरीष्यासः—अग्नयः (७।१।१।२५)।

पुष्करम्—आपः (६।४।२।२)।

पूषा—इयं [पृथिवी] वै पूषा (६।३।२।८)।

प्रजापतिः—अग्निः (६।२।१।२३)।

प्रतूर्तिःस्तोमः अष्टादशः—संवत्सरः। संवत्सरो हि सर्वाणि भूतानि प्रतिरति। तस्य द्वादश मासाः, पञ्चर्तवः, तथा संवत्सरः (८।४।१।१३)।

प्रमा—अन्तरिक्षलोकः, प्रमित इव (७।३।३।५)।

प्रतिमा—असौ [द्यौः] वै लोकः, प्रतिमित इव (७।३।३।५)।

प्राणाः नव—सप्त शीर्षन्, अर्वाञ्चौ द्वौ (६।४।२।५)।

बृहस्पतिः—ब्रह्म [ब्राह्मण] (६।३।४।१८)

बृहदुक्थः—अग्निः (६।६।३।६)।

ब्रह्म—मन्त्रः (७।१।१।५)।

ब्रह्म सप्ताक्षरम्—ऋक् इत्येकम्, यजुरिति द्वे, सामेति द्वे, अतो यदन्यद् ब्रह्मैव तत्, द्व्यक्षरं वै ब्रह्म, तदेतत्सर्वं सप्ताक्षरं ब्रह्म (१०।२।४।६)। [द्व्यक्षरं वै ब्रह्म=ब्रह्मवेद=अथर्व-

वेद]

भरतः—प्रजापतिः, स हीदं सर्वं बिभर्त्ति (६।८।१।१४)।

भरद्वाजः ऋषिः—मनः। अन्नं वाजः, यो वै मनो बिभर्ति सोऽन्नं वाजं भरति तस्मान्मनो भरद्वाजः ऋषिः (८।१।५।६)।[1]

भुजः—प्राणाः (७।५।१।२१)।

भुजिष्याः—अन्नम् (७।५।१।२१)।

भूमिः=अभूद् वाऽइयं [पृथिवी] प्रतिष्ठेति तद् भूमिरभवत् (६।१।१।१५)। [अभूत् इयम्=भू+इ+यम्=भू+इ+म्=भूमिः]

भेषजम्—वाक् (वेदवाक्) उ सर्वं भेषजम् (७।२।४।१८)।

मा—अयं [पृथिवी] वै लोकः मा, मित इव (८।३।३।५)।

मुहूर्तः—मुहूः त्रायन्ते (१०।४।२।१८)।

यजुः—मनो वै यजुः (७।३।१।४०)।

यमः—क्षत्रं वै यमः (७।१।१।४)।

यमः यमी—अग्निर्वै यमः, इयं [पृथिवी] यमी (७।२।१।१०)।

यवाः अयवाः—चन्द्रस्य पूर्वपक्षाः, अपरपक्षाः (८।४।२।११), [युवते च अयुवते च]

यज्ञायज्ञियम्—चन्द्रमाः, यो हि कश्च यज्ञः सं तिष्ठत एतमेव तस्याहुतीनां रक्षो ऽप्येति, तद्यदेतं यज्ञोयज्ञः [प्रत्येक यज्ञ] अप्येति तस्मात् चन्द्रमा यज्ञायज्ञियम् (६।१।२।३६)।

राष्ट्रभृतः—राजानो वै राष्ट्रभृतः (६।४।१।१)

रुक्मः—असौ वा ऽआदित्यो रुक्मः एष हीमाः सर्वाः प्रजा ऽअति रोचते (७।४।१।१०)।

वपा—वल्मीकवपा (६।३।३।५), अर्थात् दीमक की मिट्टी, चिंटोहर। तथा "वपां ते ऽअग्निरिषितो ऽअरोहत् (यजु० १२।१०३) यद्वै किंचास्यां सास्यै वपा, तामग्नि रिषित ऽउपादीप्तो रोहति" (७।३।१।२१)। तथा "इषितः प्रजापति-प्रेषितो ऽग्निः ते तव। पां त्वचं पृष्ठं वपासदृशमिमं प्रदेश-

---

१. जमदग्निः ऋषिः=चक्षुः, यदेनेन जगत् पश्यति, अथो मनुते तस्मात् चक्षुः जमदग्निः ऋषिः (८।१।२।३)।

मारोहतु" (महीधर, यजु० १२।१०३)।

वम्रः—दीमक (६।६।३।६)।

वयोनाधा देवाः—प्राणा वै देवा वयोनाधाः। प्राणैर्हि, इदं सर्वं नद्धम्, अथो छन्दांसि वै वयोनाधाः छन्दोभिर्हीदं सर्वं वयुनं नद्धम् (८।३।२।८)। [वयुनम् प्रज्ञा नाम (निघं० ३।९)।

वरुणः—क्षत्रम् (९।४।२।१६)।

वरूत्रीः देवीः—अहोरात्राणि, अहोरात्रैर्हीदं सर्वं वृतम् (६।५।४।६)।

वसिष्ठः ऋषिः—प्राणो वै वसिष्ठः ऋषिः। यद्वै नु श्रेष्ठस्तेन वसिष्ठः। अथो यद् वस्तृतमो वसति तेनो ऽएव वसिष्ठः (८।१।१।६)।

वातहोमाः—प्राणाः (९।४।२।१०)।

वामदेव्यम्—प्राणो वै वामदेव्यम् वायुरु प्राणः (९।१।२।३८)।

वामभृत्—पृथिवी; प्राणा वै वामम् यद्धि किं च प्राणीयं तत्सर्वं बिभर्ति (७।४।२।३५)।

वालखिल्याः—प्राणाः, यद् वालखिल्या नाम यद्वा ऽउर्वरयोरसंभिन्नं भवति खिल इति वै तदाचक्षते, ते वालमात्राद्ु हेमे प्राणा ऽअसम्भिन्नाः ते यद् वालमात्रादसंभिन्नास्तस्माद् वालखिल्याः (८।३।४।१)। [वालखिल्याः प्राण हैं। इन्हें वालखिल्या इसलिये कहने हैं कि दो उपजाऊ खेतों के बीच में जो बेजुती सीमा की भूमि पड़ी रहती है उसे खिल कहते हैं। ये प्राण भी वालमात्र ही एक दूसरे से पृथक् रहते हैं। अतः इन्हें वालखिल्य कहते हैं]

विधाः– आपो वै विधाः। अद्भिर् हीदं सर्वं विहितम् (९।२।२।८)।

विश्वम्—विश्वं हि श्रोत्रम् (७।५।२।१२)।

विश्वकर्मा ऋषिः—वायुः; यो ऽयं पवते, एष हीदं सर्वं करोति (८।१।१।७)। विश्वकर्मा ऽयमग्निः (९।२।२।६)। [विश्वकर्मा के दो अर्थं यहां दिये हैं। दोनों विश्व के कर्त्ता हैं। इस प्रकार यौगिक प्रक्रिया से एक पद के नाना अर्थं हो

जाते हैं[1]]

विश्वज्योतिष:—अग्निः, वायुः, आदित्यः (६।५।३।३)।

विश्वामित्रः ऋषिः—श्रोत्रं वै विश्वामित्रः ऋषिः, यदेनेन सर्वतः शृणोति, अथो यदस्मै सर्वतः मित्रं भवति, तस्मात् श्रोत्रं विश्वामित्रः ऋषिः (८।१।२।६)।

विश्वव्यचाः—आदित्यः, यदा ह्येवैष ऽउदेत्यथेदं सर्वं व्यचो भवति (८।१।२।१) [व्यचः—व्यक्तम्]

विश्वे देवाः—विड् विश्वेदेवाः; तदेतत् ब्रह्म, क्षत्रं, विट् [वैश्य] (१०।४।१।९)।

वैश्वानरः—स ऽएषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः, स यो हैतमेवमग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेदाप, पुनर्मृत्युं जयति, सर्वमायुरेति; न चास्य ब्रुवाणं चन वैश्वानरो हिनस्ति (१०।६।१।११)। [वैश्वानरः—पुरुषविशेषः ईश्वरः, ब्रह्म]

वैश्व देवीः—ता एताः सर्वाः प्रजाः (८।२।२।४)।

वृषण्यम्—रेतस् [वीर्य] (७।३।१।४६)।

वृत्रः—पाप्मा वै वृत्रः (६।४।२।३)।

व्योम परमे—इमे वै लोकाः परमं व्योम (७।५।२।१८)।

व्रतम्—अन्नं वै व्रतम् (७।५।१।२५)।

शवः—बलम् (७।३।१।२९)।

शिरः—[2]सप्तानां पुरुषाणां श्रीरूध्वं समुदौहन् शिरो ऽभवत्। (२) एतस्मिन् प्राणा अश्रयन्त तस्माद्वेतत् शिरः। [श्रीः और अश्रयन्त प्रत्येक का विकृत[3] रूप है शिरः], (६।१।१।७)।

---

१. तथा "वाक् वा विश्वकर्मा ऋषिः, वाचा हीदं सर्वं कृतम्, तस्माद् वाक् विश्वकर्मा ऋषिः" (८।१।२।९)। तथा "विश्वकर्मा ऋषिः=प्रजापतिः" (८।२।१।१०)।

२. सप्त पुरुषाः=चत्वारः आत्मा (धड़), त्रयः पक्ष पुच्छानि (६।१।१।६)। चत्वारः=छाती और पेट दो, लिङ्ग और गुदा दो। त्रयः=पक्ष दो, एक प्रतिष्ठा (पुच्छ)। २+२+२+१=सप्त पुरुषाङ्गाणि=सप्त पुरुषाः।

३. श्रीः=शिरः। यथा "श्+र्+ई+ः (सुप्, स्) =श्+ई+र्+

शरीरम्—अथ प्राणाः यत् सर्वस्मिन् अश्रयन्त, तस्मादु शरीरम् (६।१।१।४)।

शिक्यम्—शक्नुवन्ति स्थातुं तस्मात् शिक्यम् (६।७।१।१६-१८)। [छिक्का; पदार्थ इस में टिके रहते हैं, शक्नुवन्ति, शक् से शिक्यम्]

श्रुष्टिः—अन्नम् (७।२।२।५)।

[1]सप्तपुरुषाः—एकः पुरुषः। यदूर्ध्वं नाभे स्तौ द्वौ समौञ्जन्, यदवाङ् नाभेस्तौ द्वौ, पक्षः पुरुषः, पक्षः पुरुषः प्रतिष्ठैकः (६।१।१।३; तथा ६।१।२-७)। [नाभि से ऊर्ध्व="छाती-पेट," दो। नाभि से अर्वाङ्=लिङ्ग, गुदा दो, या दो टांगें। पक्ष में दो भुजाएं। एक प्रतिष्ठा अर्थात् स्थिति का अङ्क= पुच्छ, **Coccygeal tail Bones**।

सर्पाः—इमे वै लोकाः सर्पाः, ते ह्यानेन सर्वेण सर्पन्ति यदिदं किं च (७।४।१।२५)। तथा—इमे वै लोकाः सर्पाः, यद्धि किं च सर्पति, एष्वेव तल्लोकेषु सर्पति (७।४।१।२७)।

समुद्रः—मनः, मनसो वै समुद्रात् वाजाऽभ्र्या देवाः त्रयीं विद्यां निरखनन् (७।५।२।५२)।

समुद्राः त्रयः स्वर्गाः—इमे वै त्रयः समुद्राः स्वर्गाः लोकाः (७।५।१।९)।

सरिरम्—वाक् (७।५।२।५४); (यजु० १३।५३)।

सरिरे सदने—वाक् वै सरिरं सदनम् (७।५।२।५३)।

सानसिम्—सनातनम् (७।३।१।३२)।

सिनीवाली—वाक् वै सिनीवाली (६।५।१।९)। योषा वै सिनीवाली (६।५।१।१०)।

सीरम्—सेरम् (७।२।२।२)। [स+इराम्=अन्नसहितम्]

सुपर्णो गरुत्मान्— वीर्यं वै सुपर्णो गरुत्मान् (६।७।२।६)।

सूददोहसः—प्राणाः (७।१।१।२६)।

स=षिरः। रकार सकारयोर्मध्ये अकारागमः। दीर्घेकारस्य ह्रस्वेकारः (वर्णविकारः)।

[1] द्र० पूर्व पृष्ठ २५९ टि० २।

सोमः—यो ऽयं वायुः पवते, एष सोमः (७।३।१।१) ।

स्रुक्, स्रुवः—वाक् स्रुक्; स्रुवः=प्राणः (६।३।१।८) ।

स्वप्नः—स्वाप्ययः, स्वाप्ययो ह वैतं स्वप्न इत्याचक्षते । एते प्राणाः स्वाः । स यदा स्वपित्यथैनमेते प्राणाः स्वा, अपियन्ति, तस्मात्स्वाप्ययः (१०।५।२।२४) ।

हंसः—असौ वा ऽआदित्यः (६।७।३।११)।

हिरण्यम्—हि रम्यम् [रमणीयम्] ह वै तद्धिरण्यमित्याचक्षते (७।४।१।१६) । हिमस्य जरायुः=बर्फ (६।१।२।२६)

होत्राः सप्त—दिशः सप्त होत्राः (७।४।१।२०) ।

शतपथब्राह्मण परिशिष्ट (८)

सूक्तियां

१. यस्यै देवतायै हविर्गृह्यते सा देवता, न सा यस्यै न गृह्यते ॥ (श० ६।२।१।९)

जिस देवता के लिये हवि ग्रहण की जाती है वह देवता होती है, वह देवता नहीं जिसके लिये हवि ग्रहण नहीं की जाती। (यह याज्ञिक पक्ष में है)।

२. सर्वम्वेतदन्नं यद् दधि, मधु, घृतम् ॥ (श० ६।२।१।११)

यह सब अन्न है जो कि दधि, मधु और घृत है।

३. एतद्वै परममन्नं यद् दधि, मधु घृतम् ॥ (श० ६।२।१।११)

निश्चय से यह परम अन्न है जोकि दधि, मधु और घृत है।

४. यदु वा ऽआत्मसंमितमन्नं तदवति, तन्न हिनस्ति, यद् भूयो हिनस्ति, तद्यत्कनीयो न तदवति ॥ (श० ६।२।२।२), तथा देखो "क्रम संख्या ३३" ॥

अन्न जोकि शरीर की अवस्था के अनुसार मिताहार है वह रक्षा करता है, वह हानि नहीं पहुंचाता, जो अधिक होता है वह हानि पहुंचाता है, और जो थोड़ा होता है वह रक्षा नहीं करता।

५. पञ्चधा विहितो वा ऽअयꣳ शीर्षन्प्राणो, मनो वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रम् ॥ (श० ६।२।२।५)

सिर में प्राण ५ प्रकार से विभक्त है, मन, वाक्, प्राण, चक्षु और श्रोत्र।

६. देवाश्चासुराश्चोभये प्राजापत्याः ॥ (श० ६।२।२।८)

देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तानें हैं।

७. एष इमौ लोकावन्तरेण तपति ॥ (६।२।३।१४)

यह आदित्य पृथिवी और द्युलोक के बीच में तपता है, अर्थात् आदित्य द्युलोक से नीचे है।

८. एषो ऽन्तरिक्षायतनो व्यध्वे, व्यध्वे ह्येष ऽइतः ।। (श० ६। २।३।१५)

यह आदित्य अन्तरिक्षस्थ है, पृथिवी और द्युलोक के आधे मार्ग पर। यह आदित्य यहां से आधे मार्ग पर है। अर्थात् आदित्य, पृथिवी से जितना दूर है, उतनी दूर वह द्युलोक से इधर की ओर है।

६. दिवस्पृष्ठꣳ स्वर्गत्वा मिश्रा देवेभिराध्वम् ।। यजु० १७।६५ (श० ६।२।३।२४)

द्युलोक की पीठरूपी: "स्वः" पर[1] पहुंचकर देवों के साथ मिलकर बैठो।

[पृथिवीस्थ मनुष्य द्युलोक तक सशरीर जा सकता है, इस सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द लिखते हैं कि "जैसे योग के अंगों के अनुष्ठान समय सिद्ध अर्थात् धारण ध्यान और समाधि में परिपूर्ण मैं, पृथिवी के बीच आकाश को उठ जाऊं, वा आकाश से प्रकाशमान सूर्य लोक को चढ़ जाऊं, वा सुख कराने हारे प्रकाशमान उस सूर्यलोक के समीप से अत्यन्त सुख और ज्ञान के प्रकाश को मैं प्राप्त होऊं" (यजु० १७।६७) के अर्थानुसार। तथा "जब मनुष्य अपने आत्मा के साथ परमात्मा के योग को प्राप्त होता है तब अणिमादि सिद्धि उत्पन्न होती हैं, उसके पीछे न रुकने वाली गति से अभीष्ट स्थानों को जा सकता है" (यजु० १७।६७ का भावार्थ)। तथा "अच्छे पण्डित योगीजन······ आकाश और पृथिवी को चढ़ जाते, लोक लोकान्तरों में इच्छापूर्वक चले जाते" (यजु० १७।६८)।

इस प्रकार महर्षि दयानन्द, शरीर समेत मनुष्य का, सूर्यादि लोक लोकान्तरों में जा सकना सम्भव मानते हैं।

तथा महर्षि दयानन्द, इन लोक लोकान्तरों में, मनुष्य या मनुष्य सदृश प्राणधारियों की स्थिति भी मानते हैं। ये मनुष्य जब दिव्यगुणों को धारण करने वाले हों तो इन्हें देव संज्ञा प्राप्त हो जाती है। यथा

---

१. मन्त्र पठित "अहम्" पद का अनुवाद=मैं।

"विद्वांसो वै देवाः" । तथा सूक्ति २०; तथा देवाः=साध्या ऽऋषयश्च ये" (यजु० ३१।९) ।

लोक लोकान्तरों में मनुष्य सत्ता के सम्बन्ध में महर्षि दयानंन्द सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समुल्लास में लिखते हैं कि "पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्र, नक्षत्र और सूर्य,—इनका "वसु" नाम इसलिये है कि इन्हीं में सब पदार्थ और प्रजा वसती है, जब पृथिवी के समान सूर्य-चन्द्र और नक्षत्र वसु हैं, पश्चात् उनमें उसी प्रकार प्रजा के होने में क्या सन्देह ? और जैसे परमेश्वर का यह छोटा सा लोक मनुष्यादि सृष्टि से भरा हुआ है, तो क्या ये सब लोक शून्य होंगे ? परमेश्वर का कोई काम निष्प्रयोजन नहीं होता । तो क्या इतने असंख्य लोकों में मनुष्यादि सृष्टि न हो तो सफल कभी हो सकता है ? इसलिये सर्वत्र मनुष्यादि सृष्टि है । जैसे इस देश में चीन, हवशी, और आर्यावर्त, युरोप में अवयव और रंगरूप और आकृति का भी थोड़ा-थोड़ा भेद होता है, इसी प्रकार लोक लोकान्तरों में भी भेद होते हैं । परन्तु जिस जाति की जैसी सृष्टि इस देश में है वैसी जाति ही की सृष्टि अन्य लोकों में भी है । जिस-जिस शरीर के प्रदेश में नेत्रादि अंग हैं, उसी-उसी प्रदेश में लोक लोकान्तर में भी उसी जाति के अवयव भी वैसे ही होते हैं" ।

इस प्रकार जब लोक लोकान्तरों में भी मनुष्य सृष्टि है, और योगीजन इन लोकलोकान्तरों में सशरीर जा सकने का सामर्थ्य रखते हैं, तो इन लोक लोकान्तरों में वसे देवकोटि के मनुष्यों में जाकर उन के साथ मिलकर बैठने में क्या आपत्ति हो सकती है ।

तथा वर्तमान वैज्ञानिक युग में सामान्य मनुष्य भी चन्द्रमा तक हो आए हैं, तब यह भी सम्भव है कि वैज्ञानिक साधनों का आश्रय लेकर मनुष्य उत्तमोत्तम लोकों में रहने वाले दिव्यकोटि के मनुष्यों का भी सत्संग प्राप्त कर सकें] ।

१०. तद् यद् दधिद्रप्स ऽउपतिष्ठते तदेव पशुरूपम् ।। (श० ९।२।३।४०)

जो दधि का विन्दु है वह पशु का रूप है ।

[यतः पशु के दुग्ध से दधि प्राप्त होती हैं] ।

११. अस्थीनि वै समिधः, मांसानि वा ऽआहुतयः ॥ (श० ६। २।३।४६)

समिधाएँ निश्चय से हड्डियां हैं, आहुतियां (घी की) निश्चय से मांस हैं।

१२. यादृग्वै योनौ रेतः सिच्यते तादृग्जायते ॥(श० ६।३।१।२)

योनि में जैसा वीर्य सींचा जाता है वैसा बच्चा उत्पन्न होता है।

१३. स्वर्देवा ऽअगन्मामृता ऽअभूम, प्रजापतेः प्रजा अभूम ॥
यजु० १८।२६॥ (श० ६।३।३।१४)

हम दिव्यगुणी बनकर "स्वः" अर्थात् सुख विशेष को प्राप्त हुए हैं, और प्रजाओं के पति परमेश्वर की प्रजा हो गए हैं।

[प्रजापतेः प्रजाः=अभिप्राय यह कि अमृतावस्था अर्थात् मोक्षावस्था में मुक्तात्माओं का शासन परमेश्वर द्वारा होता है]।

१४. यस्मै वै राजानो राज्यमनुमन्यते स राजा भवति। न स यस्मै न ॥ (श० ६।३।४ ५)! तथा (६।४।१।१,१३)

राजा लोग जिसके लिये राज्य की अनुमति देते हैं वह राजा बनता है, वह नहीं राजा बनता जिसके लिये अनुमति नहीं देते। [राजा भवति=सम्राट् भवति (यजु० ८।३७)]।

["राजानो······राजा भवति" के अभिप्राय के द्योतक निम्नलिखित मन्त्र हैं:—

ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये। उपस्तीन्[1] पर्ण[2] मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ॥ (अथर्व० ३।५।७)

राजा बनाने वाले जो राजा हैं, तथा जो सूत और ग्रामों के नेता

---

१. उपस्तीन्=उप+अस्तीन (अस् भुवि)। अस्तिः=तिङन्त प्रतिरूपक। सूताः=रथयोद्धा क्षत्रिय। तथा तक्षा आदि कारीगर (आप्टे)। ग्रामण्यः=ग्रामों का नेता।

२. "पर्ण" शब्द द्वारा राष्ट्र-पालक अधिकारी विशेष का निर्देश किया है। पर्ण=पॄ पालनपूरणयोः। पिपर्ति पालयति पूरयति वा तत् पर्णम् (उणा० ३।६; महर्षि दयानन्द)।

है, हे पर्ण ! तू उन सबको मेरे लिये मेरे सामने उपस्थित कर।

[(क) मन्त्र मे "राजानः" का अभिप्राय माण्डलिक राजा हैं, और "राजकृतः" में जिसे राजा वनाता है वह "सम्राट्" है, अर्थात् संयुक्त राज्यों या राजाओं का अधिराट्, एकराट् या जन राट्।

(ख) यजुर्वेद में कहा है कि "इन्द्रश्च सम्राट् वरुणश्च राजा" (८।३७)। इस मन्त्र में भी सम्राट् और राजा का अभिप्राय उपर्युक्त ही प्रतीत होता है।

(ग) अधिराजो राजसु राजयातै (अथर्व० ६।९८।१) में राजसु द्वारा माण्डलिक राजा और अधिराजः द्वारा सम्राट् प्रतीत होता है।
सम्राट=Imperore

(घ) सजातानां मध्यमेष्ठा राज्ञाम् (अथर्व० २।६।४) में सजात राजा तो माण्डलिक राजा हैं, और उनका मध्यमस्थ या मध्यस्थ है, सम्राट्।

(ङ) इसी प्रकार "विशां पतिरेकराट्" (अथर्व० ३।४।१) में एकराट् को सब प्रजाओं का पति कहा है, यह सम्राट् है।

(च) इसी प्रकार "जनराज्ञः" (अथर्व० २०।२१।९) द्वारा जन-राट् (सम्राट्) का निर्देश किया है]।

> **राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति, सम्राट् वाजपेयेन, राज्यमु वाऽअग्रे ऽथ साम्राज्यम् ।। (श० ९।३।४।८)**

राजसूय यज्ञ करके राजा वनता है, सम्राट् वनता है वाजपेय यज्ञ द्वारा। पहले राज्य होता है, तत्पश्चात् साम्राज्य]।

१५. राजानो वै राष्ट्रभृतः, राजानो राष्ट्रं बिभ्रति ।।
(श० ९।४।१।१)

राष्ट्रों का धारण-पोषण करने वाले होते हैं राजा [और राष्ट्र-संघों या संयुक्त राज्यों का धारण-पोषण करने वाले होते हैं सम्राट्]।

१६. क्षत्रायैव तद्विशं कृतानुकारामनु वर्त्मानं करोति।। (श० ९।४।३।९)

क्षत्रिय [राजा] के लिये, उस प्रजाजन को, आज्ञापालक तथा अनुयायी करता है।

१७. एष वो ऽमी राजा सोमो ऽस्माकं ब्राह्मणाना॑ राजा (यजु० ९;३९), इति ब्राह्मणा नेवापोद्धरत्यनाद्यान्करोति ॥
(श० ९।४।३।१६)

"हे प्रजाजनो ! यह तुम्हारा राजा है, सोम हम ब्राह्मणों का राजा है" (यजु० ९।३९); इस कथन द्वारा ब्राह्मणों को राजशासन से उन्मुक्त करता है, अर्थात् उन्हें राजकर से रहित करता है।

[ब्राह्मणों का धन, सोमयज्ञ आदि यज्ञों में प्रयुक्त होता है, जिससे प्रजा का उपकार होता है। "राजकर" भी प्रजा के उपकार के लिये ही होता है। अतः ब्राह्मणों पर अन्य राजकर का निषेध किया है। "प्रजान मेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्" (रघुवंश १।१८), अर्थात् प्रजाओं की ही समृद्धि के लिये वह रघु प्रजाओं से बलिरूप में कर ग्रहण करता था। बलि शब्द द्वारा, अर्थात् कर ग्रहण "कर प्रदान" को, धार्मिक कर्तव्य दर्शाया है]।

१८. एतद्वै सर्वं तपो यदनाशकः। तस्मादुपवसथे नाश्नीयात् ॥
(श० ९।५।१।६)

"जो न खाना है" यह निश्चय से पूरा तप है। इसलिये उपवास अर्थात् यज्ञ की तैयारी के दिन कुच्छ न खाए।

१९. एतद्वै मनुष्यस्यामृतत्वं यत्सर्वमायुरेति ॥ (श० ९।५।१।१०)

यह निश्चय से मनुष्य का अमृतपन है जोकि वह सम्पूर्ण आयु प्राप्त करता है।

[सर्वमायुः=१०० वर्षों की आयुः, नीरोग आयुः]।

२०. देवा ऽउत्सृज्यानृतं सत्यमन्वालेभिरे। असुरा ऽउ ह्योत्सृज्य सत्यमनृतमालेभिरे ॥ (श० ९।५।१।१३)

देवों ने अनृत को छोड़कर सत्य आलम्भन किया। असुरों ने सत्य को छोड़कर अनृत का आलम्भन किया।

[देव कोटि के व्यक्ति सदा सत्य का ग्रहण करते हैं, और आसुरी भावना वाले सदा अनृत का ग्रहण करते हैं। सूक्ति २० में "अन्वालेभिरे" प्रयोग में आ+लभ् का अर्थ पकड़ना या ग्रहण करना है, मारना या वध करना नहीं। अतः वेदों में जहां "आलभंते" पद पठित

है वहां ग्रहण करना अर्थ ही समझना चाहिये, मारना या वध करना नहीं। वेदों में अन्यत्र भी आलेभिरे तथा आलभे का प्रयोग मारने या वध करने में नहीं हुआ। यथा—"ये त्वा कृत्वालेभिरे" (अथर्व० १०।१।६) में तथा "अक्षान् यद् बभ्रूनालभे" (अथर्व० ७।१०६।७) में "आलेभिरे और आलभे" के अर्थ, अथर्ववेद के अंग्रेजी में अनुवाद-कर्त्ता "ह्विटनी" ने निम्नलिखित दिये हैं, "Took hold of thee" and "I take up"।

२१. य ऽआसक्ति सत्यं वदत्येषावीरतर[1] ऽइवैव भवति, [1]अनाढ्यतर ऽइव, सह त्वेवान्ततो भवति [वीरः आढ्यः]॥ (श० ६।५।१।१६)

जो लगनपूर्वक सत्य बोलता है वह अवीर की तरह ही निन्दित, कमजोर तथा गरीब के सदृश हो जाता है, परन्तु अन्त में वह प्रशंसित तथा सम्पन्न ही हो जाता है। [वीरता और आढ्यता को प्राप्त करता है]।

२२. य ऽआसक्तचनृतं वदत्यूष ऽइवैव पिश्यत्याढ्य इव भवति, परा ह त्वेवान्ततो भवति॥ (श० ६।५।१।१७)

जो लगन पूर्वक अनृत बोलता है वह ऊषर भूमि के सदृश ही बढ़ता है और सम्पन्न होता है, परन्तु अन्त में पराभूत हो जाता है।

[पिश्यति=यथा—"श्रियं शुक्रपिशं दधाने" (ऋ० १०।११०।६)। की व्याख्या में निरुक्तकार कहते हैं कि "शुक्रं शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः, पेश इति रूपनाम, पिंशतेर्विपिशितं भवति" (निरु० ८।२।११)। पिश्

---

१. तरप् प्रत्यय द्वारा पूर्वापेक्षया अवीरता और अनाढ्यता दर्शाई है। पहले देव तथा असुर दोनों दो प्रकार की वाणी बोलते थे, सत्य और अनृत। यथा—"त ऽउभय ऽएव सत्यमवदन्नुभये ऽनृतम्। ते ह सदृशं वदन्तः सदृशा ऽएवासुः" (श० ६।५।१।१२), अर्थात्-देव और असुर दोनों ही पहिले सत्य-भाषण और अनृत भाषण करते थे। इसलिये ये दोनों इस दृष्टि में सदृश थे, भिन्न-भिन्न न थे। पहले ये मनुष्य कोटि के थे। लाभालाभ की दृष्टि से सत्यानृत भाषण करते थे। कालान्तर में सत्यभाषी देव कहलाए, और अनृत-भाषी असुर। असुर का अर्थ है उदरम्भरि और धनलोभी व्यक्ति।

धातु का अर्थ है अवयव। अवयवों के संस्थान विशेषों के अनुसार रूपसमृद्धि होती है, इसलिये पेशस् का अर्थ है रूप। अतः "पिश्यति" का अर्थ है अवयवशः वृद्धि, शनैः-शनैः वृद्धि]।

२३. तद्यत्तत्सत्यम्। त्रयी सा विद्या ॥१८॥

वह जो सत्य है वह है त्रयी विद्या, अर्थात् ऋक्, साम, यजुः; या छन्दोमयी, गीतिमयी, तथा गद्यमयी वैदिक रचना।

[त्रयीविद्या में सत्य अर्थात् यथार्थ वर्णन हैं, अतः उसे "सत्यम्" कहा है]।

२४. यो न्वेव मानुषं गर्भं निर्हन्ति तन्न्वेव परिचक्षते॥
(श० ६।५।१।६२)

जो मनुष्य के गर्भ का हनन करता है वह तिरस्कृत, निन्दित होता है। [अतः मानुष गर्भहत्या निन्दित कर्म है]।

२५. दक्षिणासु त्वेव न संवदितव्यꣳ संवादेनैवर्ऽत्विजो ऽलोका इति॥
(श० ६।५।२।१६)

दक्षिणाओं के सम्बन्ध में सौदाबाजी न होनी चाहिये। सौदाबाजी से ऋत्विक् लोग स्वर्ग से वञ्चित हो जाते हैं (या इस लोक के लिये भी नहीं रहते)।

२६. पञ्च मर्त्यास्तन्व ऽआसन्, लोम त्वङ् माꣳसमस्थि मज्जा।
अथैता ऽमृता मनोवाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रम्॥ (श० १०।१।३।४)

शरीर के ५ भाग मर्त्य अर्थात् मरने वाले थे, लोम, त्वचा, मांस, हड्डी तथा मज्जा (हड्डी के भीतर का गुद्दा)। तथा ये अमृत थे, मन, वाक्, प्राण, चक्षु तथा श्रोत्र।

[मन आदि सूक्ष्म शरीर के अंश हैं, जोकि शक्तिरूप में मृतमनुष्य के साथ सदा रहते है, और पुनर्जन्म के भी कारण बनते हैं, (परन्तु लोम आदि स्थूल शरीर के अङ्ग हैं, अतः मर्त्य हैं)]।

२७. तस्यैतस्य परस्तात् कामप्रो लोकः। अमृतं वै कामप्रम्। अमृतमेवास्य तत्परस्तात् तद्यत्तदमृतमेतद्येदतदर्चिर्दीप्यते॥
(श० १०।२।६।४)

इस संवत्सर या आदित्य से परे "कामप्र" लोक है कामप्र है अमृत। यह अमत ही है जोकि इस संवत्सर या आदित्य से परे हैं। और वह अमृत यह ही है जोकि प्रकाश चमकता हैं।

[कामप्र=कामनाओं को पूर्ण कर देने वाला। सूक्ति में ब्रह्म को कामप्र कहा है। ब्रह्म का साक्षात् करने पर कोई कामना अवशिष्ट नहीं रहती। यह "कामप्र" लोक अमृत हैं, अमृत ब्रह्म है, जोकि सांवत्सरिक काल से भी परे है. जहां काल की सत्ता नहीं ब्रह्म कालातीत है। वह उससे भी परे हैं जहां आदित्य का प्रकाश नहीं पहुंचता। वह "अर्चिः" रूप है, प्रकाशरूप है, अन्धकार से परे है "तमसः परस्तात्" (यजु० ३१।१८), वह सदा निर्ज ज्योति द्वारा प्रदीप्त है "त्रिपादूर्ध्व ऽउदैत् पुरुषः" (यजु० ३१।४), तथा "त्रिपादस्यामृतं-दिवि" (यजु० ३१।३), दिवि=निज द्योतनात्मके स्वरूपे]।

२८. **तदेतद्वसुचित्रँ राधः। तदेष सविता सविभक्ताभ्यः प्रजाभ्यो विभजति। अप्योषधिभ्यो ऽपि वनस्पतिभ्यो, भूय ऽइव ह त्वेकाभ्यः प्रयच्छति, कनीय ऽइवैकाभ्यः। तद् याभ्यो भूयः प्रयच्छति ता ज्योक्तमां जीवन्ति, याभ्यः कनीयः कनीयस्ताः॥**
(श० १०।२।६।५)

यह अमृत आश्चर्यकर धन है, कामनाओं की पूर्ति करने वाला धन है। यह "सर्वप्रेरक" पृथक्-पृथक् प्रजाओं के लिये सम्पद् बाण्टता है। ओषधियों के लिये भी और वनस्पतियों के लिये भी। कईयों को अधिक देता है,कईयों को न्यून। जिन्हें अधिक देता है वे अधिक काल तक जीते हैं, जिन्हें न्यून देता है वे न्यून काल तक जीते हैं।

[परमेश्वर अमृत है, वह सर्वश्रेष्ठ विचित्र धन है, उस धन की प्राप्ति हो जाने पर सब कामनाएँ सिद्ध हो जाती हैं (राधः=राधृ संसिद्धौ)। वह सविता है, सर्वप्रेरक है (सविता=सू प्रेरणे)। सबके प्रति,—उन-उन के कर्मानुसार,—वह धन का विभाग कर रहा है। आयु भी धन है। कईयों को आयु अधिक देता है, कईयों को न्यून। ओषधियों तथा वनस्पतियों को भी "आयुः"—धन बाण्ट रहा है। इसी के अनुपात में कई अधिक काल तक जीते हैं, और कई न्यून काल तक]।

२९. यो वा शतं वर्षाणि जीवति स हैवैतदमृतमाप्नोति, तस्मादु ह न पुरायुषः स्वकामी प्रेयात् ॥ (श० १०।२।६।७)

जो १०० वर्ष जीता है वह ही, निश्चय से, इस अमृत (ब्रह्म) को प्राप्त करता है, इसलिये सौ वर्षों की आयु से पूर्व "स्वकामी" होकर न मरे।

[१०० वर्षों की आयु में मनुष्य स्वकामी अर्थात् यथेच्छाचारी न हो, अपितु वेदनिर्दिष्ट जीवन व्यतीत करे, तभी वह ब्रह्म को प्राप्त कर सकता है। स्वेच्छाचारी सौ वर्षों तक जीता हुआ भी ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकता]।

३०. अथ य ऽएव शतं वर्षाणि जीवति, यो वा भूयाꣳसि जीवति, स हैवैतदमृतमाप्नोति ॥ (श० १०।२।६।८)

जो मनुष्य १०० वर्षों तक जीता है, या १०० से अधिक वर्ष जीता है वह ही इस अमृत (ब्रह्म) को प्राप्त करता है।

[श० १० २।६।७ में कथित "स्वकामी न स्यात्" की शर्त अवश्य चाहिये अमृत की प्राप्ति के लिये]।

३१. पश्यन्ती वाग्वदति ॥ (श० १०।२।६।७), तथा देखो "क्रम-संख्या २३, ३५" ॥

वेदवाणी साक्षात्कृत वस्तुओं को कहती है।

[वेदवाणी में जिन वस्तुओं और तत्त्वों का वर्णन है वे सत्य हैं, यथार्थ हैं, मानो साक्षात् किये हुए हैं। इस प्रकार वेदवाणी के सम्बन्ध में, शतपथब्राह्मण के रचयिता का वहुमान है।

अभिप्राय यह कि वेद यतः ईश्वरीय वाणी है. इस वाणी में परमेश्वर द्वारा साक्षात्कृत वस्तुओं का ही वर्णन है, असत्य और अयथार्थ वस्तु का वर्णन नहीं]।

३२. तदेतद् ब्रह्मापूर्वमपरवत् ॥ (श० १०।३।५।११)

यह ब्रह्म ऐसा है जिससे पूर्व कोई वस्तु नहीं, न परे कोई वस्तु है।

[ब्रह्म अनादि और परात्पर है। ऐसा नहीं कि ब्रह्म तो न हो

और इसकी सत्ता से पूर्व कोई वस्तु हो। और न ब्रह्म ऐसा ही है कि ब्रह्म तो न रहे परन्तु अन्य कोई वस्तु रहे]।

३३. यदु वा ऽआत्म संमितमन्नं तदवति तन्न हिनस्ति,यद् भूयो हिनस्ति तद् यत्कनीयो न तदवति ।।(श० १०।४।१।३), तथा देखो "क्रम संख्या ४" ।।

जो अन्न शरीर के अनुपात में मपा-तोला होता है वह रक्षा करता है, वह हानि नहीं करता, जो अन्न अधिक होता हैं वह हानिकारक होता है, और जो शरीर के अनुपात से कम होता है वह रक्षा नहीं करता।

३४. अथ व्यावृत्य शरीरेणामृतो ऽसद्यो ऽमृतोऽसद् विद्यया वा[1] कर्मणा वा[1] ।। (श० १०।४।३।६)

जो अमृत होगा वह शरीर से छूट कर अमृत होगा, विद्या के द्वारा या कर्म के द्वारा।

[विद्या अर्थात् ध्यानयोग द्वारा विवेक ज्ञान प्राप्त करके, या कर्म-योग अर्थात् क्रियायोग द्वारा ईश्वर-प्रणिधान अर्थात् ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण करके व्यक्ति अमृत होगा। अथवा अग्निचयन की विद्या द्वारा या अग्निचयन कर्म द्वारा अमृत होगा]।

३५. यावन्त्येतानि नक्षत्राणि तावन्तो लोमगर्ताः ।। श० १०।४।४।२

जितने ये नक्षत्र हैं उतने लोमगर्त हैं।

[लोमगर्ताः = Hair-pits, Hair-pores]।

३५. वाग्घैव तत्पश्यन्ती वदति ।। (श० १०।५।२ २)

वाक् अर्थात् वेदवाणी ही उस (सच्चाई) को प्रत्यक्ष करती हुई कथन करती है।

[वेदवाणी जो कथन करती हैं वह मानो प्रत्यक्षीकृत सत्य है]। तथा देखो "क्रम संख्या ३१" ।।

३६. जायाया अन्ते नाश्नीयात् ।। (श० १०।५।२।६)

---

१. "वा, वा" समुच्चयार्थक भी सम्भव हैं (निरुक्त "अथापि समुच्चयार्थे भवति वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा" १।२।५)।

पत्नी के समीप भोजन न करे।

[अन्ते=अन्तिक=समीप]।

३७. तदेतद् देवव्रतम् ॥ (श० १०।५।२।१०)

पति-पत्नी का परस्पर समीप बैठ कर भोजन न करना, यह देवव्रत है,=दैवीनियम हैं।

३८. स्वपन्तं घुरेव न बोधयेत् ॥ (श० १०।५।२।१२)

सोए हुए को पीड़ा देते हुए अर्थात् जबरदस्ती से न जगाए।

[घुर्=घुर्वतेर्हिंसार्थः क्विप्(सायण)। घुरेव पीडयैव(सायण)]।

३९. तदिदं मनः सृष्टमाविरबुभूषत्। तत्प्रामूर्च्छत्, तत्षट्त्रिँशतँ सहस्राण्यपश्यदात्मनो ऽग्नीर्कान्मनोमयान् मनश्चितः ॥
(श० १०।५।३।३)

इस मन ने उत्पन्न होकर आविर्भूत होना चाहा। वह समुन्नत हुआ। उसने अपने भीतर, मनोमय अर्थात् मानसिक, तथा मन द्वारा चिनी गईं या संचित की गईं, प्रकाशमय ३६००० अग्नियों को देखा।

[मन के विचारों को अग्नि कहा है। अग्नि प्रकाशमय होती है। मानसिक विचार भी मानसिक प्रकाशरूप हैं। मानसिक प्रकाश के कारण मनुष्य निज कार्यों में प्रवृत्त होता है। अन्धे के लिये चाक्षुष प्रकाश तो नहीं होता, वह केवल मानसिक प्रकाश द्वारा निज कार्यों को करता है। मानसिक अग्नियों की संख्या ३६००० कही है। १०० वर्षों की आयु में=३६०×१०००=३६००० दिन होते है। मानो सत्कर्मी मनुष्य प्रत्येक दिन में जो विचार करता है, उन विचारों का प्रतिदिन का समूह, एक अग्निरूप है, जिसका चयन वह निज जीवन भर करता रहा है। यही उसके लिये अग्निचयन है। यह मानसिक अग्निचयन है। "तत्रैकस्मिन् दिने (आग्नेय्याः) मनोवृत्तयः"(सायण)। ये मनोमय अग्नियां[1] आध्यात्मिक हैं। इसी प्रकार वाङ्मय. प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय और कर्ममय भी आध्यात्मिक अग्नियां हैं। इनमें से

१. अग्निचयन के अङ्गभूत संक्षिप्त सोमयाग को भी आध्यात्मिक रूप में वर्णित किया है। इस वर्णन में ग्रहों अर्थात् सोम के प्यालों के ग्रहण आदि यज्ञिय कर्मों को भी मानसिक कहा है (श० १०।५।३।३-९)।

प्रत्येक अग्नि की संख्या ३६००० है, (श० १०।५।३।३-९)] ।

४०. इसी प्रकार जगत् के घटक-तत्त्वों को भी अग्निचयन का स्वरूप कहा है । यथा,—

अयं वावलोक ऽएषो ऽग्निश्चितः; अन्तरिक्षꣳ ह त्वेवैषोऽग्निश्चितः; द्यौर्ह त्वेवैषोऽग्निश्चितः; आदित्यो ह त्वेवैषोऽग्निश्चितः; नक्षत्राणि ह त्वेवैषोऽग्निश्चितः; छन्दाꣳसि ह त्वेवैषोऽग्निश्चितः; संवत्सरो ह त्वेवैषोऽग्निश्चितः; सर्वाणि त्वेव भूतानि, सर्वे देवा ऽएषो ऽग्निश्चितः[1] ।।(श०१०।५।४।१-१५)

इस प्रकार अग्निचयन के याज्ञिक स्वरूप को व्यापी स्वरूपों में वर्णित कर, याज्ञिक स्वरूपों से व्यक्ति को ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया गया है । तभी कहा है कि:—

तदेष श्लोको भवति "विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः । न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वाꣳसस्तपस्विन" इति । न हैव तं लोकं दक्षिणाभि र्न तपसा ऽनेवंविदश्नुते, एवं विदाꣳ हैव स लोकः ।। (श० १०।५।४।१६)

अर्थात्—इस सम्बन्ध में यह श्लोक है, "विद्या द्वारा उस पद पर पहुंचते हैं जहां कामनाएँ समाप्त हो जाती हैं । न वहां दक्षिणाएँ जाती हैं, न अविद्वान् तपस्वी" । न ही उस लोक को दक्षिणाओं के द्वारा और न तप के द्वारा,— इस विद्या को न जानने वाला,—प्राप्त होता है । इस विद्या के जानने वालों को ही वह लोक प्राप्त होता है ।

[इस उद्धरण में कर्मकाण्ड और केवल तपस्वी की अपेक्षा, विद्या और कर्मकाण्ड के रहस्य अभिप्रायों के जानने वाले को श्रेष्ठ माना है] ।

४१. स यो हैतमेवमग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेदाप पुनर्मृत्युं जयति ।। (श० १०।६।१।११)

वह जोकि वैश्वानर-अग्नि को, पुरुषविध, और पुरुष में प्रतिष्ठित जानता है,—वह वार-वार होने वाले जन्म-मरण पर विजय पा लेता है ।

[वैश्वानर-अग्नि है परमेश्वर । परमेश्वर के काल्पनिक सिर,

१. देखो पूर्व पृष्ठ २७३ की टिप्पणी १ ।

आंख, कान, हाथ, पैर आदि अवयवों का वर्णन वेदों में मिलता है। यथा—(यजु० ३१।११-१३), तथा (अथर्व० १०।७।१८-२०; १८-२०; ३३,३४)। इस परमेश्वर-पुरुष की सत्ता सर्वत्र है, और शरीर-रूपी पुरी में वसने वाले जीवात्मा-पुरुष में भी है। जैसे कि कहा है कि "ये पुरुषे ब्रह्म विदुः ते विदुः परमेष्ठिनम्" (अथर्व० १०।७।१७)। जब व्यक्ति अपने आत्मा में परमेश्वर अर्थात् वैश्वानर अग्नि को जान लेता है, उसका साक्षात्कार कर लेता है, तब वह मृत्यु पर विजय पाता है]।

४२. हयो भूत्वा देवानवहत्, वाजो गन्धर्वान्, अश्वो अर्वाऽसुरान्, मनुष्यान्॥ (श० १०।६।४।१)

हय होकर वह (अश्व) देवों का वाहन हुआ, वाजी होकर गन्धर्वों का, अर्वा होकर असुरों का, तथा अश्व होकर मनुष्यों का वाहन बना।

[हय, वाजी, अर्वा तथा अश्व ये घोड़े के नाम हैं। वेदों में इन नामों का प्रयोग है। प्रतीत होता है कि शतपथ काल तथा इससे कुच्छ पूर्व के काल में भिन्न-भिन्न जातियों में अश्व के इन भिन्न-भिन्न नामों का प्रचलन हुआ होगा]।

४३. ततो ऽश्वः समभवत्, यदश्वयत्तन्मेध्यमभूदिति तदेवाश्वमेधस्याश्वमेध्यत्वम्, एष ह वा ऽअश्वमेधः॥ (श० १०।६।५।७)

सृष्टि के विकासक्रम में उत्पादक तत्त्व "अश्वयत्" फूल गया तो वह अश्व बना। वह मेध्य था, पवित्र था, अतः यह अश्वमेध नाम वाला हुआ।

[अश्व का अभिप्राय है,—सूर्य। सूर्य स्वयं पवित्र है, और सबको निज रश्मियों द्वारा पवित्र करता है। मेध्य का अर्थ है,—पवित्र। यथा—"मेध्यासः (देवाः)"। (अथर्व० ४।१४।१), अर्थात्—देव पवित्र हैं।

४४. एव वा ऽअश्वमेधो य ऽएष तपति॥ (श० १०।६।५।८)

यह निश्चय से अश्वमेध है जो यह तप रहा है।

[अश्व है सूर्य, और तपता सूर्य है अश्वमेध। सूर्य तपता हुआ है मेध, अर्थात् पवित्र है, सूर्य की उष्ण तथा प्रकाशमयी रश्मियां सूर्य को

पवित्र बनाती हैं, और सौर-जगत् को भी मेध्य अर्थात् पवित्र करती हैं। इसलिये तपता सूर्य है, अश्वमेध[1]। सूर्य की रश्मियां पवित्र करती हैं, यथा,——"सवितुस्त्वा प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः" (यजु० १।३१)। अर्थात्—उत्पादक-परमेश्वर के उत्पन्न सौर-जगत् में, मैं तुझे पवित्र करता हूं, छिद्ररहित पवित्र [वायु] द्वारा, तथा सूर्य की रश्मियों द्वारा। इस प्रकार सौर-रश्मियों द्वारा पवित्र करने का वर्णन यजुर्वेद में भी हुआ है। वायु भी शुद्धिकारक है। वायु को अच्छिद्र-पवित्र कहा है। अन्तरिक्ष में फैली वायु सातत्य-रूप में फैली हुई है, मध्य में बिना किसी छिद्र अर्थात् अवकाश के, यह फैली हुई है]।

---

१. अभिप्राय यह कि सूर्य का तपना, और ताप द्वारा सौर-जगत् को पवित्र करना,—यह एक महायज्ञ है जिसका कि रचाने वाला यजमान स्वयं परमेश्वर है।

शतपथब्राह्मण परिशिष्ट (९)

अग्निचयन की महिमा और श्यापर्ण सायकायन

श्यापर्ण सायकायन, अग्निचयन के सम्बन्ध में, निज अनुभव को प्रकट करता है,—

एतद्ध स्म वै तद् विद्वान् श्यापर्णः सायकायन ऽआह । य द्वैम ऽइदं कर्म समाप्स्यत ममैव प्रजाः साल्वानाँ राजानो ऽभविष्यन् मम ब्राह्मणा मम वैश्याः । यत्तु मऽएतावत्कर्मणः समापि तेन मऽउभयथा साल्वान् प्रजा ऽतिरेक्ष्यत ऽइति, स ऽएष ऽएव श्रीरेष यश ऽएषोन्नादः ।। (कं० १०।४।१।१०)

इसे जानते हुए श्यापर्ण सायकायन ने कहा था कि यदि मेरा कर्म [अग्निचयन] सम्पूर्ण हो जाता तो मेरी ही प्रजाएँ साल्वों के राजा हो जातीं, [अर्थात्] मेरे ब्राह्मण, मेरे वैश्य[1] । मेरे इतने कर्म से ही जितना कि समाप्त हुआ है, मेरी प्रजा, दोनों[1] प्रकार से,साल्वों से बढ़ जायगी, क्योंकि यह [अग्निचयन] ही श्री है, यह यशरूप है, यह ही अन्नाद है, अन्न भोक्ता है [अन्नादः=अन्नमत्ति[2]]।

[इस कण्डिका में 'प्रजा'' पद द्वारा केवल ब्राह्मणों और वैश्यों

---

१. श्यापर्ण सायकायन ब्राह्मण था और अग्निचयन यज्ञ का विशेषज्ञ था। यह स्वयं राजा न था। इसकी प्रजाएं श्यापर्णी ब्राह्मण [ऐतरेय ब्राह्मण, पंचिका ७, अध्याय ५, तथा क्रमिक अध्याय ३५] और वैश्य प्रतीत होते हैं। ब्राह्मण हैं इसके अनुयायी श्यापर्ण, और वैश्य हैं धन की सहायता करने वाले, जोकि सम्भवतः अग्निचयनों में यजमान बनते रहते हैं। ब्राह्मणों के साथी श्री और यश का, और वैश्यों के साथ अन्नाद का सम्बन्ध प्रतीत होता है। श्यापर्ण साकायन के लिये देखो (कां० ९।२।१.३९) ।

२. अन्ना= अन्नानि, दः= ददाति.। यथा "अग्नौ प्रास्ताहुतिस्तावदादित्यमुपतिष्ठते आदित्याज्जायते वृष्टिः, वृष्टेरन्नम्",—के अनुसार अग्नि अन्न दाता है। अग्नि अन्न अत्ता तो है ही।

का वर्णन हुआ है, क्षत्रियों और शूद्रों का नहीं। क्षत्रियों और शूद्रों का त व वर्णन होता यदि श्यापर्ण सार्यकायन की प्रजा वस्तुतः साल्वों पर राज्य करती, जोकि तब सम्भव होता यदि श्यापर्ण सायकायन का यज्ञकर्म सम्पूर्ण हो जाता। अतः श्री और यश का सम्बन्ध ब्राह्मणों के साथ है, और अन्नाद का सम्वन्ध वैश्यों के साथ]।

साल्वों का वर्णन अष्टाध्यायी के सूत्रों में मिलता है। यथा,—— "साल्वावयवप्रत्यग्रथकलकूटाश्मकादिञ्" (४।१।१७३); तथा "साल्वेयगान्धारिभ्यां च" (४।१।१६९)। 'साल्व' शब्द विशिष्ट जनपदों तथा तन्निवासियों परक है। साल्वों के कई भेद हैं। यथा—— "उदुम्बरास्तिलखला मद्रकारा युगन्धराः। भुलिङ्गाः शरदण्डाश्च साल्वावयवसंज्ञिकाः" (कौमुदी, तत्त्ववोधिनी व्याख्या, ज्ञानेन्द्र सरस्वती)। अष्टा० ४।१।१६९ में साल्व और गान्धार का वर्णन इकठ्ठा किया है। "गान्धार" वर्तमान अफगानिस्तान में है। अतः सम्भवतः साल्व-जनपद गान्धार के समीपवर्ती हों। सम्भवत: "slav, slave" "पद" साल्व के विकृतिरूप हों। slav, slave पद जनपद वाची हैं। ये आर्यजाति के slavonic वर्ग के भेद हैं। slavonic वर्ग में बल्गेरिया, पोलैण्ड रशिया [रूस], चेकोस्लोविया आदि जनपद शामिल होते हैं। श्यापर्ण सायकायन द्वारा कथित "साल्वानाम्" का अभिप्राय, सम्भवतः, गान्धार के समीपवर्ती किसी जनपद से हो]।

———

शतपथब्राह्मण परिशिष्ट (१०)

शाण्डिल्योपनिषद्

सत्यं ब्रह्मेत्युपासीत । अथ खलु क्रतुमयो ऽयं पुरुषः । यावत् क्रतुरयमस्माल्लोकात्प्रैति, एवं क्रतुर्हामुं लोकं प्रेत्याभिसम्भवति ॥१॥ (श० १०।६।३।१)

सत्य-ब्रह्म[1] की उपासना करे। यह पुरुष निश्चय से मनुष्य है, प्रज्ञामय[2] तथा कर्ममय[2] है। जितनी मात्रा में प्रज्ञा और कर्म वाला हुआ इस लोक से प्रयाण करता है, उसी प्रकार की प्रज्ञा और कर्म वाला वह मर कर, उस अगले लोक में पैदा होता है।

[कण्डिका के निर्देश द्वारा केवल सत्यब्रह्म की ही उपासना करनी चाहिये। विनाशी पुरुषों और मूर्तियों की नहीं। क्रतुः=प्रज्ञानाम (निघं० ३।९); कर्मनाम (निघं० २।१)। इसी प्रकार का वर्णन छान्दोग्य उपनिषद् में भी हुआ है। यथा—"अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति,स क्रतुं कुर्वीत।
॥३।१४॥

स ऽआत्मानमुपासीत। मनोमयं प्राणशरीरं भारूपमाकाशात्मानं कामरूपिणं मनोजवसꣳ सत्यसंकल्पꣳ सत्यधृतिꣳ सत्यगन्धꣳ सर्वरसꣳ सर्वा अनुदिशः प्रभूतꣳ सर्वमिदमभ्याप्तमवाकमनादरं, यथा व्रीहिर्वा यवो वा श्यामाको वा श्यामतण्डुलो वैवमयमन्तरात्मन्पुरुषो हिरण्मयो, यथा ज्योतिरधूम-

---

१. यह ब्रह्म सत्यस्वरूप है,— यह जान कर ब्रह्म के समीप आसन लगाए, ध्यान में उसके समीप अपने स्थित हुआ अनुभव करे। "सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म"। सत्यस्वरूप ब्रह्म की समीपता में स्थित होने के लिये उपासक को भी निज जीवन सत्यमय बनाना होता है।

२. प्रज्ञाप्रधान तथा कर्मप्रधान, प्राचुर्यार्थे मयट्।

मेवं, ज्यायान्दिवो ज्यायानाकाशादाज्ज्यायानस्यै पृथिव्यै ज्यायान्त्सर्वेभ्योभूतेभ्यः, स प्राणस्यात्मैष म ऽआत्मा, तमित ऽआत्मानं प्रेत्याभिसम्भविष्यामीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सा ऽस्तीति ह स्माह शाण्डिल्य ऽएवमेतदिति ॥२॥

(श० १०।६।३।२)

सर्वात्मा-ब्रह्म की वह उपासना करे, जोकि मनोमय अर्थात् मननशील है, ज्ञानस्वरूप[1] तथा बोधस्वरूप है। प्राण अर्थात् प्राणस्वरूप या वायुरूपी शरीर वाला, प्रकाशस्वरूप, आकाशवत् व्यापक या आकाश की आत्मा, कमनीयरूपवाला, मन के वेग वाला, सत्य संकल्पों वाला, सत्य का धारण करने वाला, सत्य की गन्ध वाला, आनन्दरस की दृष्टि से सर्वरसरूप, सब दिशाओं का प्रभु, इस सब जगत् में व्याप्त, अवचनीय तथा प्राकृतिक वस्तुओं में आदर रहित अर्थात् अनभिलाषी है। जैसे धान या जौं, या समा या श्याम तण्डुल सूक्ष्म हैं इसी प्रकार सूक्ष्मरूप वह हिरण्य सदृश रूप वाला पुरुष, जीवात्मा के भीतर है। जैसे कि धूमरहित ज्योति तद्वत् वह है। वह द्युलोक से बड़ा, आकाश से बड़ा, इस पृथिवी से बड़ा, तथा सब भूतों से बड़ा है। वह "प्राणस्वरूप वायु" की आत्मा है, यह मेरी भी आत्मा है। प्रयाण करके अर्थात् मृत्यु के पश्चात्, यहां से उस आत्मा को मैं प्राप्त हूंगा,—जिसकी यह सत्य अर्थात् दृढ़ धारणा है, उसे कोई संशय इस सम्बन्ध में नहीं रहता,—यह शाण्डिल्य ने निश्चय से कहा था, यह भी ऐसे ही।

[प्राणशरीरम् = "**यः प्राणे तिष्ठन् प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं यः प्राणमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः**" (बृहदा० उप० अ० ३, ब्रा० ७, कंण्डिका ७, १६)। इस कण्डिका में प्राण अर्थात् वायु को परमात्मा का शरीर कहा है क्योंकि परमात्मा इसमें व्याप्त होकर, इसका नियमन कर रहा है। परमात्मा को 'मनोमय" कहा है, तथा "**व्रीहि र्वा यवो वा**', भी कहा है (बृहदा० उप० अ० ५, ब्रा० ६)। कामरूपिणम् = कमनीयरूपवन्तम्। कामरूप = Beautiful, pleasing (आप्टे)। अभूतम् = अथवा सब

---

१. मन ज्ञाने, मनु अवबोधने।

दिशाओं की अपेक्षया प्रभूत मात्रा में व्याप्त। अद्धा=सत्यनाम (निघं० ३।१०]।

विशेष:—कण्डिका २ में कहा है कि "इति ह स्माह [1]शाण्डिल्य:", इस वाक्य में "स्म" के योग से भूतकाल का निर्देश किया है। इससे प्रतीत होता है कि वक्ता शाण्डिल्य से भिन्न है।

---

१. शाण्डिल्य अग्निचयन में आचार्यों में, छठा आचार्य हुआ है।

शतपथब्राह्मण परिशिष्ट (११)

वैश्वानर का स्वरूप और केकयराज[1] अश्वपति

(काण्ड १०।६।१।१-११)

ये विद्वान् अरुण औपवेशि के घर आए, सत्ययज्ञ पौलुषि, महाशाल जाबाल, बुडिल आश्वतराश्वि, इन्द्रद्युम्न भाल्लवेय, और जन शार्कराक्ष्य। वे वैश्वानर के सम्बन्ध में विचार के लिये आए, परन्तु वे वैश्वानर के सम्बन्ध में कोई एक निश्चय न कर पाए ।।१।।

उन्होंने कहा कि यह निश्चय से केकयराज अश्वपति है जोकि इस समय वैश्वानर के स्वरूप को जानता है, उसके पास चलें। वे केकयराज अश्वपति के पास आए। उसने उनके लिए अलग-अलग निवास स्थानों, अलग-अलग सेवाओं, हजार हजार दक्षिणा वाले अलग-अलग सोम-यज्ञों के लिये आज्ञप्त किया। वे सब प्रातःकाल परस्पर विसम्मत हुए-हुए, हाथों में समिधाएँ लिये हुए उसके पास आए, और बोले कि हमें शिष्य बनाइये ।।२।।

[सोम यज्ञों का सम्बन्ध अस्पष्ट है, सम्भवतः इसका यह अभिप्राय हो कि सोमयज्ञ में ऋत्विजों को जो दक्षिणाएँ दी जाती हैं वे इन अभ्यागतों को भी दी जांय, ऐसी आज्ञा अश्वपति ने दी हो। देखो परिशिष्ट (१२)]।

अश्वपति ने अभ्यागतों को कहा कि आप तो विद्वान् हैं, विद्वानों के पुत्र हैं, तब आप किस निमित्त मेरे पास आए हो? उत्तर मिला

---

१. केकय पर्वतीय जनपद है। यातायात तथा वस्तुओं के ढोने में पर्वतों में अश्वों का प्रायः प्रयोग होता रहा है। अतः अश्वों के स्वामित्व के कारण शायद राजा को अश्वपति कहा हो। या अध्यात्मवेत्ता होने तथा इन्द्रियाश्वों के संयमी होने के कारण इस नाम से राजा की प्रसिद्धि हो गई हो। या यह नाम संस्कारज हो। राजा दशरथ की पत्नी कैकेयी इस जनपद की थी।

कि आप इस काल में वैश्वानर के स्वरूप को जानते हैं उसे आप हमें कहिये। अश्वपति ने कहा कि इस काल में मैं वैश्वानर के स्वरूप को जानता हूं, समिधाएँ चढ़ाओ, आप मेरे शिष्य हो गए हो।

[शिक्षा प्राप्त करने और शिष्य बनने की फीस है; केवल समिधाएँ समर्पित करना। न कि वर्तमान समय की फीसें देना]।

१. अश्वपति ने अरुण औपवेशि से कहा कि हे गौतम! तुम वैश्वानर से क्या समझते हो? उत्तर मिला कि हे राजन्! पृथिवी को ही मैं वैश्वानर जानता हूं। अश्वपति ने कहा "हां ठीक" यह पृथिवी प्रतिष्ठारूप वैश्वानर है, नींवरूप या आधाररूप वैश्वानर है, इसको ही तुम प्रतिष्ठारूप वैश्वानर जानते हो, इसीलिये तुम प्रतिष्ठा अर्थात् दृढ़ स्थिति सम्पन्न हो, प्रजा तथा पशुओं के साथ। जो कोई भी इस प्रतिष्ठा (पृथिवी) को वैश्वानर जानता है वह अपमृत्यु पर विजय पा लेता है, सम्पूर्ण आयु भोगता है, परन्तु यह पृथिवी तो वैश्वानर के पाद हैं, तुम्हारे पैर सूख जाते यदि तुम यहां न आते, या इन पादों के सम्बन्ध में तुम्हें यथार्थ ज्ञान न होता यदि तुम यहां न आते ॥४॥

[जो पृथिवी को ही वैश्वानर जानकर उसकी उपासना करेगा वह पृथिवी से प्राप्त सम्पत्तियों को प्राप्त कर प्रजावान् और पशु-सम्पत्तिमान् होकर सुखी जीवन व्यतीत कर, पूर्ण आयु वाला हो जायगा, परन्तु वह वैश्वानर के यथार्थ ज्ञान से वञ्चित ही रहेगा। यजुर्वेद में भूमि अर्थात् पृथिवी को, पुरुष अर्थात् ब्रह्माण्ड-पुरी में व्याप्त परमेश्वर के पाद स्थानी कहा है यथा "पद्भ्यां भूमिः" (३१।१३)]।

२. अब सत्ययज्ञ पौलुषि को अश्वपति बोला कि हे प्राचीन योग्य! तुम किसे वैश्वानर जानते हो? उत्तर मिला कि हे राजन्! मैं अप् अर्थात् जल को ही वैश्वानर जानता हूं। अश्वपति ने कहा "हां ठीक" निश्चय से यह "रयि" वैश्वानर है, इस ही रयि को तुम वैश्वानर जानते हो, इसलिये तुम रयि अर्थात् सम्पत्ति वाले तथा पुष्टि से सम्पन्न हो। जो इस रयि को वैश्वानर जानता है वह फिर अपमृत्यु पर विजय पा लेता है, समग्र आयु पाता है। परन्तु यह अप् अर्थात् जल तो वैश्वानर की बस्ति है, मूत्राशय ही है। बस्ति तुझे त्याग देती यदि तुम यहां न आते, तुम बस्ति को न जान पाते यदि यहां न आते ॥५॥

[जो व्यक्ति रयि को ही अपना ध्येय समझता है वह रयि के उपार्जन में लगा रहता है, और रयि प्राप्त कर, सम्पत्तिमान् होकर, सुखी जीवन व्यतीत करता हुआ शारीरिक पुष्टि को प्राप्त कर, पूर्ण आयु भोगता है। अप् अर्थात् जल वैश्वानर के मूत्र सदृश है, यथा—"यन्मेहति तद् वर्षति" (श० १०।६।४)। मूत्र का सम्वन्ध मूत्राशय (वस्ति) के साथ होता है, इसलिये वस्ति का कथन हुआ है। अत्यन्त आराम के जीवन से मूत्ररोग (Diabetes) के होने का भय होता है जिससे मूत्राशय विकृत होकर व्यक्ति के लिये दुःख का कारण वन जाता है, यही बस्ति का त्यागना हैं। आराम करने वाले और परिश्रम न करने वाले व्यक्ति को शनैः-शनैः मूत्ररोग होने लगता है, जिसे कि वह प्रारम्भ में जान नहीं पाता, परन्तु अन्ततोगत्वा वह इस रोग से आक्रान्त हो जाता है, मानो कि मूत्राशय पर उसका अधिकार नहीं रहा]।

३. महाशाल जावाल को अश्वपति ने कहा कि हे औपमन्यव! तुम किसे वैश्वानर समझते हो? उत्तर मिला कि हे राजन्! आकाश को मैं वैश्वानर समझता हूं। अश्वपति ने कहा "हां ठीक" यह वहुल वैश्वानर है। इस वहुल आकाश को ही तुम वैश्वानर जानने हो। इस लिये तुम बहुत प्रजाओं और पशुओं वाले हो। जो कोई इस वहुल को वैश्वानर जानता है वह फिर अपमृत्यु पर विजय पा लेता है, सम्पूर्ण आयु पाता है। बहुल आकाश तो वैश्वानर की आत्मा अर्थात् शरीर है। आत्मा अर्थात् शरीर तुम्हें अविदित रहता यदि तुम यहां न आते॥६॥

[परमेश्वर के विराट्रूप की दृष्टि से वहुल अर्थात् महाकाश, परमेश्वर का शरीर है। परमेश्वर के विराट्रूप के वर्णन में अन्तरिक्ष अर्थात् महाकाश को परमेश्वर की नाभि समान कहा है, यथा——"नाभ्या ऽआसीदन्तरिक्षꣳ" (यजु० ३१।१३)। नाभि शब्द उपलक्षक है शरीर के महाभाग का, जोकि कन्धों और शिश्न के मध्यवर्ती है। महाकाश [अन्तरिक्ष] भी द्यु लोक तथा पृथिवी के मध्यवर्ती होने से परमेश्वर के विराट्रूप की नाभिरूप है। बहुल का अर्थ है "बहु-प्रद" "बहून् अर्थान् लाति ददाति" इति बहुलः। इस अर्थ की दृष्टि से वहुल-आकाश के उपासक को "बहुत प्रजाओं वाला" कहा है। यह

बहुल-आकाश तो वैश्वानर का शरीर है, वैश्वानर नहीं। वैश्वानर तो आत्मस्वरूप है जोकि इस शरीर में बसा हुआ, इस शरीर का नियामक है। इस शरीर-शरीरिभाव के स्वरूप के परिज्ञान के लिये यथा; —"य आकाशे तिष्ठन्नाकाशादन्तरो यमाकाशो न वेद यस्याकाशः शरीरं य आकाशमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः" (बृहदा० उप० अध्याय ३, ब्राह्मण ७, कण्डिका १२)। अश्वपति जाबाल से कहता है कि शरीर तो आखिरकार तुम्हारा छूट ही जाना है परन्तु तुम्हें वास्तविक वैश्वानर अज्ञात ही रहता तुम इस बहुल-आकाश को ही वैश्वानर समझ कर शरीर त्याग देते]।

४. अश्वपति ने बुडिल आश्वतराश्वि को कहा कि हे वैयाघ्रपद्य! तुम किसे वैश्वानर जानते हो? उत्तर मिला कि हे राजन्! वायु को मैं वैश्वानर जानता हूं। "हां ठीक" यह राजा ने कहा। यह वायु निश्चय से पृथग्वर्त्मा अर्थात् नानामार्गों में चलने वाला वैश्वानर है। इस ही पृथग्वर्त्मा को तुम वैश्वानर जानते हो, इसलिये नाना रथ तुम्हारे साथ-साथ चलते हैं। जो कोई इस पृथग्वर्मा वायु को वैश्वानररूप में जानता है वह फिर अपमृत्यु पर विजय पा लेता है, सम्पूर्ण आयु प्राप्त करता है। यह वायु तो वैश्वानर का प्राणनामक शरीर है। प्राण तुम्हें छोड़ जाता यदि तुम यहां न आते। या प्राण के स्वरूपज्ञान से तुम वञ्चित रहते यदि तुम न आते ॥७॥

["वायु और प्राण" में से वायु तो अन्तरिक्षस्थ है, और वह वायु नासिका द्वारा शरीरान्तर्गत हुई प्राणरूप धारण करती है, क्योंकि वह शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में प्राणशक्ति का संचार करती है। वायु और प्राण वैश्वानररूपी परमात्मा के शरीर रूप हैं,—इस सम्बन्ध में बृहदा० उपनिषद् का कथन, यथा,—

"यो वायौ तिष्ठन् वायोरन्तरो यं वायुर्न वेद यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्यायम्यन्तरः" ॥
"यः प्राणे तिष्ठन् प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं यः प्राणमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः" ॥
(अध्याय ३, ब्राह्मण ७, कण्डिका ७,१६)

जो पृथग्वर्त्मा वायु को वैश्वानर परमात्मारूप में उपासित करता

है, तदनुकूल होने के लिये वह उपासक भी नानामार्गी होकर, नाना मार्गों में चलने वाले नाना रथों का स्वामी होना चाहता है, और प्रयत्नपूर्वक हो भी जाता है। अपमृत्यु है रुग्ण होकर मृत्यु को पाना। शुद्ध वायु सेवी और प्राणायाम द्वारा शरीर में प्राण संचार करने वाला व्यक्ति अपमृत्यु पर विजय पा कर, सम्पूर्ण आयु भोगता है। समय पूरा होने पर आखिरकार प्राण तो व्यक्ति के साथ अपना सम्बन्ध तोड़ कर चला ही जाता है, परन्तु जो व्यक्ति वायु और प्राण को,—जोकि वैश्वानर के अधिदैवत और अध्यात्म शरीर है, उन्हें शरीर न समझ कर, वैश्वानररूप ही समझता है, और उन शरीरों में स्थित और उनसे पृथक् अमृत आत्मा वैश्वानर के स्वरूप को नहीं जानता, वह इन दोनों के स्वरूपों से अविदित होता हुआ मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता। अश्वपति यह कहना चाहता प्रतीत होता है कि बुडिल ! यदि तुम शरीर और वैश्वानर,—इन दोनों के पृथक्-पृथक् स्वरूपों को जान लेते तो मोक्ष पाकर तुम वैश्वानर के संगी-साथी बन जाते, और वैश्वानर तुम्हें अपना-लेता और तुम्हारा संग-साथ न छोड़ता]।

५. इन्द्रद्युम्न भाल्लवेय को अश्वपति ने कहा कि हे वैयाघ्रपद्य! किसे तुम वैश्वानर जानते हो ? उत्तर मिला कि हे राजन् ! आदित्य को ही मैं वैश्वानर जानता हूं। "हां ठीक" ! यह कह कर अश्वपति ने कहा कि यह आदित्य निश्चय से "सुततेजाः" वैश्वानर है। इस ही "सुततेजाः" को तुम वैश्वानर जानते हो, इसलिये यह "सुत" अर्थात परिषुत या प्रस्रावित सोमरस खाया जाता हुआ तथा पकाया जाता हुआ, विना समाप्त हुआ तुम्हारे ग्रहों में विद्यमान रहता है। जो कोई इस सुततेजस् आदित्य को वैश्वानर जानता है वह अपमृत्यु पर विजय पा लेता और सम्पूर्ण आयु को प्राप्त करता है। यह आदित्य तो वैश्वानर की चक्षु है। चक्षु तुम्हें छोड़ जाती यदि तुम न आते या चक्षु तुम्हें अविदित रहती यदि तुम न आते ॥८॥

["सुततेजाः" सुत अर्थात् परिषुत हुए सोमरस सम्बन्धी तेज अर्थात् तेजोमय आदित्य। आदित्य के ताप और प्रकाश तथा आदित्य द्वारा वर्षाजल को प्राप्त कर ओषधियां प्राणवती होकर फलती फूलती हैं। सोम चूंकि ओषधियों में मुख्य ओषधि है। इसलिये इसका विशे-

षतः सम्बन्ध आदित्य के साथ दर्शाया है। यह आदित्य अधिदैवत शरीर है वैश्वानर का, तथा चक्षु अध्यात्मशरीर है वैश्वानर का। यथा—"य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः"। तथा "यश्चक्षुषि तिष्ठꣳश्चक्षुषो ऽन्तरो यं चक्षुर्न वेद यस्य चक्षुः शरीरं यश्चक्षुरन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः" (बृहदा० उप० अध्याय ३, ब्राह्मण ७, कण्डिकाएँ ९-१८)। शेष अभिप्राय कण्डिका ७ के सदृश है। सोम ओषधि तथा सोमरस की वड़ी महिमा वेदों में कथित हुई है। यथा—देखो ऋग्वेद (१०।११९।१।१३)]।

६. जन शार्कराक्ष्य को अश्वपति ने कहा कि हे सायवस ! किसे तुम वैश्वानर जानते हो ? उत्तर मिला कि हे राजन् ! द्यौः को ही मैं वैश्वानर जानता हूं। "हां ठीक" यह कहकर अश्वपति ने कहा कि यह द्यौः "अतितिष्ठा" अर्थात् सबको अतिक्रान्त करके स्थित हुआ वैश्वानर है। इस द्यौः को ही तुम "अतितिष्ठा" वैश्वानर जानते हो। इसलिये तुम समानों को अतिक्रान्त करके स्थित हुए-हुए हो। जो कोई इस अतितिष्ठा को वैश्वानर का रूप जानता है वह अपमृत्यु पर विजय पा लेता है, सम्पूर्ण आयु को प्राप्त करता है। यह वैश्वानर का तो मूर्धा है, सिर है। मूर्धा तुझे छोड़ देता यदि तुम न आते, या मूर्धा तुम्हें अविदित रहता यदि तुम न आते ॥६॥

[जो व्यक्ति "अतितिष्ठा"[1] द्यौः को वैश्वानर समझ कर उसकी उपासना करता है। वह स्वयं भी "अतितिष्ठा" रूप होकर सबको अतिक्रान्त करके सर्वोपरि स्थित होने का यत्न करता है। अश्वपति कहता है कि अतितिष्ठा-द्यौः तो वैश्वानर का अधिदैवत शरीर है और मूर्धा उसका अध्यात्म शरीर या अङ्ग है। यथा—"यो दिवि तिष्ठन् दिवो ऽन्तरो यं द्यौर्न वेद यस्य द्यौः शरीरं यो दिवमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः" तथा द्यौः को परमेश्वर-पुरुष का मूर्धा भी कहा है, यथा——"दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः"

---

१. अति (अतिक्रान्त करके) ष्ठा=स्था (स्थित हुई)। द्यौः,—पृथिवी, अन्तरिक्ष, आदित्य को अतिक्रान्त करके स्थित है। इन सबसे परे है, इन सबके ऊपर है।

(अथर्व० १०।७।३२), तथा "शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत" (यजु० ३१।१३) में भी द्यौः को मूर्धा, अर्थात् शिरः कह कर परमेश्वर के, शरीर या शरीराङ्गरूप में वर्णित किया है, साक्षात् आत्मरूप में नहीं]।

अश्वपति ने उन सबको कहा कि तुम वैश्वानर को अलग-अलग जानकर तदनुसार अलग-अलग भोग भोगते हो, तुम्हें पृथिवी आदि देव [कण्डिका ४-६] अंशमात्र में ही सुविदित हुए हैं। इसलिये मैं इन पृथिवी आदि के उस प्रकार के स्वरूपों का कथन करूँगा जिससे तुम्हें इन पृथिवी आदि की अंशमात्रता ज्ञात हो सके ॥१०॥

[कण्डिका १० में "प्रादेशमात्रमिव" का अभिप्राय प्रकट किया है "अंशमात्र। प्रादेश का वास्तविक अर्थ है span, अर्थात् फैलाए हाथ के अंगूठे के कोने से अन्तिम छोटी अगुली के कोने तक का परिमाण, जोकि ६ इञ्चों के बराबर होता है]।

वह अश्वपति बोला मूर्धा की ओर संकेत करते हुए कि यह मूर्धा अतितिष्ठा-वैश्वानर है; चक्षु की ओर संकेत करते हुए कि यह सुत-तेजाः-वैश्वानर है; नासिका की ओर सकेत करते हुए कहा कि यह पृथग्वर्त्मा वैश्वानर है; मुखस्थ आकाश की ओर संकेत करते हुए कहा कि यह बहुल वैश्वानर है; मुखस्थ आपः की ओर संकेत करते हुए कहा कि यह रयि[1]-वैश्वानर है; चुबुक अर्थात् ठोड़ी की ओर संकेत करते हुए कहा कि यह प्रतिष्ठा-वैश्वानर है। परन्तु यह जो अग्नि-वैश्वानर है वह पुरुष से भिन्न नहीं है। जो कोई वैश्वानर अग्नि को पुरुषविद्य और पुरुष (जीवात्मा) में स्थित जानता है वह अप-मृत्यु या मृत्यु पर विजय पाता है, सम्पूर्ण आयु प्राप्त करता है। और जो कोई इस वैश्वानर का उपदेश भी देता है उसे वैश्वानर हानि नहीं पहुंचाता, उसकी हानि नहीं होती ॥११॥

---

१. रयि का अर्थ है सम्पत्ति। मुखस्थ आपः (मुखलार, saliva) भी सम्पत्तिरूप हैं। आधिभौतिक आपः पेय हैं, और अन्नादि सम्पत्तियों को पैदा करने से सम्पत्तिरूप हैं। मुखस्थ आपः [saliva] लार (लाला) द्वारा अन्न द्रवीभूत सा होकर पेट में जाकर शारीरिक और मानसिक तथा ऐन्द्रियिक शक्तियां प्रदान करते हैं, अतः ये भी सम्पत्तिरूप हैं।

[अरुण औपवेशि आदि ६ विद्वानों ने अपने-अपने उपास्य वैश्वानर का कथन आरोह अर्थात् चढ़ते क्रम से किया, अर्थात् पृथिवी, आपः, आकाश, वायु, आदित्य, और दिव् अर्थात् द्यौः इस क्रम से। पृथिवी से दिव् तक का क्रम आरोह क्रम है, चढ़ता क्रम है। तथा पृथिवी आदि अधिदैवत अर्थात् आधिदैविकरूप हैं। परन्तु अश्वपति ने संकेत किये अवरोह अर्थात् प्रत्यवरोह क्रम से, उतरते क्रम से अर्थात् मूर्धा [प्रतिष्ठा वैश्वानर], चक्षुषी [सुततेजाः वैश्वानर], नासिके [पृथग्वर्त्मा वैश्वानर] मुखस्थ आकाश [बहुल वैश्वानर], मुखस्थ आपः [रयिवैश्वानर], चुबुक [प्रतिष्ठा वैश्वानर] इस क्रम से। यह अवरोह क्रम अध्यात्म अर्थात् आध्यात्मिक रूप है; चूंकि इसका सम्बन्ध मनुष्य के सिर के साथ है। इस प्रकार अधिदैवत और अध्यात्म घटकों में सारूप्य प्रदर्शन द्वारा अश्वपति ने यह भी सूचित किया है कि मन्त्रार्थ करते समय मन्त्रों के द्विविधार्थ किये जा सकते हैं, अर्थात् आधिदैविक वर्णनों में आध्यात्मिक अर्थ भी निहित जानने चाहियें, और आध्यात्मिक वर्णनों में आधिदैविक अर्थ भी निहित जानने चाहियें]।

विशेष वक्तव्यः—

(क) याज्ञिक दृष्टि से वैश्वानर अग्नि, अग्निचयन की अग्नि है, जोकि पार्थिव है। परन्तु अश्वपति ने वैश्वानर अग्नि को अध्यात्म-अग्नि के रूप में उपदिष्ट किया है, जोकि ब्रह्माण्ड की समग्र-नेतृ-शक्तियों की नेत्री है। अभ्यागत विद्वान् ब्रह्माण्ड के जड़-तत्त्वों अर्थात् पृथिवी आदि को वैश्वानर जानते थे। परन्तु अश्वपति नें उन्हें यह कहा कि वैश्वानर आत्मरूप है, परमात्मरूप है जोकि पृथिवी आदि तत्त्वों में व्याप्त हुआ इनमें प्रेरणा दे रहा है, और इन का नियामक है। अग्नि-वैश्वानर पुरुष[1] है, ब्रह्माण्ड-पुरी में शयन या निवास कर रहा है, "पुरि शेते वसति वा, सः पुरुषः"। तथा वह जीवात्मरूपी पुरुष में, जोकि शरीर पुरी में शयन या निवास करता है,—वसा हुआ तथा निवास कर रहा है। वह पुरुष होता हुआ भी अस्मदादि पुरुषों के

---

१. "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपस्तदर्थभावनम्" (योग १।२४,२७,२८)।

सदृश कर्म-वासना जन्य शरीर वाला नहीं, तो भी इसकी उपासना "पुरुषविध" (कण्डिका ११) रूप में करनी चाहिये, यह समझना चाहिये कि ब्रह्माण्ड उस शरीर का शरीर है और पृथिवी आदि उस शरीर के अङ्ग हैं। जैसे जीवात्मा शरीर और शरीरावयवों में प्रेरणाएँ, इच्छा और ज्ञान पूर्वक देता है वैसे परमात्मा ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्डावयवों में प्रेरणाएँ, इच्छा और ज्ञान पूर्वक दे रहा है अर्थात् ब्रह्माण्ड सात्मक है निरात्मक नहीं।

(ख) अरुण औपवेशि आदि ६ विद्वानों ने अपने-अपने उपास्य वैश्वानर को आधिभौतिक पृथिवी आदि के क्रम से कथन किया है। परन्तु अश्वपति ने आध्यात्मिक मूर्धा आदि के रूप में वैश्वानर का कथन किया है। इसमें अश्वपति का विशेष अभिप्राय निहित प्रतीत होता है। वह यह कि हे अभ्यागतो ! यदि वैश्वानर के स्वरूप को प्रत्यक्ष करना चाहते हो तो शिरोगत अध्यात्मरूप पृथिव्यादि में उस वैश्वानर का प्रत्यक्ष कर सकते हो, जिसमें कि आज्ञाचक्र, ब्रह्मरन्ध्र, तथा सहस्रार चक्र हैं। योग दर्शन में भी नासिकाग्र, जिह्वा और भ्रुकुटी आदि में चित्त की धारणा, ध्यान तथा समाधि अर्थात् सम्यक् रूप में चित्त के आधान का वर्णन मिलता है, और परमेश्वर के प्रत्यक्ष के लिये ओ३म् [प्रणव[1]] के जप का, तथा तदर्थ की भावना का वर्णन हुआ है। जप तथा तदर्थ की भावना शिरोगत अवयवों द्वारा ही सम्भव है। अतः अश्वपति ने "शिरस्" को ही ब्रह्माण्ड कह कर, इसी ब्रह्माण्ड के अवयवों में वैश्वानर के ध्यान की प्रेरणा दी है। शिरस्=ब्रह्माण्ड। मूर्धा=दिव् अर्थात् द्यौः; चक्षुषी=आदित्य; नासिके=वायु; मुखस्थरिक्तस्थान=आकाश; मुखस्थ राल=आपः; चुबुक (chin) अर्थात् ठोड़ी=पृथिवी।

---

१. देखो पृष्ठ २८६ की टिप्पणी १।

शतपथब्राह्मण परिशिष्ट (१२)

अश्वपति के राज्य की वरिष्ठता

(छान्दोग्योपनिषद्)

शतपथ ब्राह्मण काण्ड १०। अध्याय ६। ब्राह्मण १। कण्डिका १-११ में अश्वपति तथा अरुण-औपबेशि आदि ६ विद्वानों में वैश्वानर के स्वरूपविषयक जो संवाद हुआ है, उसी संवाद का वर्णन,—कतिपय परिवर्तनों समेत,—छान्दोग्य उपनिषद्, अध्याय ५, खण्ड ११ से १८ तक में भी हुआ है। प्राचीनशाल औपमन्यव, सत्ययज्ञ पौलुषि, इन्द्रद्युम्न भाल्लवेय, जन शाकराक्ष्य, बुडिल आश्वतराश्वि, तथा उद्दालक आरुणि,—ये ६ विद्वान्, "आत्मा और ब्रह्म का क्या स्वरूप है" इसे जानने के लिये केकय के राजा अश्वपति के पास आए। प्रातः काल जाग कर उनके प्रति, अश्वपति ने कहा किः—

> न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो
> नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥
>
> (खण्ड ११। कण्डिका ५)

तथा साथ यह भी कहा कि हे भाग्यशालियों! मैं यज्ञ करूँगा, जितना-जितना धन मैं प्रत्येक ऋत्विज् को दूँगा उतना-उतना आप सबको भी दूँगा, तब तक आप प्रतीक्षा कीजिये और यहां निवास कीजिये।

खण्ड ११। कण्डिका ५ का अर्थ निम्नलिखित है,—

न मेरे जनपद अर्थात् राज्य में कोई चोर है, न कंजूस स्वामी और वैश्य है, न कोई शराब पीने वाला है न कोई यज्ञकर्मों से रहित है, न कोई अविद्वान् है। न कोई मर्यादा का उल्लंघन करके स्वेच्छाचारी है, स्वेच्छाचारिणी तो हो ही कैसे सकती है।

[अभिप्राय यह कि आत्मज्ञ और ब्रह्मज्ञ शासक ही, प्रजाजनों को

उत्तम शिक्षा देकर, उन्हें सामाजिक तथा धार्मिक भावनाओं से सम्पन्न कर, सदाचारी बना सकते हैं।

श्लोक में कथित भावनाओं की तुलना, वर्तमान कालिक प्रजाजनों की भावनाओं के साथ करनी चाहिये। कदर्यः=कतक अर्यः (स्वामि-वैश्ययोः)। स्वैरः=स्व+ईर् (गतौ), स्वेच्छापूर्वक गमन करने वाला, शास्त्रों के उपदेशों के अनुकूल न चलने वाला, स्वेच्छाचारी]।

———

शतपथब्राह्मण परिशिष्ट (१३)

वेदों अर्थात् त्रयी विद्या की महिमा

तथा

मन्त्र संख्या

(कां० १०।४।२।१-३१)

अथ सर्वाणि भूतानि पर्यैक्षत्। स त्रय्यामेव विद्यायाँ सर्वाणि भूतान्यपश्यदत्र हि सर्वेषां छन्दसामात्मा[1], सर्वेषाँ स्तोमानाँ सर्वेषां प्राणानाँ सर्वेषां देवानाम्, एतद्वा ऽअस्ति, एतद्धयमृतं, यद्धयमृतं तद्धयस्ति, एतदु तत यन्मर्त्यम् ॥२१॥

उसने सब भूत भौतिक पदार्थों का पर्यवेक्षण किया। उसने त्रयी-विद्या (वेद) में ही सब भूतभौतिक पदार्थों को (वर्णित हुए) देखा, तथा इस त्रयीविद्या में, निश्चय से, सब छन्दों की, सब स्तोमों की, सब प्राणों (प्राणियों) की, सब देवों की आत्मा अर्थात् परमात्मा को (वर्णित हुए) देखा। इतनी ही तो निश्चय से सत्ता है (अर्थात् भूतभौतिक पदार्थ और आत्मा)। यह आत्मा निश्चय से अमृत है। जो अमृत है वह निश्चय से सत् है। इतना ही भूतभौतिक वह है, कि मर्त्य हैं, नाशवान् हैं।

स ऽऐक्षत प्रजापतिः, त्रय्यां वाव विद्यायाँ सर्वाणि भूतानि, हन्त त्रयीमेव विद्यामात्मानमभि सँस्करवा ऽइति ॥२२॥

उस प्रजापति ने त्रयी विद्या में वस्तुतः सब भूतभौतिक पदार्थों

---

१. अथवा "त्रयीविद्या में छन्दों, स्तोमों, प्राणों, देवताओं के स्वरूप वर्णित हैं, जोकि अमृत हैं। यतः त्रयीविद्या अमृत है अतः तन्निष्ठ छन्द आदि भी अमृत हैं, नित्य हैं। अभिप्राय यह कि त्रयीविद्या और उसके वर्णन अमृत हैं, नित्य हैं, अविनाशी हैं।

को (वर्णित हुए) देखा, अतः त्रयीविद्या का ही सशरीर रूप में मूर्त्त-रूप में, संस्करण अर्थात् संकलन करूं,—[ऐसा उसने विचार किया]।

[त्रयीविद्या अभी तक प्रजापति के निजस्वरूप में निष्ठ थी। उसने त्रयीविद्या को अभिव्यक्त करने का विचार किया। त्रयीविद्या की अभिव्यक्तता उसका सशरीर होना है, मूर्तरूप होना है, संस्करण अर्थात् संकलन होना है]।

स ऋचो व्यौहत्। द्वादश बृहती सहस्राण्येतावत्यो ह ऽर्चो या प्रजापतिसृष्टाः, तास्त्रिᳪंशत्तमे व्यूहे पङ्क्तिष्वतिष्ठन्त, ता यत् त्रिᳪंशत्तमे व्यूहे ऽतिष्ठन्त तस्मात् त्रिᳪंशन्मासस्य रात्रयो ऽथ यत् पंक्तिषु तस्मात् पांक्तः प्रजापतिः, ता ऽअष्टाशतᳪं शतानि पंक्तयो ऽभवन् ॥२३॥

उसने ऋचाओं को विभाजित किया, अर्थात् १२ हजार बृहती छन्दों में। इतनी ही ऋचाएँ थीं जिन्हें कि प्रजापति ने रचा था। वे ऋचाएँ तीसवें व्यूह [विभाग] में पंक्ति छन्दों में स्थित हुईं। चूँकि वे जो तीसवें व्यूह में स्थित हुईं, इसलिये मास की रातें तीस हैं। और जो पंक्ति छन्दों में स्थित हुईं, इसलिये प्रजापति पांक्त हुआ। वे १०८०० पंक्ति छन्द हुए।

[बृहती छन्द में ३६ अक्षर होते हैं। अतः १२००० बृहती छन्दों के अक्षर हैं(३६×१२०००=४३२०००)इतने अक्षर ऋग्वेद के हैं। पंक्ति छन्द के पांच पाद होते हैं, प्रत्येक पाद आठ अक्षरों का। अतः पंक्तिछन्द=५×८=४० अक्षरों का। अतः १०८०० पंक्तिछन्द=४०×१०८००=४३२००० अक्षरों के। इस प्रकार बृहती छन्दों या पंक्तिछन्दों में ऋग्वेद की अक्षर संख्या समानरूप है। त्रिᳪंशत्तम व्यूह के लिये देखो[1] (श० १०।४।२।१७)। अष्टाशतं[2] शतानि=अष्टाशतानि+शतं शतानि=८००+१००,००=(१०८००)।

अथेतरौ वेदौ व्यौहत्। द्वादशैव बृहती सहस्राण्यष्टौ यजुषां चत्वारि साम्नामेतावद्धैतयोर्वेदयोर्यत् प्रजापतिसृष्टं, तौ

---

१. चतुर्विंशतिमात्मनो ऽकुरुत। त्रिंशदिष्टकान्त्सो ऽत्रातिष्ठत पञ्चदशे व्यूहे, तद्यत्पञ्चदशे व्यूहे ऽतिष्ठत तस्मात् पञ्चदशापूर्यमानस्य रूपाणि पञ्चदशापक्षीयमानस्य।

२. अथवा १०८×१००=१०८००।

त्रिँशत्तमे व्यूहे पंक्तिष्वतिष्ठेतां तौ यत् त्रिँशत्तमे व्यहे ऽतिष्ठेतां तस्मात् त्रिँशन्मासस्य रात्रयो ऽथ यत पंक्तिषु तस्मात् पांक्तः प्रजापतिः, ता ऽअष्टाशतमेव शतानि पंक्तयो ऽभवन् ॥२४॥

प्रजापति ने अन्य दो वेदों के विभाग किये १२००० ही बृहतीयों में; अर्थात् ८००० यजु० और ४००० साम। इतना ही इन दोनों वेदों में है जिसे कि प्रजापति ने रचा। वे दोनों तीसवें व्यूह में पंक्तियों में ठहर गये। चूँकि वे तीसवें व्यूह में ठहर गये, इसलिये मास की तीस रात्रियां हैं, और जो पंक्तियों में ठहरे इसलिये प्रजापति पांक्त है। पंक्तिछन्द आठ-सौ, और सौ-सौ पंक्तिछन्द हुए।

[आठ सौ=८००; और सौ-सौ=१००,००=१०८०० पंक्तिछन्द। पंक्तिछन्द=४० अक्षर, अतः १०८०० पंक्तिछन्द=४०×१०८०००=४३२००० अक्षर]।

विशेष,—वर्तमान ऋग्वेद, और वर्तमान यजुः और सामवेद को मन्त्र संख्या और अक्षर संख्या बराबर है—यह अनुसन्धेय है। क्या यजुः और सामवेदों से इन की कतिपय शाखाएँ भी समाविष्ट की गई हैं ?।

ते सर्वे त्रयो वेदाः। दश च सहस्राण्यष्टौ च शतान्यशीतीनामभवन्त्स मुहुर्त्तेन मुहूर्तेनाशीतिमाप्नोत्, मुहूर्तेनाशीतिः समपद्यन्त ॥२५॥

वे सब तीन वेद "दस हजार आठसौ"×"अस्सी" अक्षरों वाले हुए, अर्थात् १०८००×८०=८६४००० अक्षरों वाले। मुहूर्त-मुहूर्त करके प्रजापति ने अस्सी संख्या प्राप्त की, और मुहूर्त-मुहूर्त द्वारा अस्सी संख्या सम्पूर्ण हुईं ?।

[प्रत्येक दिन के मुहूर्त=३०, अतः संवत्सर के मुहूर्त=३६०×३०=१०८००]।

———

शतपथब्राह्मण परिशिष्ट (१४)

अग्निचयन प्रकरण में प्रसङ्गवश निर्दिष्ट व्यक्तियों की नामावलि

१. अक्ताक्ष्यः (आह स्म), ६।१।२।२४।
२. ताण्ड्यः (आह स्म), ६।१।२।२५।
३. आषाढि सौश्रौमतेयः, ६।२।१।३७ (अषाढ तथा सुश्रोमता का पुत्र (सायण)।
४. वामकक्षायणः, ७।१।२।११।
५. शाण्डिल्यः (आह स्म), ७।५।२।४३।
६. चरकाः, ६।२।२।१।
७. चरकाध्वर्यवः, ८।१।३।७।
८. शाटचायनिः (आह स्म), ८।१।४।६।
९. स्वर्जित नाग्नजितः (नग्नजित् का पुत्र) गान्धारः, ८।१।४।१०
१०. शाण्डिल्य आचार्य और शिष्य साप्तरथवाहनि, १०।१।४।१०
११. शाण्डिल्यः वामकक्षायणाय प्रोवाच, १०।१।४।११।
१२. धीरः शातपर्णेयः, १०।३।३।१।
१३. महाशालः जाबालिः, १०।३।३।१।
१४. श्वेतकेतुः आरुणेयः, १०।३।४।१।
१५. वैश्वावसव्यः, १०।३।४।१ (ऋत्विक्)।
१६. प्रियव्रतो रोहिणायनः, १०।३।५।१४।
१७. श्यापर्णः सायकायनः (आह स्म), १०।४।१।१०।
१८. साल्वाः, १०।४।१।१०।
१९. यज्ञवचस् राजस्तम्बायन, १०।४।२।१।
२०. भारद्वाजः, १०।४।२।१९।
२१. अश्वपतिः कैकेयः, १०।६।१।२।
२२. शाकायनिनः, १०।४।५।१।
२३. श्रौमत्यः, १०।४।५।१।

२४. हालिङ्गवः, १०।४।५।१।
२५. शाट्यायनिः, १०।४।५।२।
२६. चेलकः शाण्डिल्यायनः, १०।४।५।३।
२७. कुश्रिः वाजश्रवसः, १०।५।५।१।
२८. सुश्रवाः कौश्यो गौतमः, १०।५।५।१।
२९. कोषाः (यज्ञिय सम्प्रदाय के लोग), १०।५।५।८ ?
३०. अरुणः औपवेशिः गौतमः, १०।६।१।१; १०।६।१।४।
३१. सत्ययज्ञः पौलुषिः प्राचीनयोग्यः १०।६।१।५।
३२. जाबालः महाशाल औपमन्यवः, १०।६।१।६।
३३. बुडिलः आश्वतराश्विः वैयाघ्रपद्यः, १०।६।१।७।
३४. इन्द्रद्युम्नः भाल्लवेयः, वैयाघ्रपद्यः, १०।६।१।८।
३५. जनः शार्कराक्ष्यः सायवसः, १०।६।१।९।
३६. इन नामों से अतिरिक्त, अग्निचयन के प्रवर्त्तक आचार्यों की वंशावलि (श० ३।२।१।३९) में दर्शाई हैं। ये आचार्य ५ पशुओं की हिंसा द्वारा अग्निचयन की सफलता के पक्षपाती हैं।

शतपथब्राह्मण परिशिष्ट (१५)

महर्षि दयानन्द और शतपथ ब्राह्मण

"ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका" के "भाष्यकरणशङ्कासमाधानादि-विषय" में, यजुर्वेद अध्याय २३ के ३१ तक के मन्त्रों का उद्धरण देते हुए, महर्षि दयानन्द ने प्रथम महीधर के अर्थों को देकर तदनन्तर "सत्यार्थ" दिये हैं। यह प्रकरण "अश्वमेध" विषयक है। महीधर के अर्थ अश्लील हैं। शतपथ ब्राह्मण में महीधर कृत अश्लील व्याख्याओं की सत्ता विद्यमान है, देखो (काण्ड १३। अध्याय २। ब्रा० २ से, काण्ड १३। अध्याय २। ब्रा० ६)तक। परन्तु इन्हीं स्थानों में महर्षि दयानन्द प्रदर्शित सत्यार्थों की भी सत्ता विद्यमान है। प्रतीत होता है कि महर्षि दयानन्द शतपथ ब्राह्मण में दिये अश्लील अर्थों को या तो प्रक्षिप्त मानते हैं, अथवा इस सम्बन्ध में उनका यह विचार है कि परम्परा से प्राप्त याज्ञिक व्याख्याओं को देकर,—जिनमें कि अश्वमेध सम्बन्धी अश्लील व्याख्याएँ भी अन्तर्गत हैं,—शतपथ के रचयिता ने निज अयाज्ञिक अधिदैवत, अध्यात्म, तथा आधिभौतिक अर्थ दिये हैं, जिन्हें कि महर्षि दयानन्द ने "सत्यार्थ" कहा है। इन दो दृष्टियों में अन्तिम[1] दृष्टि महर्षि दयानन्द की अभिमत प्रतीत होती है, और यह है भी ठीक। अश्वमेध प्रकरण से अतिरिक्त प्रकरणों में भी शतपथ ब्राह्मण में भ्रष्टार्थ याज्ञिक विधियों का वर्णन विद्यमान हैं। यथा—

---

१. महर्षि दयानन्द को सत्य कहने में कभी संकोच नहीं हुआ,— यह उन की जीवन घटनाओं से प्रमाणित होता है। यदि शतपथ के अश्लीलार्थक वाक्यों को वे प्रक्षिप्त मानते तो वे इस घटना को अवश्य कह देते। परन्तु ऐसा उन्होंने नहीं कहा। जिस अथर्ववेद को महर्षि परमेश्वर प्रदत्त और स्वत:प्रमाण मानते थे उसमें के "कुन्तापसूक्तों" को महर्षि ने विना संकोच प्रक्षिप्त कहा हैं। इसके लिये देखो महर्षिकृत "चतुर्वेद विषय सूची" (वैदिक यन्त्रालय, अजमेर)। तथा मत्कृत "अथर्ववेदभाष्य" के २०वें काण्ड के भाष्य में पृष्ठ ३१३वें में एतत् सम्बन्धी उद्धरण भी दे दिया है।

यजुर्वेद अध्याय १३। मन्त्र ४१ से ५० तक के मन्त्रों में "माभिमंस्थाः", तथा "मा हिंसीः" पदों द्वारा अग्निचयन में पशुहिंसा का निषेध होते हुए भी याज्ञिक-ऋत्विक् पशुहिंसापरक व्याख्या इन मन्त्रों की करके, अग्निचयन की प्रथमा चिति में ५ पशुओं के सिरों की स्थापना करते हैं। इन स्थानों में भी शतपथ के कर्त्ता ने निज अभिप्रायानुसार अधिदैवत आदि अयाज्ञिक अर्थों को दर्शाया है।

शतपथ ब्राह्मण के अश्वमेध प्रकरण में अश्लील और तद्भिन्न सत्यार्थों के होते हुए महीधर ने यजुर्वेद के भाष्य में अश्लील अर्थ ही क्यों अपनाए हैं, इसका कारण यह प्रतीत होता है कि इन याज्ञिक अर्थों में फल श्रवण हुए हैं अर्थात् इन याज्ञिक कर्मों के करने पर यजमान को रोचक फलों की प्राप्ति होती है, इस लोभ से याज्ञिक कर्मों को उपादेय समझा है। और अयाज्ञिक निर्देश याज्ञिकों को निष्फल तथा निष्प्रयोजन प्रतीत हुए हैं। महीधर ने भी इन अर्थों को अश्लील ही जाना है। तभी यजुर्वेद २३।१९-३२में अश्वमेध सम्बन्धी,ऋत्विजों में हुए पारस्परिक संवाद को, मन्त्र ३२वें की व्याख्या में महीधर ने लिखा है कि "अश्लील भाषणेन हि दुर्गन्धं प्राप्तानि मुखानि सुरभीणि यज्ञः करोत्वित्यर्थः" अर्थात् –"अश्लील भाषण से दुर्गन्ध को प्राप्त हुए मुखों को यज्ञ, सुरभि अर्थात् सुगन्धित करे"। यजुर्वेद पर उव्वट ने भी याज्ञिक व्याख्या की है। उव्वट ने भी मन्त्र ३२ की व्याख्या में लिखा है कि "अश्लील भाषणेन हि दुर्गन्धीनि मुखानि भवन्ति पापहेतुत्वात्" अर्थात् "अश्लील भाषण से मुख दुर्गन्ध वाले हो जाते हैं और पाप के हेतु अर्थात् कारण वन जाते हैं"।

———

रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा

प्रकाशित वा प्रसारित प्रामाणिक ग्रन्थ

१. **ऋग्वेदभाष्य** (संस्कृत हिन्दी वा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका सहित)—प्रतिभाग सहस्राधिक टिप्पणियां, १०-११ प्रकार के परिशिष्ट व सूचियां प्रथम भाग ३५-००, द्वितीय भाग ३०-००, तृतीय भाग ३५-०० ।

२. **यजुर्वेदभाष्य-विवरण**—ऋषि दयानन्दकृत भाष्य पर पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत विवरण । प्रथम भाग १०० रुपये है । द्वितीय भाग मूल्य ४०-०० रुपये ।

३. **तैत्तिरीय-संहिता**—मूलमात्र, मन्त्र-सूची सहित । ४०-००

४. **अथर्ववेदभाष्य**—श्री पं० विश्वनाथ जी वेदोपाध्याय कृत । ११-१३वां काण्ड ३०-००; १४-१७ वां काण्ड २४-००; १८-१९वां काण्ड २०-००; बीसवां काण्ड २०-०० ।

५. **ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका**—पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित एवं शतशः टिप्पणियों से युक्त । साधारण जिल्द २५-००, पूरे कपड़े की ३०-००, सुनहरी ३५-०० ।

६. **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-परिशिष्ट**—भूमिका पर किए गए आक्षेपों के ग्रन्थकार द्वारा दिये गए उत्तर । मूल्य २-५०

७. **माध्यन्दिन (यजुर्वेद) पदपाठ**—शुद्ध संस्करण । २५-००

८. **गोपथ ब्राह्मण (मूल)**—सम्पादक श्री डा० विजयपाल जी विद्यावारिधि । सबसे अधिक शुद्ध और सुन्दर संस्करण । मूल्य ४०-००

९. **कात्यायनीय ऋक्सर्वानुक्रमणी**—(ऋग्वेदीया) षड्गुरुशिष्य विरचित संस्कृत टीका सहित । टीका का पूरा पाठ प्रथम बार छापा गया है । विस्तृत भूमिका और अनेक परिशिष्टों से युक्त । १००-००

१०. **ऋग्वेदानुक्रमणी**—वेङ्कट माधवकृत । व्याख्याकार—डा० विजयपाल विद्यावारिधि । उत्तम-संस्करण ३०-००; साधारण २०-००

११. **ऋग्वेद की ऋक्संख्या**—युधिष्ठिर मीमांसक मूल्य २-००

१२. **वेद संज्ञा-मीमांसा**—युधिष्ठिर मीमांसक १-००

१३. **वैदिक छन्दो-मीमांसा**—यु० मी० नया संस्करण २०-००

१४. **वैदिक-स्वर-मीमांसा**—यु० मी० (नया सं०) २०-००

१५. वेदों का महत्त्व तथा उनके प्रचार के उपाय; वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं की ऐतिहासिक मीमांसा (संस्कृत-हिन्दी)—युधिष्ठिर मीमांसक। मूल्य ५-००

१६. देवापि और शन्तनु के आख्यान का वास्तविक स्वरूप—लेखक—श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु। मूल्य २-००

१७. वेद और निरुक्त—श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। मूल्य २-००

१८. निरुक्तकार और वेद में इतिहास—„ „ मूल्य २-००

१९. त्वाष्ट्री सरण्यू की वैदिक कथा का वास्तविक स्वरूप—लेखक—श्री पं० धर्मदेव जी निरुक्ताचार्य। मूल्य २-००

२०. शिवशङ्करीय-लघुग्रन्थ पञ्चक—इसमें श्री पं० शिवशङ्कर जी काव्यतीर्थ लिखित वेदविषयक चतुर्दश-भुवन, वसिष्ठ-नन्दिनी, वैदिक-विज्ञान, वैदिक-सिद्धान्त और ईश्वरीय पुस्तक कौन ? नाम के पांच विशिष्ट निबन्ध हैं। मूल्य ६-००

२१. यजुर्वेद का स्वाध्याय तथा पशुयज्ञ समीक्षा—ले० पं० विश्वनाथ जी वेदोपाध्याय। बढ़िया जिल्द २०-००, साधारण १६-०० ।

२२. वैदिक-पीयूष धारा—लेखक श्री देवेन्द्रकुमार कपूर। चुने हुए ५० मन्त्रों की प्रतिमन्त्र पदार्थ पूर्वक विस्तृत व्याख्या, अन्त में भावपूर्ण गीतों से युक्त। उत्तम जिल्द १५-००; साधारण १०-०० ।

२३. उरु-ज्योति—श्री वासुदेवशरण अग्रवाल लिखित वेदविषयक स्वाध्याययोग्य ग्रन्थ। सुन्दर छपाई पक्की जिल्द १६-००

२४. वेदों की प्रामाणिकता—डा० श्रीनिवास शास्त्री। १-५०

२५. ANTHOLOGY OF VEDIC HYMNS—Swami Bhumananda Sarasvati. ५०-००

२६. बौधायन-श्रौत-सूत्रम्—(दर्शपूर्णमास प्रकरण)—भवस्वामी तथा सायण कृत भाष्यसहित (संस्कृत)। ४०-००

२७. दर्शपूर्णमास-पद्धति-पं० भीमसेन कृत, भाषार्थ सहित २५-००

२८. कात्यायन-गृह्यसूत्रम्—(मूल मात्र) अनेक हस्तलेखों के आधार पर हमने उसे प्रथम बार छापा है। २०-००

२९. श्रौतपदार्थ-निर्वचनम्—(संस्कृत) अग्न्याधान से अग्निष्टोम पर्यन्त आध्वर्यव पदार्थों का विवरणात्मक ग्रन्थ। सजिल्द ४०-००

३०. संस्कार-विधि—शताब्दी संस्करण, ४६० पृष्ठ, सहस्राधिक टिप्पणियां, १२ परिशिष्ट। मूल्य लागतमात्र १५-००, राज-संस्करण २०-०० । सस्ता संस्करण मूल्य ५-२५, अच्छा कागज सजिल्द ७-५०

३१. अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त श्रौत यज्ञों का संक्षिप्त परिचय—इस याग में अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, सुपर्णचिति सहित सोमयाग चातुर्मास्य और वाजपेय याग का वर्णन है। १०-००

३२. संस्कार-विधि-मण्डनम्—संस्कार-विधि की व्याख्या। ले०—वैद्य श्री रामगोपाल जी शास्त्री। अजिल्द १०-००; सजिल्द १४-००

३३. वैदिक-नित्यकर्म-विधि—सन्ध्यादि पांचों महायज्ञ तथा बृहद् हवन के मन्त्रों की पदार्थ तथा भावार्थ व्याख्या सहित। सजिल्द ५-००

३४. वैदिक-नित्यकर्म-विधि—(मूलमात्र) सन्ध्या तथा स्वस्ति-वाचनादि बृहद् हवन के मन्त्रों सहित। मूल्य १-००

३५. पञ्चमहायज्ञ-प्रदीप—श्री पं० मदनमोहन विद्यासागर ५-००

३६. हवनमन्त्र—स्वस्तिवाचानादि सहित। ०-५०

३७. वर्णोच्चारण-शिक्षा—ऋ० द० कृत हिन्दी व्याख्या ०-६०

३८. शिक्षासूत्राणि-आपिशल-पाणिनीय-चान्द्र शिक्षा-सूत्र। ६-००

३९. शिक्षाशास्त्रम्—(संस्कृत) जगदीशाचार्य। ७-५०

४०. अरबी-शिक्षाशास्त्रम्—,, ,, ६-५०

४१. निरुक्त-श्लोकवार्त्तिकम्— नीलकण्ठ गार्ग्य विरचित। सम्पादक—डा० विजयपाल विद्यावारिधि। मूल्य १००-००

४२. निरुक्त-समुच्चय—आचार्य वररुचि विरचित (संस्कृत)। सं०—युधिष्ठिर मीमांसक। मूल्य १५-००

४३. अष्टाध्यायी—(मूल) शुद्ध संस्करण। ३-५०

४४. अष्टाध्यायी-भाष्य—(संस्कृत तथा हिन्दी) श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत। भाग I ३०-००, भाग II २५-००, भाग III ३०-००

४५. धातुपाठ—धात्वादिसूची सहित, सुन्दर शुद्ध संस्करण ३-००

४६ वामनीयं लिङ्गानुशासनम्—स्वोपज्ञ व्याख्यासहितम् ८-००

४७. सस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि—लेखक—श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। भाग I १०-००, भाग II १०-००।

४८. The Tested Easiest Method Learning and Teaching Sanskrit (First Book)—यह पुस्तक श्री पं० ब्रह्मदत्त जो जिज्ञासु कृत 'विना रटे संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि' भाग एक की अंग्रेजी अनुवाद है। २५-००

४९. महाभाष्य—हिन्दी व्याख्या (द्वितीय अध्याय पर्यन्त) पं० यु० मी०। भाग I ५०-००, भाग II २५-००, भाग III २५-००

५०. उणादिकोष—ऋ० द० स० कृत व्याख्या, तथा पं० यु० मी० कृत टिप्पणियों, एवं ११ सूचियों सहित। सजिल्द १२-००

५१. दैवम् पुरुषकारवार्त्तिकोपेतम्—लीलाशुक मुनि कृत १०-००

५२. काशकृत्स्न-धातु व्याख्यानम्—संस्कृत रूपान्तर। १५-००

५३. शब्दरूपावली—विना रटे रूपों का ज्ञान करानेवाली ३-००

✓ ५४. संस्कृत-धातुकोश—धातुओं का हिन्दी में अर्थ। १०-००

५५. अष्टाध्यायीशुक्लयजुःप्रातिशाख्ययोर्मतविमर्शः—डा० विजयपाल विरचित पी० एच० डी० का महत्त्वपूर्ण शोध-प्रबन्ध। ५०-००

५६. ईश-केन-कठ-उपनिषद्—वैद्य रामगोपाल शास्त्री कृत हिन्दी अंग्रेजी व्याख्या। मूल्य—ईशो० १-५०; केनो० १-५०; कठो० ३-५०

५७. तत्त्वमसि—श्री स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती मूल्य ४०-००

✓ ५८. ध्यानयोग-प्रकाश—स्वामी लक्ष्मणानन्द कृत। मूल्य १६-००

५९. आर्याभिविनय (हिन्दी)—स्वामी दयानन्द। सजिल्द ४ ००

६०. Aryabhivinaya—English translation and notes (स्वामी भूमानन्द) दोरङ्गी छपाई। ४-००, सजिल्द ६-००

६१. विष्णु-सहस्रनाम-स्तोत्रम्—(सत्यभाष्य सहितम्)—सत्यदेव वासिष्ठ कृत वैदिक भाष्य (४ भाग)। प्रति भाग १५-००

६२. श्रीमद्भगवद्-गीता-भाष्यम् पं० तुलसीराम स्वामी ६-००

६३ अगम्यपन्थ के यात्री को आत्मदर्शन—चंचल बहिन। ३-००

६४. शुक्रनीतिसार—व्याख्याकार श्री स्वा० जगदीश्वरानन्द जी सरस्वती। विस्तृत विषय-सूची तथा श्लोक-सूची सहित। मूल्य ४५-००

६५. विदुर-नीति—युधिष्ठिर मीमांसक कृत प्रतिपद पदार्थ और व्याख्या सहित। बढ़िया कागज, पक्की सुन्दर जिल्द। मूल्य ३६-००

६६. सत्याग्रह-नीति-काव्य—आ० स० सत्याग्रह के समय जेल में पं० सत्यदेव वासिष्ठ द्वारा विरचित। हिन्दी व्याख्या। मूल्य ५-००

६७. संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास—युधिष्ठिर मीमांसक कृत नया परिष्कृत परिवर्धित संस्करण। तीनों भागों का मूल्य १२५-००

६८. ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन—इस बार इसमें ऋषि दयानन्द के अनेक नये उपलब्ध पत्र और विज्ञापन संगृहीत किये गये हैं। इस बार यह संग्रह चार भागों में छपा है। प्रथम दो भागों में ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन आदि संगृहीत है। तीसरे और चौथे भाग में विविध व्यक्तियों द्वारा ऋ० द० को भेजे गये पत्रों का संग्रह है। प्रत्येक भाग—३५-००। पूरा सेट १४०-००।

६९. विरजानन्द-प्रकाश—लेखक पं० भीमसेन शास्त्री एम० ए०। नया परिवर्धित और शुद्धसंस्करण। मूल्य ३-००

७०. ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित आत्म-चरित्र—सम्पादक पं० भगवद्दत्त। मूल्य १-००

७१. ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की संस्कृत-साहित्य की देन—लेखक—डा० भवानीलाल भारतीय एम०ए०। सजिल्द २०-००

७२. भाट्टी-तत्त्वदर्शनम्—श्री पं० सत्यदेव जी वासिष्ठ। ३०-००

७३. मीमांसा-शाबर-भाष्य—हिन्दी व्याख्या सहित। यु०मी० कृत भाग I ४०-०० भाग II ३०-०० भाग III ५०-०० भाग IV ४०-००

७४. सत्यार्थप्रकाश—(आर्यसमाज-शताब्दी-संस्करण)—१३परिशिष्ट ३५०० टिप्पणियां तथा सन् १८७५ के प्रथम संस्करण के विशिष्ट उद्धरणों सहित। राजसंस्करण ३५-००, साधारण संस्करण ३०-००

७५. दयानन्दीय लघुग्रंथ-संग्रह—१४ ग्रन्थ, सटिप्पण, अनेक परिशिष्टों के सहित। ३०-००

७६. भागवत-खण्डनम्—ऋ० द० की प्रथम कृति। अनु०—युधिष्ठिर मीमांसक ३-००

७७. ऋषि दयानंद के शास्त्रार्थ और प्रवचन—इसमें पौराणिक विद्वानों तथा ईसाई मुसलमानों के साथ ऋषि दयानंद के अत्यन्त प्रामाणिक एवं महत्त्वपूर्ण शास्त्रार्थ दिये गये हैं। अनन्तर पूना में सन् १८७५ तथा बम्बई में सन् १८८२ में दिये गये व्याख्यानों का संग्रह है। उत्तम कागज, कपड़े की जिल्द। मूल्य लागत-मात्र ३०-००

७८. दयानन्द शास्त्रार्थ-संग्रह—संख्या ७७ के ग्रन्थ से पृथक् स्वतन्त्र रूप से छपा है। सं० डा० भवानीलाल भारतीय। सस्ता संस्करण २०-००

७९. दयानन्द-प्रवचन-संग्रह—(पूना-बम्बई प्रवचन)। पूर्ववत् स्वतंत्र रूप में छपा है। अनुवादक और सम्पा० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। सस्ता संस्करण १०-००

८०. ऋषि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास—लेखक—युधिष्ठिर मीमांसक। नया परिशोधित परिवर्धित संस्करण। ४०-००

पुस्तक प्राप्ति स्थान—

रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ [सोनीपत-हरयाणा]

रामलाल कपूर एन्ड संस, नई सड़क देहली